प्रवेशक

वैदिक परम्परा का मूलभूत शास्त्र 'वेद' है। जरथोस्ती परम्परा का मूलभूत शास्त्र 'अवेस्ता' है। बौद्ध परम्परा का मूलभूत शास्त्र 'पाली त्रिपिटक' है। इसी प्रकार जैन परम्परा का मूलभूत शास्त्र द्वादशाग 'गणिपिटक' है।

जैनागम १२ अगों मे विभक्त है, दृष्टिवाद को छोड कर ११ अंग इस समय उपलब्ध है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब सम्पूर्ण भी हैं? [जैसे कि आचारागसूत्र का 'महापरिण्णा' नामक अध्ययन उपलब्ध ही नहीं है। नंदीसूत्र के उल्लेखानुसार ज्ञाताधर्मकथा मे साढे तीन क्रोड़ कथाएँ होनी चाहिए, या यह उल्लेख अतिशयोक्ति हो सकता है तथापि इस समय इस सूत्र के मात्र २० ही अध्याय उपलब्ध है, जिसे देखकर यह निश्चित होता है कि उसमे सामग्री खूब ही घट गई है]

ग्रन्थ की वस्तु—

परम्परा के अनुसार सूयगडाग सूत्र का उपागसूत्र भावानुवाद रूपेण इस ग्रन्थ की वस्तु है। जिस मे मुख्यनायक परदेशी है। तदुपरान्त चित्त सारथि, भगवान् महावीर, केशिकुमारश्रमण, राजा जितशत्रु, राजा श्वेत और उस की रानी, परदेशी की रानी सूर्यकान्ता और उसका पुत्र सूर्यकान्त आदि व्यक्ति तथा अमलकल्पा नगरी, श्रावस्ती नगरी, श्वेताम्बिका नगरी, केकय देश, कुणालदेश आदि स्थलोंका वर्णन आता है, यह वृत्तान्त उस समय की नगर रचना, प्रजा-राजा की स्थिति और देशकी स्थिति के विषय मे बहुत कुछ स्पष्ट करता है।

देवलोक से सूर्याभ देव भगवान् महावीर के समीप आ

कर वादन-गीत-संगीत और नाच कूद करता है और फिर अभिनय नाट्य भी अपनी इच्छा से ही करता है। चाहे कुछ भी हो परन्तु प्राचीन काल की अभिनय विद्या-सगीत विद्या और वादनकला के ऊपर सूर्याभ देवके नाटक का प्रकरण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष प्रकाश डालता है।

जिज्ञासु का जीवन वृत्त

प्रस्तुत पुस्तक मे मूलनायक-साधक का वृत्तान्त है, यह जिज्ञासुओ में अद्वितीय और विशेष व्यक्ति है। उसकी धारणानुसार यह भी निर्धारण होता है कि यह जिज्ञासु अन्धश्रद्धा या परम्परानुगत विचारो को स्वीकार करने मे कोसों दूर भागता है, बल्कि वह तो अपने निज के अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध विषय को स्वीकृत करने मे पूर्ण हस्तसिद्ध तार्किक है।

जिज्ञासु का नाम परदेशी है जिसे एक क्रूर राजा समझा गया है। इसका मित्र कहो या अमात्य एव सारथि या बडा भाई कहो, वह चित्त नामक कल्याण मित्र है। यह राजकर्मकुशल और विशेष समयज्ञ है। परदेशी का पिता और पितामह भी उसीके समान क्रूर था और मातामही [दादी] तो धर्मनिष्ठ-श्राविका श्रमणोपासिका थी और जीव अजीव आदि तत्वो के जानने वाली थी।

परदेशी अधार्मिक-चण्ड-रौद्र-साहसिक और घातक प्रकृति का था। श्रमण-ब्राह्मण-गुरुजनका जरासा भी विनय न करता था, इतना ही नहीं बल्कि उसका अपना राजकार्य भी अंधेरे मे डालकर अधिक से अधिक काले कारनामे करने मे ही विशेष मस्तान था।

'शरीर से आत्मा भिन्न है' 'मरने के अनन्तर जन्मान्तर है' 'पुण्यपाप की प्रवृत्ति द्वारा ही सुख-दुःख का निर्माण हुआ है'

इत्यादि बातो को वह बिल्कुल स्वीकार न करता था। संभव है इसी कारण उसे क्रूर और अविनयी कहा गया हो।

उसका बड़ा भाई कल्याण मित्र चित्त सारथि परदेशी के इन विचारों के सम्बन्ध मे बाहर से तो उदासीन तटस्थ रहता था परन्तु फिर भी अपने मित्रराज को कुछ कहने समझाने का अवसर खोज निकालने की धुन मे था।

एक बार चित्त राजकीय कार्य के लिये राजधानी को छोडकर श्रावस्ती चला गया वहां श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के परम्परागत केशी नाम के मुनि का धर्मोपदेश सुनकर उनका अनुयायी-श्रमणोपासक हो गया।

चित्तने अपने गुरु भूत मुनि के सन्मुख अपने राजा की मान्यताके विषय मे परिचय दिलाया और राजा की मान्यताओं के कारण अपने देश की दुःखमय कथा कह सुनाई और इस सकटापन्न स्थिति से देश और राजा को छुड़ाया जाय और इसी लिये अपनी राजधानी मे पधारने के लिये मुनिराज को आग्रह पूर्ण निमन्त्रण देने लगा और साथ ही इतना और बढाकर कहा कि आप वहा पधार जायॅ तो राजा के सुधर जाने मे कोई सन्देह नहीं और उसके द्वारा हमारा और हमारे समस्त देश की जनता का उद्धार करने का श्रेय आपको मिलेगा।

राजा का क्रूर स्वभाव और उसके नास्तिकता पूर्ण विचारों को जान कर केशी मुनिने पहले तो चित्तके आमन्त्रण का अस्वीकार किया और उसके समर्थन मे वताया कि चित्त! जिस वनमे वहुत से श्वपद जीव रहते हों वहां रहने मे उनकी क्या कुशल है? इसी प्रकार क्रूर राजा के शासन का व्यवहार वहां आने के लिये बाध्य करता है तब कहो वहा जाने मे क्या श्रेय है?

चित्त—अन्तर्यामि-गुरो ! आप जैसे देवानुप्रिय का परदेशी राजा से क्या कार्य है ? राजधानी मे और बहुत से धार्मिक महानुभाव बसते हैं। वे सब आप का खूब ही आदर करेंगे, आपकी खाद्य-पेय आदि विपुल-सामग्री द्वारा सेवा करेंगे ।

चित्तके इस सुव्यवस्थित एवं आग्रहपूर्ण निमन्त्रण को परख कर केशी मुनि ने फर्माया कि यदि यही बात है तो यथा समय विचरते हुए आ भी सकते हैं ।

यह अत्यन्त प्रसन्न होकर सीधा अपनी राजधानी में आया, इसे अपने गुरुदेव पर पूर्ण विश्वास था इसलिये आते ही अपने बाग के मालियो को सब बातें समझा दीं कि देखना मेरे गुरु यहां पधारेंगे उन्हें निवास करने के लिये बाग मे उत्तम से उत्तम स्थान देना और सब प्रकार से उनका विनय तथा सत्कार करना एवं वन्दना नमस्कार करना तथा उनके पधारने की सूचना भी मुझे तुरन्त करना ।

कालान्तर मे महाराज भी विचरते विचरते वहा पधार गये, चित्त ने उनका खुले दिल से पूर्ण सत्कार किया और प्रार्थना की कि मैं आप की सेवा मे राजा परदेशी को किसी न किसी बहाने से लाऊंगा तो अवश्य, फिर आप धर्म अधर्म की शिक्षा देना, उसे समझाते समय किसी प्रकार की शंका न करना । जिस प्रकार वह समझकर सन्मार्ग पर आसके उसी प्रकार के शब्दो का प्रयोग करने मे जरा भी संकोच न करना । कडवे मीठे शब्दो का व्यवहार करने मे बिल्कुल न अटकना, मैं साथ ही रहूंगा ।

चित्त को तो पहले से ही इच्छा थी कि श्रीकेशी मुनि और राजा परदेशी का समागम हो तो राजा की वृत्तिमें कोमलता आने से धार्मिक विजय देश की प्रजा भी सुख पायगी ।

समय पाकर एक दिन चित्त ने कहा कि राजन् ! आपके यहां कंबोज देशके चार घोड़े आये हुए हैं जिन की अब तक परीक्षा नहीं की गई है वह कब ली जायगी ?

राजा—चित्त ! आज ही करिये न, चल तैयार हो और उन्हें जोत कर रथ ले आ।

दोनों रथमे बैठ कर अश्व परीक्षा के लिये बाहर निकल पड़े। चित्तने सारथि बनकर रथको पूरे वेग से दौड़ाना आरंभ किया, बहुत दूर जा निकले। राजा तो थक भी गया और गर्मी तथा धूल मे भर कर घबरा गया। इधर इसने भी रथको वापस मोड़ लिया।

चतुर और समयज्ञ चित्तने विश्रान्ति के लिये वही बाग पसंद किया जहा केशी मुनि अपना व्याख्यान कर रहे हैं।

बगीचे मे घोड़ों को विश्राम दिया वे चारा खाने लगे और वे दोनों विश्राम पाने लगे। इतने मे राजा परदेशी के कानों मे केशीमुनि की गंभीर ध्वनि पडी और किसी विलक्षण रूप मे जाकर टकराई।

राजा बुड़बुडाया, ये मोडे इतने नजदीक है कि हम तो विश्राम पाने आये थे फिर भी ये लोग हमे आराम से नहीं बैठने देते नहीं तो यह कोलाहल किस का हो रहा है ?

चित्तने नम्रता से अपने प्यारे राजाको मुनि का परिचय कराया और उनकी विद्वता की कुछ प्रशंसा भी की। सरल प्रकृति की प्रधानता के कारण राजा मुनिओं से मिलने के लिये बड़ा ही उत्सुक होगया तथा दोनों जने मुनिराज के पास आ गये।

राजा ने आत्मा-जन्मान्तर और पुण्य पाप के विषय मे अपनी तीव्र जिज्ञासा मुनिके सन्मुख प्रगट की और बोला कि—

श्रमणायुष्मन् ! मैंने आत्मा आदि तत्वों की शोध करने और

उन्हें प्राप्त करने के लिये बहुत से प्रयोग किये है लेकिन अब तक मै उनमे निष्फल ही रहा हू और मेरे अपने किये गये अनेक प्रयोगों से इस निर्णय पर आया हू कि आत्मा नहीं है। जन्मान्तर नही है और पुण्यपाप भी नहीं है। इस विषय मे आप नवीन प्रयोग बतायेंगे या अपने विचार प्रगट करें तो बड़ी कृपा होगी।

श्रीकेशीमुनि राजा की प्रबल जिज्ञासा और आत्म शोधकी तीव्र अभिलाषा को समझ गये।

राजा की स्पष्ट बातो के द्वारा मुनिराज ने उसके मानस की स्थिति को भी ताड लिया। "यह राजा गतानुगतिक नहीं है" "हॉ मे हॉ करनेवाला भी नहीं है" बल्कि शुद्ध परीक्षा द्वारा उत्तम प्रयोगो द्वारा वस्तु तत्व की शोध करने वाला सत्यका ग्राहक है, पूर्ण जिज्ञासु है, यह उन्हे पूर्ण विश्वास होगया।

राजा के ऊपर क्रूरता और अधार्मिकता का भी आरोप है लेकिन वह मात्र अपराध ही है, दृष्टि भेद का परिणाम है, जैसे कोई शोधक अपने जीवन की शुद्धिके लिये अथवा अपने निजके स्वीकार किये हुए मार्ग की परीक्षा द्वारा पूर्ण अनुभव करने के लिये नाना प्रयोग करता है, अपने अथवा अन्यके ऊपर अनेक क्रियाओं की आजमाइश करनेवाला शोधक गतानुगतिक लोगों की दृष्टिमे अपनी धुनका पक्का और क्रूर ही समझा जायगा। इसी भाँति यह राजा भी क्रूर समझा जा सकता है यह अभिप्राय मुनिराज ने राजाके विषय मे निश्चित किया।

आत्मा की शोध के लिये जो जो प्रयोग राजा के द्वारा किये गये थे वे सब मुनिराज ने लक्ष्य देकर सुन लिये, उन प्रत्येक प्रयोगों में राजा की प्रखर तर्क शक्ति का बल था, यह भी उनकी

समझमे आगया।

मुनिराज ने राजा से कहा; परदेशी ! तूने श्रम तो खूव किया है परन्तु तेरा यह श्रम आरंभ से ही विपरीत मार्ग की ओर ले जाने वाला होने के कारण तुझे इसमे सन्तोष या शान्ति न मिली यह उचित ही है। राजा के प्रयोगों के सबंध मे चर्चा करते हुए किस प्रयोगमे क्या२ दोप था यह सब मुनिराज ने स्पष्ट कह बताया और अन्त मे कहा कि परदेशी जिस वृक्षके नीचे हम तुम बैठे है उस वृक्ष के पत्तो को कोन हिला रहा है? अपनी ओर धूल कौन उडा रहा है? क्या तू पत्तों के हिलाने वाले या धूल उड़ाने वाले को देख सकता है?

परदेशी—महाराज! उन्हे हिलाने वाला पवन है किन्तु मैं उसको देख नहीं सकता।

मुनि—परदेशी! वायु तो रूप रस गध स्पर्श और शब्द वाला है तो भी हम तुम मात्र आखों से नहीं देख सकते, तव रूप रस गध स्पर्श और शब्द से पर और आकार रहित अमूर्त आत्मा को हम तुम मात्र आखों से किस प्रकार देख सकते है? आत्मा आखें या किसी अन्य इन्द्रिय का विपय नहीं है अत. उन्हे ढूढने के लिये किए गये तेरे भौतिक प्रयोग एक दम निकम्मे हो जायं तो इसमे क्या सदेह है? भाई! यह तो मात्र एक अनुभव गोचर है।

पर हाँ यह ठीक है कि तूने जो प्रयोग उस चोर के शरीर पर किये थे यदि उन्हें अपने शरीर पर अजमाता तो कदाचित् तुझे आत्मा की ठीक प्रतीति होती। लेकिन अब भी समय है, इन्हीं प्रयोगों को तू अपने व्यक्तित्त्व-इन्द्रिय-मन शरीर और संकल्पों के ऊपर अनुभव करेगा तो तुझे 'आत्मा है' यह विश्वास हुये विना न रहेगा।

परदेशी ! आत्मा की पूर्णतया प्रतीति के लिये मै अपने ऊपर भी कठोर से कठोर प्रयोगों का अनुभव कर रहा हूं जिससे मुझे आत्मा की प्रतीति तो है परन्तु अब तक उसकी पूर्णप्रतीति-आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार और बहुत से कडे प्रयोगों की राह देख रहे हैं। इन सब वज्र प्रयोगों की कसौटी से अप्रशुद्ध रीति से पार हो जाऊंगा तब ही मैं पूर्ण आत्मा का अनुभव कर सकूंगा।

परदेशी ! आत्मा का अनुभव पाने के लिये और उसका सम्पूर्ण साक्षात्कार करने के हेतु तुझे अन्तर्मुख होना पड़ेगा। रूप रस गंध स्पर्श और शब्द जन्य सुखों के पाने को मन और इन्द्रियें वेग से दौड रहे हैं उनको तुझे संयम मे रखना पड़ेगा। यह स्थूल शरीर सुख पाये कुम्हला न जाय इसके लिये जो तू हजारों प्रयत्नों का सेवन कर रहा है और उन्हें सफल करने के अर्थ हजारों मनुष्यों की शक्ति का उपयोग कर रहा है उन सबको तुझे दूरसे प्रणाम करना होगा।

आत्म सुख आत्मा द्वारा ही अनुभूत होता है। आत्मा अपने सुखसे सन्तुष्ट है। "आत्मन्येवा ऽऽत्मना तुष्ट." इस सिद्धान्त का तुझे जीवन व्यवहार मे सावधानी से आचरण करना होगा।

सच तो यह है कि हम सब शरीर-इन्द्रिय-मन और संकल्पों द्वारा समुत्पन्न सुख मे सन्तोष पाकर और उन्हीं सुखों को परमसुख मानकर उनके पीछे पड़ गये है और उस मिथ्या प्रयास के कारण ही आत्म सुखका उत्तम स्वाद नहीं चक्खा जा सकता।

जिस भाँति एक व्यापारी व्यापार के लिये देशान्तर जाता है, उस समय वह इतनी अधिक आशा रखता है कि मैं लखपति बन जाऊं। मार्ग मे जाते समय उसे एक निधान प्राप्त होजाता है और जाने में वह सात हजार मोहरें पाकर वापिस लौटता है तथा

उसके द्वारा सन्तुष्ट होकर जीवन निर्वाह करे तब उसे दूसरा व्यापारी यह शिक्षा देता है कि भाई ! इन हजार मुद्राओं को व्यापार में रोक कर उसमे से दश गुणी या सौ गुणी मोहरें और कमाले परन्तु वह साहस रहित ऐसा करने मे भयभीत होता है और प्राप्त मुद्राएँ कहीं चली जायगीं तो फिर क्या होगा ? यह समझकर साहस करने मे समर्थ नहीं होता। स्वयं अनेक साहसिकों को इसी प्रकार लखपति बनते प्रत्यक्ष आंखों से खुद देखता है तो भी उसका पूर्वग्रह नहीं छूटता। इसी प्रकार हम भी शरीर-इन्द्रिय-मन और संकल्पों से होने वाले सुखों मे फँसे पडे हैं। जिससे उस सुखको छोड़कर या उस पर अंकुश रखकर अन्तर्मुखी नहीं हो सकते। पूर्व ग्रहजन्य सुखों को छोड़कर हम अपनी अवस्था को अशरण दुःखी और कष्ट मय होने की कल्पना करते हैं।

परदेशी ! जहा तक हम अपने पूर्वग्रह की उस गाठ को भेद कर अगाड़ी न बढ़ जायें वहां तक आत्मा के द्वारा किये गये अनुभवों से अपने सब प्रयास निरर्थक है। साहस किये विना भव बंधसे छुटकार नहीं होगा। 'मुक्ति सिरके साटे है' 'यही न्याय घटित होता है अतः तेरे लिये अब यही प्रयोग करना अवशिष्ट है और मैं तेरी जिज्ञासा और आत्मानुभव संबंधी उत्सुकता से जान सका हूं कि अन्त मे विजय तेरी है।

परदेशी ! इन प्रयोगों को बहुत से लोग करते भी हैं परन्तु उनमें कुछ तो साधनों मे ही अटक पडते हैं। बहुत से बाहरी वृत्तिमे फँसे हैं। बहुतसों को प्रतिष्ठा और मान बडाई ने ही रोक रक्खा है। इसलिये तुझे इन प्रयोगों को करते हुए सावधान रहना आवश्यक है।

तात परदेशी ! तुझे अकारादि क्रम से आरंभ करना है, हताश

होने या घबड़ाहट का कोई कारण नहीं है । तूने अब तक इन्द्रिय मन और संकल्पो के घोड़े खूब ही दौड़ाए है जिसके लिये किसीके सुखकी पर्वाह नहीं की यह ठीक नहीं किया । अब तुझे इन घोड़ों को अंकुश मे रखना होगा । सर्वथा यह इष्ट है कि इन घोड़ों का वेग अब तो बिल्कुल रुक जाना चाहिये । पर यह सहसा कब होने वाला है यह मैं अपने अनुभव से स्वय समझता हूं इसी लिये तुझे क्रमपूर्वक इस प्रवृत्तिमे प्रवेश करने की सूचना करता हूं ।

पहले तो तुझे अपने पूर्वग्रह शनै शनैः छोडने होंगे, अहिंसा-सर्वप्राणप्रेम की वृत्ति का अभ्यास करना होगा, अत एव प्रथम तो तुझे अपने समीप मे रहने वाले मानवों के सुख दु.खको जानने का प्रयत्न करना होगा और उनके जीवन विकास को रोकने वाले दुःखों को मिटाने के लिये विघ्न रहित भरसक उद्यम सेवन करना होगा तथा उनके लिये यदि तुझे अपनी आहुति-बलि भी करनी पड़े तो पीछे न हटना, यदि एक बार भी अर्पणता करदी तो तुझे आत्मा की झांकी अवश्य होगी यह निश्चय रख और फिर ज्यों ज्यों आत्मभोग मे वृद्धि होगी त्यों त्यों तुझे आत्मसंबंधी प्रयासों मे अधिकाधिक सफलता प्राप्त होगी ।

श्रीकेशी मुनिने जो कुछ समझाया उस सबको राजा परदेशी ने यानपूर्वक-बड़ी सावधानी से सुना और उसका मनन करते हुये अपना तन जीवन [illegible] अभ्यास मे लगाने के लिए उत्साहित हो उठा ।

राजा की अपनी सरल प्रकृति और आत्मा को पाने के अर्थ [illegible] उत्कंठा होने के कारण यह सब नवीनसा प्रतीत होने लगा । मन है [illegible] निजपद को त्याग देता है यह सद्गुरु के चरण का सेवन करना इसका परमार्थ और निजपद का लक्ष्य प्राप्त करना है । अतः सद्गुरु के योगसे स्वच्छन्दता को रोकना आरंभ

करे और फिर अन्य उपायों का उपयोग करे तो उसके व्यापार मे एक प्रकार से दुगने होजाते हैं। अभिमानादिक शत्रुओं को अपनी निरंकुशता होते हुये कभी नहीं मारा जा सकता वल्कि ये तो सद्-गुरु के शरणमे अल्प प्रयास से भी नाश किये जा सकते हैं।" इस भाव को लक्ष्य मे रख कर राजाने साधना का आरंभ किया और गुरुराज भगवान् की आज्ञानुसार अपने निजके ऊपर अभ्यास करना आरंभ किया। साधना को मंगल मय करने के लिये पहले तो राजा परदेशी ने अपने गुरुदेव केशीमुनि के चरणों मे क्षमा की प्रार्थना की। राजाने भरी सभामे कहा कि इन पवित्र मुनिराजों का मैंने अक्षम्य अविनय किया है इसके वदले मे ये महात्मा मुझे क्षमा प्रदान करने की कृपा करें यह मेरी विनती है।

इसके अनन्तर राजाने अपनी समस्त सपत्ति के चार समान भाग किये, जिसमे एक भाग की दान के लिये योजना की और दानधर्म-दानपारमिता को आरंभ करके राजा अपनी साधना मे लीन होगया।

यह इतना अधिक साधनामय बनने लगा कि उसे अपनी भोग साधनरूप रानी की भी विस्मृति होने लगी। इतना ही नहीं वल्कि रानी ने राजा को विष दे दिया और उसे राजाने अच्छी तरह जान भी लिया फिर भी उसने अपना एक रोम तक न फरकने दिया। उसे अपने देह की इतनी अधिक विस्मृति होगई कि देह का नाश करने वाली रानी के लिये उसके मनमे जरासा भी दुर्भाव न हुआ वह तो अपने आत्मभाव मे ही मस्त था और "आत्मन्येवात्मना तुष्ट" की परिस्थिति मे पहुँचते पहुँचते सूर्याभ-सूर्य के समान चमकने वाली दिव्य स्थिति को प्राप्त हुआ और अन्त मे विदेह हो कर ज्योतिमे ज्योति की दशा का अनुभव करेगा।

गतानुगतिकता, अंधश्रद्धा, परिक्षणशक्तिका विरोध या अभाव, नवीन नवीन प्रयोगों को विवेकपूर्वक न करनेका साहस न होना, पूर्वग्रहका अत्यधिक पक्षपात, किसी भी प्रकार के विवेक के बिना स्थितिमूढता का होना, जिज्ञासा का बिल्कुल न होना, तर्कशक्ति का दुरुपयोग, आडम्बर प्रियता विकास को दबा देने की वृत्ति, शांत करने के लिये मन की निर्बलता को प्रगट करने का अशक्ति अथवा प्रगट करते हुए किसी प्रकार के भयकी आशंका इत्यादि अनेक दुर्गुण मुमुक्षु जिज्ञासु के जीवन विकास का संहार कर डालते हैं।

इन ही सब बातों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत पुस्तक मे आध्यात्मिक वैज्ञानिक-तार्किक दृष्टि से गवेषणा पूर्वक किया गया है। तथा श्री-केशीमुनिराज और राजा परदेशी के संवाद मे मेरे पूज्य गुरुदेव पुष्कर भिक्खु ने जो नवनीत दिया है उसे मैंने संक्षेप मे परिज्ञात किया है। यह पुस्तक गुर्जर भाषा मे परिलिखित किसी जगह रद्दीमे मुझे प्राप्त हुई थी उसे मैंने गुरुदेव के सन्मुख रख उसका हिन्दी भाषा मे अनुवाद करने की प्रार्थना की उत्तर मे स्वीकृति प्रदान की और कुछ ही समय मे उस रद्दीमे रहने वाली रत्नमं-जूषा को मार्मिक हिन्दी भाषामें अलंकृत कर दिया तथा पूज्य गुरुदेव ने ग्रन्थमे आये हुये पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या परिशिष्ट मे कर के मानो इस ग्रन्थ को चार चांद लगा दिये है।

जैन धर्म आस्तिकता का प्राणभूत है, धर्म के नाम पर नाच कूद करने वालों के सम्बन्ध मे आगमतत्व क्या है? मुनिराज किसी समय अनेक कठिनाइयों को जीत कर किस प्रकार मैत्री-वृत्ति से आत्माओं को धार्मिक संस्कारों से मंडित करते थे? पवित्र-निर्मल तथा महाज्ञानी गुरु की सत्संगति मे मुमुक्षु की जिज्ञासा किस प्रकार से शान्त होती है? इत्यादि विषयों को खूब ही स्पष्ट और

मार्जित किया है। क्षीर नीर विवेकी इससे अनेक शिक्षाएँ लेने का प्रयत्न करेंगे।

इसके सात अध्याय प्रथम भाग मे प्रगट हो चुके हैं और बाक़ी का सब अंश दूसरे भाग मे आपके हाथ में है ही। पाठक गण! इसे आद्योपान्त पढ जाइये। प्रस्तुत पुस्तक जैन साहित्य के गौरव की वृद्धि करने वाली है यह निस्संदेह है।

सुमित्र

सहायक

प्रस्तुत पुस्तक को प्रमाणादिकों से समृद्ध करने मे जिन पुस्तकों का अवलोकलोकन करके ज्ञानावरणक्षयोपशम एवं स्वानुभव द्वारा जिनके भाव-प्रमाण और आशय लिये हैं उनका विवरण इस प्रकार है।

रायप्रसेणी सूत्र हस्तलिखित, रायप्रसेणी सूत्र पं० बेचरदास वाला, सुभाषित रत्न सन्दोह, देवचंद चौवीसी, आनन्दघन चौवीसी, स्थानांगसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, नन्दीसूत्र, आचारांगसूत्र, विशेषावश्यक, उत्तराध्ययनसूत्र, उपासकदशांगसूत्र, सूयगडांगसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, समयसार नाटक, सम्यक्त्व छप्पन्नी, बुद्धचर्या, श्रीमद्राजचन्द्र, चिदानन्द, नवपदार्थज्ञानसार, पटखंडागम जय धवला टीका, स्वतन्त्रता के चार द्वार,

इन सब पुस्तकों के लेखक एवं अनुवादकों का एक सहयोगियों के नाते से इनके साथ को नहीं भुलाया जासका। तदुपरान्त प्रत्यक्ष या परोक्ष मे जिनजिन महाशयों ने प्रोत्साहन किया है उन सबका उल्लेख करना भी क्योंकर विस्मृत कर सकूं?

सम्पादक—



नमो त्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त-महावीरस्स

परदेशी की प्यारी बातें

द्वितीय भाग

अथाष्टमोऽध्याय:

भगवान् गौतम चार ज्ञान के स्वामी हैं, ज्ञान नामक गुण व्यापक स्वरूप है, उसे प्रकाश में लाने की अवस्था के पांच प्रकार हैं। जिसमें निरावरण-निष्कलंक-केवलज्ञान नामक पांचवें गुण के बिना पहली चार संख्या के गुणों को छद्मस्थ कहते हैं। ×× गौतम स्वामी अभी स्वयं छद्मावस्था में हैं अतः पूछते हैं कि किस करणी के फल से ऐसा उत्तम महान् देवपद प्राप्त किया है ? छ बोलों की वक्तव्यता सूर्याभदेव की भविष्य अवस्था से है, और वर्तमान में जो इन ऋद्धिओं का उपभोग कर रहा है वह किस आचरण का फल है। गौतम स्वामी इसी देह से केवलज्ञान पाकर शारीरिक दशा पूरी करके सहजानन्द-सिद्धपद प्राप्त करने वाले हैं, इनका अपना यह अनुभव है। इसी से गौतम स्वामी पहले प्रश्न में पूछते हैं कि क्या इसने सुपात्र को दान दिया है ? जिससे उसके फल में ऐसी पदवी मिली। दान की कोई ऐसी भी विधि है कि जिससे तेजस्वी सूर्याभ जैसी पदवी मिले। अर्थात् गौतम स्वामी के मन में यह बात पैदा हुई कि ऐसी कोई सुपात्र दान देने की विधि अवश्य है कि जिससे ऐसी सम्पत और ऋद्धि मिल सकती है।

अतः पूछते हैं कि क्या दान किया है ? जिससे उत्तम फल पाकर आत्मा उज्वल हो गया और उद्घाटन के स्थान मे पुण्य का उपार्जन करना रुक गया। ×××

'जिस भाव से जिस बंध का उच्छेद होता है उस भाव से पुण्य का बंध नहीं होता है, जिस भाव से या आत्मा के गुण से पूर्व कर्म का क्षय होता है उसे प्रभु निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार उनके कम्बल मे से पानी ढल कर निकल जाता है और झड़कर वह सूख जाता है। उसी भांति कर्म के आवरण से आत्मा गीला होगया और सूखने का समय आने पर कर्म के परमाणु रूप आवरण ढलक कर झड़ जाते हैं तब उनका नवीन बंध नहीं होता और नियम से निर्जरा ही होती है। छुरी-चक्कू आदि जब शाण पर चढ़ाये जाते है तब जर निकल कर अलग झड़ जाता है, और जर के अभाव मे उज्ज्वलता बढ़ने से प्रकाश हो जाता है। इसी तरह आत्मा के अन्तर्गुण श्रेणि मे पहला कर्म रज उखड़ते ही उज्वल गुण प्रगट होकर चमक उठते है। ठीक जब निर्जरा धर्म आरम्भ होता है तब उस समय पुण्य-पाप नहीं रहने पाते। लेकिन जिन भावों से पाप तथा पुण्य की क्रिया होती हैं उन भावों से उस समय कर्म की निर्जरा नहीं होती। अतः गौतम स्वामी ने दो प्रश्न पूछे हैं एक उज्वलता का और दूसरा सुपात्र दान का यानी क्या सुपात्र दान देने से ऐसी सम्पत् पाई है ? ××+

चार प्रकार के दान

आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान, अभय दान, आदि को जो संसार में सब से अच्छे चरित्रशील भद्र-सरल तथा शान्त सन्तोषी जीव हों उन्हें दान करना सुपात्र दान धन्यार्ह है।

सब को अभेद रूप से देना जघन्य दान है, जो ब्रह्मचर्य त्याग वैराग्यादि का पालन करके गृहस्थाश्रम का धर्म पालन कर रहे हैं उन्हें दान करना मध्यम सुपात्र कहलाता है, और जो निर्दोष वृत्ति से निर्दोष आहार पानी स्वीकार करता है, अपने लिये किसी ने आहार तैयार किया है उसे ही निर्दोष आहार समझकर देना उत्कृष्ट सुपात्र दान है। ×× गौतम स्वामी पूछते हैं कि प्रभो! ऐसे सुपात्र को पहचानकर दान किया था? क्योंकि आत्मिक उज्वलता के साथ साथ पुण्य का उपार्जन भी किया है। क्या इस प्रकार पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन सूर्याभ देव ने किया है। महावीर प्रभु कहते थे कि मुहादाई (मुधादाता) जीव जगत् में दुर्लभ्य हैं, यथाशक्य देकर फलकी इच्छा न रखने वाला मुधादाता कहलाता है, ऐसे परोपकारी दुर्लभ्य हैं, परन्तु लेने वाले कठिनाई से मिलते हैं, क्योंकि उनको भी सब कुछ पालन करना पड़ता है। अर्थात् किसी भी प्रकार के फल की इच्छा के बिना सिर्फ ज्ञानी और धर्मी जीव जिनका कि निवृत्ति प्रधान जीवन है, तथा अपने शरीर से सदैव आत्म धर्म का पालन किया करते हैं ऐसे पुरुषों के शरीर की सहायता के लिये हमारा अन्न उन्हें प्राप्त होकर उनके संयम में सहायक होगा तब हमारा सब कुछ सफल है। ऐसी वृत्ति से देने वाला मुधादाता समझा जाता है और धार्मिक जीवन बिताने वाले किसी से कुछ न मांग कर निष्काम धर्म पालन करते हैं उन के संयम-साधन में सहायता दो अतः गृहस्थ जीवन बिताने वाले को कुछ भी देना चाहिये। क्योंकि मुझसे तो कुछ भी परमार्थ नहीं बन पड़ता और ये सब कुछ करते हैं इस लिये मेरे सात्विक अन्न से इन्हें कुछ आधार मिले तो इसमें कुछ मेरा भी कर्तव्य पालन होता है। इस भांति के बुद्धिमान दाता जगत में गिनती के

ही है। कहा भी है कि—*

जिसका जीवन मुहाजीवी यानी आशीर्वाद दिये बिना ही आहार लेने का है (देने वाले की प्रशंसा करने वाले तो भाट चारण होते है) जिसे अपना निर्दोष जीवन बिताना है मात्र संयम के लिये ही शरीर को टिकाये रखना है। ऐसे मुनिकी देह रक्षा के निमित्त जो प्रदान करता है इस प्रकार यह जोड़ा जुड़ना कठिन है। निर्दोष वृत्ति से लेने वाला और निर्दोष वृत्ति से देने वाले की आत्म धर्म भावना बढ़ती है परन्तु इतना विशेष है कि निर्दोष मुनि दाता के संसार को बढ़ाने वाला आशीर्वाद कभी न देगा। ×××

आचारांग सूत्र के लोकसार नामक पांचवें उद्देश की छठवीं गाथा मे प्रभु फर्माते हैं कि आज्ञा से बाहरका उद्यम न करो, और आज्ञा को जानने के अनन्तर प्रमाद न करो। जैसे किसी मनुष्य को पांच कोश जाना है, लेकिन वह कहीं बैठ गया है तब आपही कहिये वह पांच कोश कैसे पहुंच सकेगा। और उसके साथी को भी वहीं जाना है यानी पूर्वमें जाना है किन्तु उसकी बजाय वह पश्चिम मे कदम बढ़ाता हुआ चल रहा है और दूसरे को कहता है कि प्रमाद न होने पावे। क्योंकि प्रमाद करने से मनचाहे स्थान पर नहीं पहुंच सकता और यह भी कहता है कि आज्ञा से बाहर का उद्योग न होना चाहिये यानी तुम्हारी गति उलटी न हो। आत्मा को समझे विना ही दौड़ धुप मे न होनी चाहिये। तथा आत्म धर्म को जानने के बाद प्रमाद न करना चाहिये अतः आज्ञानुसारी

* दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइं १००
दशवैकालिक सूत्र

पुरुष निर्दोष जीवन विताते हैं और तुमको सांसारिक आशीर्वाद नहीं दे सकते कि तुम धनवान् और पुत्र परिवार युक्त हो जाओगे क्योंकि वे स्वयं जो निर्लोभ और निष्काम हैं । त्यागी पुरुषों ने संसार परिभ्रमण दुःखकारी समझ कर छोड़ा है तब दूसरों को भी पापमय संसार छुड़ाने का ही उपदेश करते हैं रुलाने का नहीं क्योंकि जिसने काले सांप को संडासी से पकड कर अपने घर से बाहर निकाल फेंका हो वह दूसरे के घरमे क्योंकर फेंक सकता है ।

संसार के बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि हमें तो इस समय ऐसे साधुकी आवश्यकता है जो पैसे कमाने का मार्ग बताये पर यदि त्यागी के हृदय में दुनिया की लक्ष्मी का महात्म्य समा जाय तो समझलो कि उन्होंने आत्म धर्म का रहस्य नहीं समझा है । इन पक्तियों ने बल पूर्वक यह सिद्ध किया है कि फल की इच्छा न रख कर दान करने वाले दाता का मिलना अति दुर्लभ है तथा किसी की चाह चापलूसी न करते हुये निर्दोष एवं प्रासुक वस्तु लेकर जीवन निर्वाह करने वाले और भी दुर्लभ हैं ।

उनकी गति क्या होगी ?

तो देखो, जहां उत्पन्न हो सकता हो वहां तो बोने की चेष्टा ही नहीं करते और जहां बोते हैं वहां जल जाता है। जो इतना पतित है उसका माल हरामी चोर और ठग खाते हैं।

भाव यह है कि जिसे आत्मा के गुण की आवश्यकता नहीं है उसे दान करने जाय तो उत्पन्न होने का स्थान उसे नसीब न होगा

औषध दान

आहार से एक वक्त की सांसत मिटती है किन्तु औषध से अधिक दिन तक आपत्ति पास को भी नहीं फटक पाती और यदि भाव से विधि पूर्वक पात्र जीवों को औषध दान दिया जाय तो उसके परिणाम मे उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

अभय दान

मानलो किसी धर्मी जीव को उपसर्ग या दुःख आ पड़ा है और वह जीव सरल और समभावी है परन्तु भक्ति करने वाले उसकी चिन्ता जनक अवस्था को देख कर चुपचाप क्यों कर बैठ सकते है। बहुत से यह अर्थ निकालने लगते है कि ये महोदय समभाव के गुण से युक्त हैं, क्षमा करने वाले हैं, चाहे कोई मारे दुःख दे, छेदन, भेदन करे तब भी शांति पूर्वक सहन करते है, यदि हम इनके बीच मे पड़ेंगे तो इनका समभाव अटक जायगा, परन्तु अपना और समभावी सुपात्र का स्थान नहीं पहचानता। अपने लड़के पर कोई मार पीट करने आता है तब आप दौड़ धूप करने लगता है, पुलिस में रिपोर्ट करने भागता है, पानी की तरह रुपया खर्च करता है, कारण उस पर राग है, प्रीति है, क्रोध और द्वेष है, सब कुछ है परन्तु जब धर्मी जीव की मदद करने का समय आता है तो क्षमा के गुण को उत्पन्न करने का बहाना कर

बैठता है, इसलिये उठकर उसकी सहायता नहीं करता, किन्तु यदि कोई उसकी स्त्री को ले भागे तो तुरन्त आधी रात को कड़ी सर्दी मे भी उठ कर दौड़ेगा। क्योंकि उसका जीवन उसको प्यारा लगता है परन्तु निर्दोष और सुपात्र पुरुषके जीवनकी नौका डगमगाते समय आप वीतरागी बनने का ढोंग रचता है। संसार के रागमे अप्रशस्त राग है और उसे सेवन करने मे नहीं शर्माता और धर्म के कारण प्रशस्त उत्तम राग के सेवन के स्थान मे समय पड़ने पर एक दम से समदर्शी बनने का ढोंग रचता है पर संसार के प्रसंग मे अड़ बैठता है, परन्तु धर्मी पुरुषों की रक्षा के प्रसंग मे यह कहता है कि हमे दखल ही न देना चाहिये। हाय! जहा प्रेम और राग न हो वहा वीतरागी बन जाता है। सवेरे की संध्या सूर्य को प्रकट करती है और सांझ की सन्ध्या सूर्य को अस्त कर देती है। संसार के रंगमे जहां आत्माको सराबोर करना है वह सांझकी संध्याके समान है। जिसे धार्मिकों को मदद करना पसंद है वह प्रशस्त राग सवेरे के सूर्योदय के रंग जैसा राग है। आत्मारूपी सूर्य का उदय होने पर प्रकाश प्रकट होजाता है अंधकार का नाश होजाता है, इसी तरह प्रशस्त राग धर्म जीवी के जीवन मे विघ्न पड़ने पर उसे दूर करने के लिए सहायक रूप है, अतः प्रशस्त राग का पोषण उदय होते हुये सूर्य की दशा के समान है *

---

* प्रीति करे ते रागिया, जिनवर जी हो तमे तो वीतराग।
प्रीतडी जेह अरागी थी, जोडवी ते हो लोकोत्तर मार्ग॥
प्रीति अनादिनी विष भरी, ते रीते हो करवा मुज भाव।
करवी निर्विष प्रीतडी, किण भांते हो कहो बने बनाव॥
प्रीति अनन्ती पर थकी, जे तोडे हो ते जोडे एह।
परम पुरुषथी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह॥
(देवचंद्र जी)

राग रहित दशा प्रगट करने से पूर्व धर्म जीव के प्रति प्रशस्त राग द्वारा अप्रशस्त राग को त्यागने के लिये वीतराग दशा को प्रगट करने के अर्थ पैड़ियों पर चढ़ना है। लेकिन यदि बुरा राग छोड़ना न आता हो और अच्छे राग को जहाँ अपनाना न हो, कर्तव्य परायणता के समय एकदम नकार कर डालता है तथा वीतरागपद को मान्य नहीं करता है तब वह तीनोंसे ही टलगया। प्रशस्त राग से ऐसा पुण्य उपार्जन करता है कि जिस से वीतरागता प्रगट करने के लिये एक प्रकार का साधन प्राप्त होता है। ऋषभ देव प्रभु का स्तवन करते समय 'देवचंद्र' कहते हैं कि हे वीतराग प्रभो! "आप से रागी पुरुष प्रीति करना चाहता है पर आप तो राग और द्वेष से रहित हो कर निर्विकार होगये हैं, तब आपके साथ राग करने वाले को राग का स्थान कहां मिल सकता है? क्यों कि आप तो वीतराग हैं, अतः मेल कैसे बैठे? वीतराग के साथ राग करे तो राग होने का प्रसंग नहीं आता, जब प्रभु के साथ हम तो अनुराग करते हैं और वे राग करते ही नहीं इस प्रसंग से प्रीति करने वाला भी यदि वीतरागी बन जाय तब तो दूध मिश्री की तरह फौरन मेल खाता है। प्रभो! आप वीतराग हैं! आप से हम प्रीति करते हैं तब हमारा निरालम्ब राग कहां तक ठहर सकता है? तब हमारे लिये राग को दूर करने का स्थान ही कौनसा रहजाता है, बस यही हो सकता है कि आप की तरह मैं भी वीतरागी बन जाऊं।× × ×

पहले अप्रशस्त राग से दूर हट कर देव-गुरु-धर्म पर प्रशस्त राग करने के पश्चात् उसे छोड़ कर फिर कहीं वीतरागी होसकता है। संसार के संबन्ध से तो राग करता ही रहता है किन्तु प्रशस्त राग करने वाला सवेरे की सन्ध्या के समान स्वच्छ गुण का सेवन करके

अच्छे जीवों की प्रीति और अनुराग का सेवन करता हुआ पुण्य का उपार्जन भी करले तो इसी प्रकार आगे बढ़तेर वीतराग हो सकता है। भगवन्! देह पर राग करना तो लौकिक राग है, परन्तु आपका प्रेम लोकोत्तर प्रेम है, अतः आपके साथ प्रीति करने में लाभ है। निर्दोष जीवन विताने वाले और उन को दान देने वाले ये दोनों ही मोक्ष पाते हैं। गौतम पूछते हैं कि आहार औषध और अभय इन दानों में से किस दान का उपयोग करने से सूर्याभ ने यह ऋद्धि पाई है?

धर्मी जीव को कष्ट से बचाओ, उसे निर्भय बनाओ तब तो इससे समस्त जीवन का अभयदान होगा। इसी प्रकार ज्ञान की मदद देकर-ज्ञान से पुष्टि करके जो जीव मूढ़ या अज्ञानी हो उसे उत्तम न्याय का उपदेश करे, वह ज्ञान-दान है। अनन्त भव के जन्म-मरण की जड़ को नष्ट करने के लिये ज्ञान दान मुख्य साधन है। इस दान की बराबरी नहीं हो सकती। भूल और भ्रमणा को मिटाने के लिये या अनन्त काल की चमना को मिटा कर सरलता में स्थापन करने के लिये तथा ज्ञान-ध्यान की श्रेणि आदिक को समझाने के अर्थ, ज्ञान दान की प्रभावना का जिसे भान है वह भी अनन्त काल के संसार की यानी जन्म-जरा-मरण की मूल को तोड़ने वाला ज्ञान दान कहाता है।

इत्यष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

देव की ऋद्धि को प्राप्त करने में किस कारण को प्रमुख समझना चाहिये। इसी का विवरण करते हुये गौतम पूछते हैं कि क्या सुपात्र को दान किया था? सुपात्र यानी जिसे अपनी आत्मा का भान हुआ है और उसे चौथी भूमिका पर आत्म भान की प्रतीति हुई है, प्रगट न हो तो भी भान होता ही है अपने आत्मा में भान होने से गुण का भान होकर गुण प्रगट करता है। इस प्रकार अपना आनन्दघन-शुद्ध चैतन्य-स्वरूप यानी आत्मा के अंश मात्र का भी यदि भान होता है तब चौथी भूमिका से पात्र की गिनती मे आता है और वह सुपात्र धन्यवाद का पात्र है। ××× इसके बाद पाँचवी भूमिका मे राग-द्वेष रहित अन्तरात्मा की परिणति मे किसी अंश मे स्थिर रहने को मध्यम सुपात्र कहते है। निर्दोष वृत्ति से जो निर्दोष आहार ग्रहण करते है, आरम्भ परिग्रह का सर्वथा त्याग करतेहै, ज्ञान ध्यान मे अहर्निश रमण करते है, पांच समिति तीन गुप्ति द्वारा संयम मे निरन्तर स्थिर रहते है ऐसे सन्त उत्कृष्ट सुपात्र कहलाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार के सन्त पुरुषों का समागम तथा उनकी सेवा करने का अवसर अनादि काल से किसी पवित्र पुण्य के योग से ही प्राप्त होसकता है।

गौतम पूछते है कि प्रभो! ऐसा क्या सुपात्र दान किया था कि जिस से इसका आत्मा इस भांति से उज्ज्वल हुआ, परन्तु क्या

कुछ दान में कमी रह गई थी कि जिस से देव सम्बन्धी पौद्गलिक ऋद्धि मिली।

पात्र से कुपात्र घटिया है, पात्र से अपात्र और भी हल्का है। कुपात्र यानी पात्र तो है लेकिन दोष बहुत है, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं हो पाता उसे समकत्व पाने के कुछ व्रत-नियम-त्याग-दया सत्य-ब्रह्मचर्य-निर्मलता-क्षमा-सन्तोष आदि गुणोंकी वृद्धि करते हुये को शास्त्रकार कुपात्र कहते हैं। क्योंकि उसे आत्मस्वभाव का भान नहीं है, उन्हों ने आत्म-शक्ति के स्वभाव का अनुभव नहीं किया है अतएव वह कुपात्र कोटि में है। ऐसे पुरुष को दान करने से पुण्य का उपार्जन होता है किन्तु सुपात्र की अपेक्षा वह कुपात्र है। अपात्र यानी जिस में त्याग-वैराग्य-संयम व्रत और नियम आदि न पाये जाते हों परन्तु दुःखित है, दया का पात्र है, शोचनीय दशा है, अनुकम्पा करने जैसी स्थिति है यह स्थिति जन्मान्तर के पापोदय के कारण है अतः वर्तमान में अब उसे सब प्रकार की असुविधा है। अपात्र होने पर भी उस पर दया की जायगी। पुण्य तो सब के लिये उपार्जन करना उपादेय है। वे धर्मी होने न होने पर भी दया के पात्र हैं अतः उस पर अनुकम्पा करना उचित है। यानी उन दुःखी को देख कर पाप उठे, करुणा उत्पन्न करे और कहे कि मैं किस प्रकार कितनी अनुकूलता का उपभोग कर रहा हूं और इस प्राणी के पहले अशुभ कर्म के उदय से कितनी आपत्ति भोगनी है बेचारा कष्ट में पड़ा भोग रहा है, यही नमस्कार एवं आश्वासन और शिक्षा करना अनुकम्पा दान है और ये सब परार्थ कार्य आत्मा के आधीन हैं ।

* [illegible] कपटी [illegible], कोई [illegible] लो लिया।
[illegible] न [illegible], [illegible] [illegible] ॥

गौतम पूछते हैं कि प्रभो! इस सूर्याभदेवने क्या अन्त, प्रान्त रूखा-सूखा आहार खाकर आत्मा को वश में किया था या इच्छाओं को जीतकर शरीर निर्वाह मात्र के लिये कुछ लेकर अन्त में शरीर से प्रीति कम कर दी थी कि जिसके फल से ऐसी पदवी को पा सकता है। गौतम स्वामी का अनुभव है कि रूखा सूखा आहार लेने से भी ऐसी ऋद्धि और संपत्ति मिल सकती है। धर्मी और त्यागी को पुण्य के बदले मे इतनी सम्पदा मिल जाती है इसमें अचरज ही क्या है।

अलौकिक प्राप्ति

धर्मी और त्यागी को लौकिक सम्पत् की अपेक्षा किसी और प्रकार की ऋद्धि मिलती है। तीर्थंकर देव की कितनी सम्पत् होती है? इस सम्पदा का ज्ञान लौकिक मार्ग में किसी को प्राप्त नहीं हो सकता है। चक्रवर्ती भी इस ऋद्धि को देख कर चकित रह जाते हैं। उसके ३२ हजार देश किसी गिनती मे नहीं है। जिसके आत्मा में अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है वही उनके ज्ञान गुण की व्याख्या कर सकता है। समवसरणादि बाह्य सम्पत् में उसका

आत्मा हि आत्मनो नाथः, को हि नाथः परः स्यात्।
आत्मैव सुदान्तेन, नाथं लभते दुर्लभम् ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

(श्री भगवद्गीता)

लक्ष्य तक नहीं होता * । क्योंकि उसे बाह्य संपत का प्रलोभन नहीं है यह तो सदा अपनी आत्म संपत में ही रमण करता है इसीलिये गौतम स्वामी पूछते हैं कि मृगापुत्रने किस २ रूक्ष-शुष्क आहारसे निर्वाह करके अपने शरीर को निश्चल किया था। अन्त-प्रान्त भोजन का यह आशय है कि घर वालों ने सब खा पी लिया है और जो कुछ अवशेष बच रहा है जिसे खुरचनादि कहते हैं क्या उसने ऐसे अवशेष आहार से निर्वाह किया था।

---

* जिनपद नाहि शरीरको, जिनपद चेतन माहि ।
जिन वर्णन कछु और है, यह जिन वर्णन नाहि ॥२९॥

जामें लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब, जगी ज्ञान सकति विमल जैसे आरसी।
दर्शन उद्योत लीनो अंतराय अंत कीनो, गयो महामोह भयो परम महारसी॥
संन्यासी सहज-जोगी जोगसों उदासी जामें, प्रकृति पचासी लगि रही जरी छारसी
सोहै घट मंदिरमें चेतन प्रगट रूप, ऐसो जिनराज ताहि बंदत बनारसी॥२॥
तन चेतन विवहार एकसे, निहचै भिन्न २ है दोइ ।
तनकी थुति व्यवहार जीव थुति, नियत दृष्टि मिथ्या थुति सोइ ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारन तन की संस्तुतिसों, जिन वर की संस्तुति नहिं होइ । ३०

भावार्थ—व्यवहार नय में शरीर और आत्मा की एकता है, परन्तु निश्चय नय में दोनों अलग है । व्यवहार नय में शरीर की स्तुति जीव की स्तुति गिनी जाती है । परन्तु निश्चय नय की दृष्टिसे वह स्तुति मिथ्या है, निश्चय नय में जो जिनराज है वही जीव है और जो जीव है वही जिनराज है वह नय शरीर और आत्मा को एक नहीं मानता, इस कारण निश्चय नय से शरीर की स्तुति जिनेन्द्र की स्तुति नहीं हो सकती ।

(समयसार नाटक जीव द्वार)

पापी पेट का बहाना

यदि कोई धर्म की सम्पत्ति में है तो उसे अभक्ष्य वस्तुओं का उपभोग न करना चाहिए। मद्य मांस मधु ये तीन वस्तुएँ तो जिस ने आर्य कुल मे जन्म लिया है उसे खाना ही न चाहिये लेकिन आज कल के बनिये वीर बहूटी तक बेचते हैं, सूखी मछलियों का विक्रय करते हैं। समझाने पर उत्तर मे कहते हैं कि क्या किया जाय पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है। अब कहिये उनके पापी पेट को सन्तोष कैसे दिलाया जाय। धर्म पक्ष में जैन कुल मे जन्म लेकर इतना त्याग भी न कर सके तो उसे आर्य क्यों कर कहा जा सकता है।

आर्य की व्याख्या

त्रस जीव के शरीर का आहार बना कर खाना आर्य के लिये सर्वथा निषेध किया गया है, आर्य के पेट में जब वह आहार पहुंचेगा तो अन्तर्वृत्ति को अवश्य बिगाड़ देगा। यदि जाति और कुल से आर्य है तो चरित्र से भी आर्य होना आवश्यक है, और अभक्ष्य पदार्थ उसके लिये सर्वथा छोड़ने योग्य हैं। कदाचित् अनार्य जाति मे जन्म लिया है और आर्य गुणों का संग्रह करता है तो वह गुण से आर्य है इस अपेक्षा से हलकी जाति का मनुष्य भी आत्मदर्शन पा सकता है *। आत्मज्ञान आत्मदर्शन प्राप्त होने पर गुण की दृष्टि से ही वह आर्य होता है। अनार्य जाति में उत्पन्न होने वाला गुण से आर्य न बन सके? यह बात नहीं है। अन्तर

---

* स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। ३२

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९

से आत्मदशा-आत्मभान या वीतराग दशा के जागृत होते ही चाहे बाह्य वेश कुछ भी हो पर वह पूर्ण पद को पाकर देह को छोड़ता है.

जाति और कुल की अपेक्षा से अनार्य होने पर भी ज्ञान गुण दर्शनगुण को पाकर आर्य कहला सकता है। मगर जो जाति और कुल से आर्य हो और वह अपने पेट में त्रस जीव के शरीर का आहार न जाने दे वह स्वभाविक आर्य मनुष्य त्रस प्राणी की हिंसा दया के निमित्त भी नहीं कर सकता।

आर्य के लिये वर्ज्य

मदिरा मांस शहद वड पीपल के फल जिनमें असंख्यात जीव होते हैं, आर्य वृत्ति वाले इस प्रकार के फलोंको भी नहीं खाते। गोशाला यद्यपि पुरुषार्थ को नहीं मानता था, तथापि उसके श्रावक गूलर के फल, कंद मूल आदि नहीं खाते थे, मद्य मांस का उपयोग तो बिलकुल ही नहीं करते थे, परन्तु मूल में अनन्त जीव होते हैं जिन्हें एक डाक्टर दवा की गोली द्वारा समझाते हैं, यदि कोई यह कहे कि हम विष को विष नहीं मानते, तब क्या वह मानना स्वाभाविक है? या वस्तु के वस्तुत्व (वस्तु धर्म) स्वभाविक है? प्रभु फरमाते हैं कि कंद मूल में जीव अवश्य हैं और अनन्त जीव हैं कोई माने या न माने।

गोशालक के श्रावक

जब गोशालक के श्रावक भी इस अभक्ष्य को नहीं खाते तो मेरे श्रावक इसे कब स्वीकार कर सकते हैं, इसी कारण प्रभु गौतम से कहते हैं कि [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है। यहां तो ऐसी सूरत [illegible] कभी न खावे। [illegible]

शरीर निर्वाह के लिये भी दूध, दही, घी, गुड़, खांड आदि का त्याग करदिया तथा मूर्छाभाव उतारकर रूखा आहार लेना स्वीकार किया, जिसने अपना शारीरिक मोह छोड दिया है वह बाहर के अनीति अन्याय क्योंकर कर सकता है, मगर आजकल तो दिखाने भर के लिये बाहर का मात्र चरित्र का दिखावा करते हैं। अन्दर खाने का तो कुछ पताही नहीं है। बहुतसे लोक आचाम्ल (आयंबिल) उपवास करते हैं और साथ साथ संसार की अनीति भी करते रहते हैं उसे तो छोड़ता ही न हो तब यह अनमेल बात कहां टिकेगी? जिसने बाहर का दैहिक मोह उतार दिया हो उसका बाहरी व्यवहार भी अच्छा होना उचित है। अनादि काल के अपात्र को भी यदि अच्छी सामग्री मिल जाती है तो वह एक ही दिन में आत्मा की पात्रता प्रगट कर देता है, जिस प्रकार पहले दृढ़ प्रहारी ने आत्म शुद्धि की थी। सुधार मार्ग पर आने के लिये शास्त्रकार सब को अवकाश देते हैं। पर जिसने लहसुन प्याज से अपना गला भर लिया हो उसे कस्तूरी की डकार कैसे आ सकती है। ऐसे ही जिस ने सारी उमर अधर्म किये हों क्या वह मरते समय सुगमता से सुधार की लाइन पर आ सकता है? अतः ज्ञानी कहते हैं कि मौत आने से पहले ही सुधर जाओ। × × रसगृद्धि जीव जब मरने के बाद नरक जायगा तब उसे सारी उमर में कभी भी आहार पानी नहीं मिलेगा, उसकी भूख किसी भी तरह न मिटेगी। क्योंकि उसे पराधीन-दीनदशा में रहना पड़ा है। गौतम ने पूछा कि विभो! मनुष्य जन्म में बैठा हुआ मनुष्य रूखे भाव से रागरहित रूखा आहार करे तो उसे क्या लाभ होता है? प्रभु फर्माते हैं कि नरक में जो अनन्त क्षुधा का कष्ट है उसे सारी उमर सह कर भी उतना लाभ नहीं ले सकता जितना कि रूखे भाव से रूखा आहार

एक बार करने मात्र से लाभ लेना है।

स्वाधीन त्याग

इन्द्रियों का दमन करने के लिए स्वाधीन दशा में सहायक रूप होनेके भावसे एक उपवास करनेवालेको जो लाभ होताहै वह लाभ नरक के भूखे नारकीय को हजारों वर्ष की भूख काटने पर भी नहीं मिल सकता। आशय यह है कि स्वाधीन दशा में किया हुआ त्याग महान लाभ की प्राप्ति का कारण है। बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि भूखे क्यों मरें जहां तक मिल सके खाना चाहिये जब न मिलेगा तब उपवास करलेंगे। गौतम कहते हैं कि वे मानो इस दुर्विचार से मनुष्य जन्म रूपी जहाज को नाश करते हैं × × × गौतम की विनती है कि क्या उसने नारकीय पर्याय सहित हो कर स्वयं आहार लिया था? कि जिससे इसने फल स्वरूप यह भूख और दुःख पाया।

सत्य, ब्रह्मचर्य मोह विजय, निर्ममत्व क्षमादिक सब गुणों का समावेश हो जाता है। क्या ऐसे तीव्र भाव से अच्छे आचरण किये थे कि जिनके सेवन से ऐसी दैवी ऋद्धि प्राप्त हुई।

सन्तसमागम

चौथी बात यह है कि इसे पहले तथारूप सन्तपुरुष कैसे मिले, जो घर छोड़कर साधु वेश मात्र लिये हों वे साधु नही बल्कि जिसने अन्तर में त्याग वैराग्य समता आदि अन्तर्दशाकी रमणता प्रगट की है, क्या इसे ऐसे सन्तों का समागम मिला था ? या मा हण, मा हण, मत मारो, मत मारो, किसी को मत सताओ ! ऐसे शब्द कहने वाले और गृहस्थ अवस्था मे निवास करने वाले श्रेष्ठ श्रावकों का समागम किया था ? और उन के सर्व श्रेष्ठ सरल वचन का भी श्रवण किया था क्या ?

दोहा—पारस मे और संत मे अन्तर जान महान् ।
वह लोहा कचन करे औ वह आप समान ॥

पारसमणि लोहे का सोना बना देता है, परन्तु पारस नहीं बना सकता, पर सन्त का समागम-परिचय मिलने पर सन्त जन उसे अपने समान कर लेते हैं। निजानन्द-सहजानन्द की प्राप्ति सन्त समागम से होती है। जैसी सन्त की दशा होती है उस की भक्ति करने वाला भी उसी में समाजाता है। अनाथी मुनि का सत्संग श्रेणिक राजा ने किया था जिस से वह भविष्य मे पद्मनाभ तीर्थंकर होकर मोक्ष जायगा। यद्यपि भक्तने ऊंची दशा प्राप्त करली तथापि भाव मे दोनों बराबर है।

प्रभो ! क्या ऐसे मुनिओं के पास अनुभवयुक्त एक वचन अन्तर को भेद कर निकल गया जिससे उत्तम धर्म का श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

एक शब्द का सत्कार

गौतम स्वामी के मन में यह बात भी घर कर गई है कि जो ज्ञान का वचन मात्र एक ही बार सुनकर आत्मा के अन्तर में उतार लेता है वह भी आत्मा का भान करा देता है। ज्ञान के द्वारा पुण्य-पाप की भ्रमणा दशा नष्ट हो जाती है, आत्मदशा का उपाय होता है, अतः ऐसे किस महापुरुष के पास इस ने अन्तर धर्म का श्रवण तथा हृदय में अवधारण किया था जिससे विचार श्रेणी में चढ़ कर इस पद की प्राप्ति की। इस प्रकार गौतम स्वामी ने चार प्रश्न पूछे।

भगवान् का उत्तर

धार्मिक [मन की निर्मलता गुण] तथा सूक्ष्म तत्त्व का एक आध्यात्मिक वाक्य सुनकर आत्मा का निर्णय किया है, तदनन्तर यह पदवी प्राप्त की है।

सूर्याभ का पूर्व जन्म

देशों में आर्य धर्म है, शेष सब देश अनार्य हैं। उस केकार्ध का आधा भाग भी अनार्य देश मे मिलता है जहां परदेशी राजा राज्य करता था। वहां के लोक पुण्यवान् और समृद्धिशाली थे। प्रजा के भविष्य का अच्छा होना सिद्ध करता है कि राजा न्यायशील है, अतः श्वेताम्बिका नगर * धन धान्य से पूर्ण था, इसके ईशानकोण में मृगवन नामक उद्यान है यहीं केशीस्वामी नामक चतुर्ज्ञानी मुनिराज पधारने वाले हैं। श्वेताम्बिका मे परदेशी नामक राजा सूर्याभ का पूर्वपर्याय जानना चाहिये। एक नियम से तो जीव अनादि काल से अनेक पर्यायें ग्रहण करता और छोड़ता आया है और मूल गुण का उसे कुछ भी भान नहीं है। अपने स्वभाव से बाहर होकर पर गुण मे आनन्द मान कर वैभाविक मस्ती मे रहता है। यह भी तो परदेशी ही है। इसलिये यह घटना हम पर भी घटित होती है। इसका यही भाव ग्रहण करना है यानी परमें अपना पन मान बैठना यह परदेशी है।

इति नवमोऽध्यायः

* तेणं काले णं ते णं समएणं इहेव जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे केकयद्धे णामं जणवए सेयविया नाम नयरी होत्था, मिगवणे नाम उज्जाणे।

देशों में आर्य धर्म है, शेष सब देश अनार्य हैं। उस केकार्ध का आधा भाग भी अनार्य देश में मिलता है जहां परदेशी राजा राज्य करता था। वहां के लोक पुण्यवान् और समृद्धिशाली थे। प्रजा के भविष्य का अच्छा होना सिद्ध करता है कि राजा न्याय-शील है, अतः श्वेताम्बिका नगर * धन धान्य से पूर्ण था, इसके ईशानकोण में मृगवन नामक उद्यान है यहीं केशीस्वामी नामक चतुर्ज्ञानी मुनिराज पधारने वाले हैं। श्वेताम्बिका में परदेशी नामक राजा सूर्याभ का पूर्वपर्याय जानना चाहिये। एक नियम से तो जीव अनादि काल से अनेक पर्यायें ग्रहण करता और छोड़ता आया है और मूल गुण का उसे कुछ भी भान नहीं है। अपने स्वभाव से बाहर होकर पर गुण में आनन्द मान कर वैभाविक मस्ती में रहता है। यह भी तो परदेशी ही है। इसलिये यह घटना हम पर भी घटित होती है। इसका यही भाव ग्रहण करना है यानी परमें अपना पन मान बैठना यह परदेशी है।

इति नवमोऽध्यायः

* तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे केकयद्धे णामं जणवए सेयविया नाम नयरी होत्था, मिगवणे नाम उज्जाणे।

अथ दशमोऽध्यायः

आत्मा तीनो काल मे नित्य, शाश्वत, निरंजन और देह से भिन्न है, इस शास्त्र का यही विषय है। किन्तु एक ओर तो यह धारणा प्रगट करते हैं कि आत्मा शरीर से अलग है किंतु जो लोग दूसरी ओर से बहक पडते हैं कि मेरी कीर्ति या इज्जत रहे तो मै हूं परन्तु खेद है कि जो कर्म का फल यशः कीर्ति देता है यह भोला भाला उसी को आत्मा मान बैठा है। इस भूल से प्रेरित हो कर कहता है कि जान जाय तो जाय परन्तु मान मर्यादा न जाय। हाय! इसने यश की स्थिति की कल्पना लंबी बना कर आत्म स्थिति कितनी ओछी कर डाली है। तब यश को तो स्थायी और शाश्वत रखना चाहता है और आत्मा को अनित्य बना डाला। अनादि और नित्य पद कर्म के फल को दे दिया। तब मुंह से कहता फिरता है कि इससे कम संसार मे रहूं। इस से प्रथम च्यवन करू और मोक्ष सिधारू।

इस धारणा वाले ने आत्मा के स्वरूप को ही कहाँ जाना है। ज्ञानी तो यह समझाते हैं कि आत्मा के स्वभाव को अनादि काल से ही नहीं जाना, अतः ऐसे भूले भटकों को परदेशी राजा का अधिकार ठीक भान करा सकता है। सूर्याभ का जीव पहले जन्म मे किस अवस्था का उपभोग करता था इसी प्रकार से गौतम स्वामी ने पूछा है। कहा भी है कि अनार्य क्षेत्र की अपेक्षा आर्य क्षेत्र कम है, उनमें भी जिसे राग-द्वेष रहित अवस्था का भान हो ऐसे वीत-

रागी कम हैं। आत्म परिणति में रमण करने वाले भी कम हैं। वीतराग परिणति को जान कर जो साधू हुए हैं, अपने आत्मा के हितार्थ जो परिषह-कष्ट सह कर धर्म क्रिया मे बढ़ने वाले है वे सन्त जन बहुत कम मिलते हैं। भगवान् की स्तुति करने वाले भव्य प्राणी कहते हैं कि प्रभो ! आर्य क्षेत्र आर्य विचार के मनुष्य बहुत ही कम हैं और यह केकार्ध देश भी आधा आर्य और और आधा अनार्य है। इसमे कुछ आर्य और बहुत से अनार्य लोक वसते हैं जिसमे परदेशी राजा को सम्मिलित किया जासकता है। आर्य कौन है ? इसके उत्तर में कह सकते हैं कि आर्य का भाव कई प्रकार से समझाया जा सकता है और वह—

जाति आर्य

जिसकी जाति और कुल में मांस मदिरा का आहार नही है, जाति-माता का निर्मल चरित्र और कुल पिता के सच्चरित्र को कहते हैं। लोग यह समझते है कि मांसाहार मांस खाना ही है, परन्तु चर्बी से तैयार किये हुये कपड़े और सांडे का तेल पंचेंद्रिय की घात करके बनाया गया है उस औषध का लगाना और खाना भी मांसाहार ही मे सम्मिलित है। जिस कुल मे ऐसा अभक्ष्याहार उपयुक्त होता है शास्त्रकार उसे जाति आर्य नहीं कहते और जिसके माता पक्ष और पिता पक्षमे ऐसा भोजन न खाया जाताहो वही जाति आर्य है। यद्यपि यह स्मरण रखने योग्य है कि आत्मा का मूल गुण नहीं बदल सकता तथापि पर्याय तो बदलता रहता है। अवस्थान्तर और रूपान्तर होता रहा है। विभाव अवस्था मे अपना स्वभाव छोड़ कर परभाव-परपरिणति होने पर जीव की अनार्यवृत्ति हो जाती है और परभाव से अपने को मानना ही परदेशी है।

सात प्रकृति का स्वामी

वह सात हजार क़स्बों का मालिक था, सात प्रकृतिओ का क्षय किये बिना परदेशी उस का स्वामी है, आत्मा के ऊपर आवरण डालने वाली कर्मपरिणतिरूपा सात जड़ प्रकृतियां ही आत्माके ऊपर अपनी पूरी सत्ता जमाए बैठी हैं। ××× वह परदेशी राजा उसी अपेक्षा से सात प्रकृतिओं का स्वामी है और वे आत्मा की शुद्ध शिखा को स्थिर नहीं रहने देतीं। अथवा आत्मा की सुलट दशा को समझने के समय गहरी अरुचि मे उत्तेजनारूप परिणाम हो जाते है, वह अनन्तानुबन्धी नामक तीव्र कषाय है।

कषाय और उसके भेद

कष्-आय्, कषाय, इसका अर्थ यह है कि जो संसार दुःख का लाभ अर्थात् बढ़ती कराता है वह कषाय है, कष यानी कर्षण कर्म बीज को बो कर कर्म के फल पकाकर संसार को बढ़ावे वह भी कषाय कहाता है। तीव्र-मंद-मंदतर-मंदतम के भेद से कषाय चार प्रकार का है। तीव्र और क्रूर कषाय आत्मा के अन्तर गुण को स्थिर नहीं रहने देता। उसे बाहर की बातें रुचती हैं पर अन्तरतत्व की अध्यात्म बातें सुनने पर भी उस मे रुचि नहीं होती। अन्दर की गंभीरता मे वह तत्व नहीं बैठता, अनन्त संसार का अनुबंध एक के बाद एक पोषक प्रकृति-आत्मा की मूल प्रकृति के अन्तर मे न बैठे। उपशम गुण मे विकार आने से जिस किसी वस्तु पर द्वेष होता तो वह क्रोध है. परवस्तु को अपने से प्रतिकूलता को देखकर द्वेष से वस्तु का बलपूर्वक लेना या हठ से पर मे रमण करना

मान है। * गंभीरतत्व की चर्चा का प्रसंग आने पर अभिमान पूर्ण होकर यह कह बैठना कि क्या हम नही जानते ? आत्मतत्व की बात का निराला ही अर्थ कर दिखाता है और कहता है कि ज्ञानी चाहे इसी प्रकार कहैं पर मेरी धारणा के अनुकूल ही ठीक है। इसके अतिरिक्त उलटा अर्थ कहने में जरा भी न हिचकिचाता हो वह अनन्तानुवंधी माया है। पंचपरमेष्ठी और आत्माके गुणों की अपेक्षा अन्यवस्तुओं मे जिसे बहुत ही प्रेम हो वह अनन्तानुवंधी लोभ है। यह भी आत्मा के गुण का महाघातक है, आत्मा के गुण का प्रेम न कर के जगत् की किसी भी वस्तु के प्रेम में तीव्रतम दौड़धूप करता है। वीतराग प्रभु कहते हैं कि वह अनन्तानुवन्धी का तीक्ष्ण लोभ है। परभाव- परवस्तु को प्रीति पूर्ण दृष्टि से देखना लोभ का साधारण अर्थ है। इन चार परवस्तुओं को अपना मानना अनन्तानुवंधी कषाय है।

विभाव अर्थात् मोहिनी

पर वस्तु को अपनी समझ कर उसमे रमण करना या अपने स्वरूप को विशेषतः भूल जाना अनन्तानुवधी के उदय से आत्मिक सुख की अपेक्षा इंद्रियजन्य सुखमे ममत्व करना अर्थात् स्वरूपाचरण

---

* धैर्यं धुनाति विधुनोति मति क्षणेन द्वेष करोति शिथिली कुरुते शरीरम्।
धर्मं छिनत्ति वचनं विदधात्ययार्यं; कोपो ग्रहो रतिपति. मदिरामदस्य ॥२६
ग्रस्तोऽस्म्यनेन न हतोऽस्मि नरेण रोषात्को मारितोऽस्मि मरणेऽपि न धर्मनाश
कोपस्तु धर्ममपहरति चिनोति पाप, संचिन्त्य चारु मतिनेति निति क्षणीयम्
मानो विनाशमुपयाति ततोऽतिवृद्धिं, मर्यो नदी तट गतो धरणीरुहो वा।
परेस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय, नाह करोमि गुणदोष विचारदक्ष."
(सु०र०स)

चरित्र का जिस से घात होता हो वह मिथ्यात्व मोहिनी है।

आत्मा के शुद्धनिश्चय नय मे जो शंका उत्पन्न करे और शुद्ध आत्म-स्वरूप स्वभाव की जागृती होने पर पूर्ण अवस्था प्राप्ति के मध्य मे कुछ दोष लगाकर प्रस्तुत करे वह मिश्रमोहिनी है। शान्तिनाथ भगवान् का जाप करने से ही शान्ति होती है इस धारणा या श्रद्धा का नाम समकत्व मोहिनी है।

अनादिकाल से यह आत्मा इन सात प्रकृतिओं के बंधन मे पड़ा है, जहा तक इन सातों पर स्वामित्व है वहां तक वीतराग देव सब आत्माओं को परदेशी कहते है इन सात प्रकृतिओं के मिटते ही आत्मा स्वावलम्बी और परमात्म स्वरूप दशा को प्राप्त करता है। यह उस बेचारे परदेशी राजा के ऊपर ही नहीं बल्के सबको अपने उपर भी घटा लेना चाहिये, मगर लोक अपने ऊपर जरा सी भी आंच नहीं आने देते और औरो के ऊपर आक्षेप अवश्य कर डालते हैं कि - अमुक आदमी मे यह दोष है और अमुक ऐसा है औरों मे दोष निकालते समय जरा सी भी देर नहीं लगने देते, किन्तु इस से क्या लाभ ? समझदार और चतुर अध्यात्मिक जन तो अपने ऊपर ही घटाते है।

केकार्ध देश

केकार्ध देश मे आधा भाग आर्य क्षेत्र और आधा अनार्य है। वृत्ति के अनार्य होने पर भी आत्मा का मूल स्वभाव और शक्ति का अभाव नहीं होसकता। पानी को चाहे--आग पर कितना ही गरम

*जैसे उष्णोदकमें उदक स्वभाव सीरो, आगकी उष्णता फरस ग्यान लखिये।
जैसे स्वाद व्यंजनमें दीसत विविधरूप, लोनको सवाद खारो जीभ ग्यान चखिए,
तैसे घट पिंडमें विभावता अग्यानरूप ग्यानरूप जीव भेदग्यान सों परखिए
भरम सों करमको करता है चिदानन्द दरब विचार करतार भाव नखिए॥

मान है। * गंभीरतत्व की चर्चा का प्रसंग आने पर अभिमान पूर्ण होकर यह कह बैठना कि क्या हम नही जानते ? आत्मतत्व की बात का निराला ही अर्थ कर दिखाता है और कहता है कि ज्ञानी चाहे इसी प्रकार कहे पर मेरी धारणा के अनुकूल ही ठीक है। इसके अतिरिक्त उलटा अर्थ कहने में जरा भी न हिचकिचाता हो वह अनन्तानुबंधी माया है। पंचपरमेष्ठी और आत्माके गुणों की अपेक्षा अन्यवस्तुओं मे जिसे बहुत ही प्रेम हो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। यह भी आत्मा के गुण का महाघातक है, आत्मा के गुण का प्रेम न कर के जगत् की किसी भी वस्तु के प्रेम में तीव्रतम दौड़धूप करता है। वीतराग प्रभु कहते है कि वह अनन्तानुबन्धी का तीक्ष्ण लोभ है। परभाव- परवस्तु को प्रीति पूर्ण दृष्टि से देखना लोभ का साधारण अर्थ है। इन चार परवस्तुओ को अपना मानना अनन्तानुबंधी कषाय है।

विभाव अर्थात् मोहिनी

पर वस्तु को अपनी समझ कर उसमे रमण करना या अपने स्वरूप को विशेषतः भूल जाना अनन्तानुबंधी के उदय से आत्मिक सुख की अपेक्षा इंद्रियजन्य सुखमे मगन करना अर्थात स्वरूपाचरण

---

* धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेन द्वेषं करोति शिथिलीकुरुते शरीरम्।
धर्मं छिनत्ति वचनं विदधात्ययाच्यं, कोपो ग्रहो रतिपतिं मदिरामदश्च ॥२६
गतोऽप्यनेन न हतोऽस्मि नरेण रोषात्तो मारितोऽस्मि मरणेऽपि न धर्मनाश.
कोपस्तु धर्ममपहन्ति चिनोति पाप, सचिन्त्य चारु मतिनेति तितिक्षणीयम्
नाशो विनाशमुपयाति ततोऽतिवृद्धि, मध्ये नदी तट गतो धरणीरुहो वा।
गर्वेण दोषमिति चेतसि सन्निधाय, नाहं करोमि गुणदोष विचारणम्."
(सु०र०भ)

चरित्र का जिस से घात होता हो वह मिथ्यात्व मोहिनी है।

आत्मा के शुद्धनिश्चय नय मे जो शंका उत्पन्न करे और शुद्ध आत्म-स्वरूप स्वभाव की जागृती होने पर पूर्ण अवस्था प्राप्ति के मध्य मे कुछ दोष लगाकर प्रस्तुत करे वह मिश्रमोहिनी है।

शान्तिनाथ भगवान् का जाप करने से ही शान्ति होती है इस धारणा या श्रद्धा का नाम समकत्व मोहिनी है।

अनादिकाल से यह आत्मा इन सात प्रकृतिओं के बंधन मे पड़ा है, जहा तक इन सातों पर स्वामित्व है वहां तक वीतराग देव सब आत्माओं को परदेशी कहते है इन सात प्रकृतिओं के मिटते ही आत्मा स्वावलम्बी और परमात्म स्वरूप दशा को प्राप्त करता है। यह उस वेचारे परदेशी राजा के ऊपर ही नहीं बल्के सबको अपने ऊपर भी घटा लेना चाहिये, मगर लोक अपने ऊपर ज़रा सी भी आंच नहीं आने देते और औरों के ऊपर आक्षेप अवश्य कर डालते हैं कि-अमुक आदमी मे यह दोष है और अमुक ऐसा है औरों में दोष निकालते समय ज़रा सी भी देर नहीं लगने देते, किन्तु इस से क्या लाभ? समझदार और चतुर अध्यात्मिक जन तो अपने ऊपर ही घटाते हैं।

केकार्ध देश

केकार्ध देश मे आधा भाग आर्य क्षेत्र और आधा अनार्य है। वृति के अनार्य होने पर भी आत्मा का मूल स्वभाव और शक्ति का अभाव नहीं होसकता। पानी को चाहे*आग पर कितना ही गरम

*जैसे उष्णोदकमें उदक स्वभाव सीरो, आगकी उसनसे फरस ज्ञानलखिये।
जैसेस्वाद व्यंजनमें दीसत विविधरूप, लोनको सवादखारो जीभज्ञान चखिए
वैसे ताहि पिण्डमें विभावता अज्ञानरूप ज्ञानरूप जीव भेदज्ञान सौं परखिए
भरम सौं करमको करता है चिदानन्द दरब विचार करतारभाव न खिए॥

करो परन्तु उस मे रहने वाले शीतगुण का नाश नहीं होता, उस के ठंढेपन का नाश करने मे अग्नि के पास कुछ भी शक्ति (साधन) नहीं है। वलिक वह उबला हुआ पानी भी आग पर पड़ कर उसे एक दम वुझा देता है। पानी का ठंडा गुण कितना गंभीर है जो आग के द्वारा भी नहीं मिट सकता, यदि मूलशक्ति का नाश हो जाय तो पदार्थ का भी नाश हो जायगा। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान स्वभाव है ज्ञाता भाव है कर्ता भाव नहीं है। अनादि काल से राग-द्वेष-क्रोध-मान माया-लोभ-विषय-विकाररूप अंगारोंसे ज्ञानरूपी जल खौल उठता है, जिस मे अपने मूल स्वरूप को भी भुला दिया है। पर पदार्थ मे इतना तन्मय होरहा है कि पाई के पन्द्रहवें भाग के मूल्य की (वस्तु) चुटकी भर तमाखु मे वड़ा ही आनन्द रस का अनुभव लेता है उस ने आत्मा के ज्ञान-गुण की अपेक्षा तमाखु जैसी वस्तु का मूल्य ऊंचा समझा। यदि वीड़ी का व्यसन लग गया हो और तलब लगने पर यथा समय न मिले तो रास्ते मे भंगी की वीड़ी का पड़ा हुआ झूंठा अवशेष मिलते ही चट उठा कर पीने मे संकोच नही करता। अपनी भूल और अज्ञता से * जड़ पदार्थ मे कितना अनुरक्त है, आत्मा के माहात्म्य के सामने

* जैसे महा धूप की तपति में तिसायो मृग,
भरमसौं मिथ्या जल पीवन को धायो है।
जैसे अन्धकार माहि जेवरी निरखि नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयो है॥
अपने सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा,
पवन संजोग सौं उछरि अकुलायो है।
तैसे जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करम को करता कहायो है॥

इसका माहात्म्य अधिक बढ़ाकर राग-द्वेष-विषय-कषाय-लोभ और मोहादि अंगारों से तपकर कितना तमतमाट कर यह खोलना कर्म के आवरण से खड़ा किया है, परन्तु उन अंगारों को बुझाने की जो आत्मा मे शक्ति है वह कभी नष्ट नही होती, यद्यपि उलटी दशा है तथापि किसी समय सुलट जाने पर आवरणरूपी अंगारों को अपने पुरुषार्थ वीर्य से एकदम शीतल करदेता हैं। मेरा ज्ञान स्वरूप अप्रतिहत और अविनाशी है इसे जगत के पदार्थ नहीं रोक सकते। क्योंकि आत्मा का मूल स्वभाव ही ज्ञान स्वभाव है कर्ता स्वभाव नहीं है। * + + +

आर्य देश की भाषा आर्य भाषा कहलाती है, जो जाति से आर्य हो उसका भाषा से भी आर्य होना आवश्यक है। जाति आर्य क्षेत्र आर्य भाषा आर्य के अनन्तर कर्म आर्य यानी व्यापार में भी सत्यवादी रहनेसे उसकी शोभा है अन्यथा नही। बिल्कुल पाप रहित न सही पर जिस व्यापार से आर्य की शोभा मट्टी मे मिलती हो, ऐसा हाड़-चाम-मछली-चर्वी के वस्त्रादि का व्यापार तो कभी न करे। क्योंकि ये अनार्य और कुत्सित व्यापार है इनमे त्रस जीवो की हिंसा विशेष होती है जिससे वह अनार्य पेशा कहलाता है।

---

* जैसे राज हंस के वदन के सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारो क्षीर न्यारो नीर है।
तैसे समकिती की सुदृष्टि में सहज रूप,
न्यारो जीव न्यारो कर्म न्यारोई शरीर है।
जब शुद्ध चेतन को अनुभौ अभ्यासे तब;
भासे आपु अचल न दूजो और सीर है।
पूरब करम उदै आइके दिखाई देहि;
करता न होई तिन्ह को तमासगीर है॥

शिल्प आर्य

जिस में सीने पिरोने तथा बुनने आदि की सर्वोत्तम निर्दोष आजीविका रूप कला हो वह शिल्प आर्य है।

भाव आर्य

जिसमे सम्यग्ज्ञानदर्शनचरित्र का स्वरूप स्थिर है, श्रद्धा सत्य है तब वह सत्य आर्य है। जिस अनार्य की श्रद्धा खोटी है वह गुण को अवगुण और अवगुण को गुण मान बैठा है। नफ़े को नुक़सान और नुकसान को नफे का मार्ग माना है ऐसी मान्यता न होकर जिसमे आत्महित की मान्यता हो अथवा आत्महित की बुद्धि से बल वीर्य पुरुषार्थ पराक्रम की स्फुरणा करने वाला हो वह चरित्र से भावआर्य है * × × × परन्तु अर्धके की देश मे श्वेताम्बिका नगर का राजा परदेशी आर्य न था। वह अठारह प्रकार के पाप मे प्रवीण था, बड़ा ही

---

* न्याय कहे और न्याय करे नित; न्याय ही न्याय का बने पक्षपात।
न्याय विचारे न्याय धरे मन, लज्जा-नीति-रीति की बात ॥
जिस को वल्लभ परम न्याय है, न्याय ही का आचार विचार।
न्याय ही से सब कुछ करता है, वृत्ति और व्यवहार आहार ॥
नव तत्व जान सहाय न वांछत, डिगे न देव अदेव डिगाये।
दोष रहित दर्शन का धारक अर्थ करे शुभ-मन समझाये ॥
धर्म का राग हृदय में बसे अति, धर्म कहत आपस में मिलाये।
निर्मल चित्त अभग्न द्वार; अन्त पुर मे न परिग्रह जाये ॥
पौषध छः तिथि का करे, प्रति लाभे शुद्ध साधु।
ऐसे समदृष्टि तथा, श्रावक भाव अराध ॥
(समकत्व कुपक्षी)

अधर्मी था, * उसे एक मात्र अधर्म ही प्रिय था। यदि कोई धर्म की बात कहता तो उसे यह कहता कि जरा बैठ कर ठंडे दिल से सोच कर समझा दे कि क्या इस मे रोटियें मिलेंगीं ' यदि भरपेट भोजन भी न मिले तो वह धर्म किस काम का, मगर वह यह न समझ सका था कि क्या रोटियें विना पुण्यके ही मिल जाती हैं। संसार मे धर्म की प्रतीति तो नहीं है लेकिन पुण्य पर भी विश्वास नहीं रहा बस एक यही रट लगाये रहता है कि अधर्म और पाप करने से ही खाना मिलता है और इसके साचे इस तरह तैयार होते हैं, तथा मशीन से कपास यों पेल सकता है। ऐसे पाप के धंधों से ही पेट पालने का विश्वास जमाया है यह अनार्य मान्यता है।× ×× यह राजा नीति और धर्म पर न तो कानही देता न ध्यान निरा अधर्म प्रेमी है, अधर्म को इष्टदेव बना छोडा है, अच्छी और धर्म की बाते करने वाले का तिरस्कार करता है, आश्चर्य है कि उस ने अधर्म से * * प्रसिद्धि और ख्याति भी प्राप्त की। राम और रावण दोनों ही जगत्प्रसिद्ध पुरुष थे, रावण की नीति कूट और नीच थी तो भी दुनिया मे मशहूर तो था ही। इसी प्रकार यह भी अधर्म मे नामनामी था, अधर्म के पीछे चलने वाला आदमी खूब पसंद आता और उन से कहता कि ठीक करते हो, चोर और लंपट-व्यभिचारी मनुष्य बहुत अच्छे प्रतीत होते थे। अधर्म देखने वाला या किसी अधर्म मे इमको लगादो इतना कहने वाला इसे निहायत पसद था। ××× एक

---

* तत्थण सेवियाए णयरीए पएसी नाम राजा होत्था, अहम्मिए-अहम्मिट्ठे अहम्मक्खाइ-अहम्माणुगए,

* * हम तालिबे शोहरत हैं हमें इल्म से क्या काम।
बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा॥

और प्रभु ने सूर्याभ की ऋद्धि और उस का अन्तिम भव समझा कर बताया है दूसरी ओर गौतम के सन्मुख उसे अधर्मी कहा है इस का आशय कुछ गंभीर अवश्य है। अच्छी संगति का परिचय पाकर अधार्मिकता से पलटा खाता है, इसमे क्या आश्चर्य है, यहां इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है, हां तो चाहे कैसा ही पापात्मा और धर्म रहित क्यों न हो उस पर भी रहम और तरस खाना चाहिये, आत्मा मे शक्ति और बल अनन्त है जिसे सुलटते समय क्या विलम्ब लगता है *। एक ही बात को समझने के लिये दो

* कै अपनो पद आप संभारत; कै गुरु के मुख की सुन बानी।
भेद विज्ञान जग्यो जिनके; प्रगटे सुविवेक कला रजधानी ॥
भाव अनन्त भये प्रतिबिंबित; जीवन मोख दशा ठहरानी।
ते नर दर्पण ज्यों अविकार रहें, थिर रूप सदा सुखदानी ॥

जाके घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही, सो अपराधी जीव ॥
अपराधी मिथ्या मति, निर्दय हिरदय अन्ध।
परको माने आतमा, करे कर्म को बन्ध ॥
झूठी करनी आचरे, झूटे सुख की आस।
झूठी भगति हिय धरे, झूठो प्रभु को दास ॥

माटी भूमि शैल की सुसपदा बखाने निज,
करम में अमृत जाने ज्ञान में जहर है।
अपनो न रूप गहै और ही सौं आपु कहै,
साता तो समाधि जाके असाता कहर है ॥
कोध को कृपान लिये मान मद पान किये,
माया की मरोर हिए लोभ की लहर है।
योंहि भाति चेतन अचेतन की संगतीसौं,
सांच सौं विमुख भयो झूट में बहर है ॥

दिशायें मौजूद हैं, अपनी आत्मा मे लाभ की बात घटाने के लिये समझदार पुरुष को यह जानना चाहिये कि ऐसा अधर्मी उत्तम साधु संगति का समागम पाकर आत्मलाभ लेता हुआ आत्मा की अन्तर्दशा को प्राप्त हो गया-निज स्वभाव या अपनी अवस्था का भान होगया। अतः हमे पापी के ऊपर द्वेष करके उसे सुधार के मार्ग का परिचय देकर उसमे रोड़ा न अटकाना चाहिये। महावीर प्रभु वार वार राजगृही नगरी मे पधारते थे, वहां का श्रेणिक राजा उनका परम भक्त हो गया था, उसी नगर के बहुत से मनुष्यों को भी महावीर प्रसन्न न कर सके। यद्यपि राजा ने वहुत वार अमर ढंढेरा वजवाया था, कि मेरे राज्यमें पंचेंद्रिय प्राणी का घात न हो यानी पंचेंद्रिय जीव को कोई न मारे। इतनी कुछ राजाज्ञा होने पर भी गुप्त पाप करने वालों के घरों मे निगरानी करने के लिये सिपाही तक रक्खे जा सकते थे परन्तु महाशतक शेठ जो कि प्रभु का परम भक्त और बड़ा श्रावक था, जिसका सम्यग् दर्शन बखान करने योग्य था और वह एक वार ही जन्म लेकर मोक्ष जाने वाला है, उसी की रेवती स्त्री अभक्ष्य पदार्थ खाती थी। इससे सिद्ध है कि तीर्थंकर किसी पर वलात्कार नहीं करते थे। अतः प्रत्येक प्राणी भले बुरे काम करने मे स्वतंत्र सिद्ध होते हैं, × × परन्तु यहा अपना तो कुछ ठिकाना ही नहीं है और सब का मालिक वन वैठा है। परदेशी राजा को यदि शंका न होती तो केशीस्वामी न समझा सकते जो आत्मा को स्वीकार नहीं करता, या आत्मा है ही नहीं ऐसी शंका न होती तो उसे क्यों कर समझाया जा सकता था।

महावीर की भावना

पूर्व भव मे महावीर प्रभु ने ऐसी भावना प्राप्त की थी कि मैं आत्मिक सुख का उपभोग करता हूं और संसार वेदना का उपभोग करता है। जो अपने आनंद का मार्ग स्वयं न जान सका हो उसे समझा कर सन्मार्ग पर लाना कठिन है। यह उनकी नित्य की भावना थी। किन्तु एक ओर से सबको समझा कर ऊँचा मार्ग सुझा देंगे, सबके सब मुझ से भेंट पाकर समझेंगे तथा एकता के मार्ग पर आ जायेंगे, यह दावा तीर्थंकरों का भी न था। पर भावना मे यह बात अवश्य थी कि मैं सबको धर्म का बोध दूं। लेकिन एक राजगृही को भी न समझाया जा सका। × × × धर्म की वात बना कर कहते है कि हमने निर्बल को पुरुषार्थ ज्ञान से पूरा कर दिया, यों बोलने वाले अब भी हैं और उस समय भी वहुत थे, मार्ग तो एक ही कहलायगा कि, प्रथम अपने को सुधार कर फिर औरों का सुधार करने का बीडा उठायें। यदि वह किसी भी प्रकार से सुधार के मार्ग पर न आवे तो उस पर रागद्वेष और अप्रीति तो कभी न करे। क्योंकि जीवों की समझ एक प्रकार की न होकर नाना प्रकार की है। * × × ×

---

* ढूंघा-प्रभु चूँघा चतुर सूंघा रोचक शुद्ध ऊंघा दुर्बुद्धि विकल घूंघा घोर अबुद्ध

ढूंघा-जाकी परम दशा विषे, कर्म कलंक न होई।
  ढूंघा अगम अगाध पद, वचन अगोचर सोई ॥
चूंघा-जो उदास ह्वै जगत सों, गहै परम रस प्रेम।
  सो चूंघे गुरु के वचन, चूंघे बालक जेम ॥
सूंघा-जो सुवचन रुचिसों सुने, हिये दुष्टता नाहि।
  परमारथ समझे नहीं, सो सूंघा जग माहिं ॥

यह राजा अब तो अधर्मी है परन्तु प्रतिबोध का लाभ अवश्य प्राप्त करेगा। इस विषय मे आप उलटा न समझ बैठें कि अधर्म करता हूं तो क्या हुआ कभी सन्मार्ग भी पा लूंगा। अब तो भर पेट अधर्म करलूं फिर सुधर जाऊंगा, धर्मिक वही है जो तत्व को अच्छी तरह समझे × × × यह राजा सूर्योदय होते ही अधर्म की नवीन तलाश मे निकल पड़ता था, थोड़े से प्रयत्न और युक्ति से असंख्य जीव क्योंकर मर सकते हैं, ऐसी नये ढंग की युक्तियां सोचा करता, वह अधर्म के गहरे रंग में रंगा हुआ था, अधर्म ही उसका आचरण था। सवेरे से सांझ तक अधर्म का ही समाचरण करता रहता। उसकी आजीविका भी अधर्म रूप थी। उसका व्यापार भी अधर्मजन्य था। बोलते समय भाषा कर्कश और कठोर निकालता था *। मारो! काटो! टूक टूक करदो, ! इसे भालों मे पिरोदो! सदैव शरीर से इसी प्रकार के बुरे काम करता रहता था। तथा मुंह से न जाने और भी क्या क्या बका करता था। तीव्र क्रोध करते समय रुद्र और चांडाल जैसा शोभित होता था। जब क्रोध में भरपूर हो जाता तब जीवित मनुष्य की आंखें तक

ऊंघा-जाकों विकथा हित लगे, आगम अंग अनिष्ट।
सो ऊघा विषयी विकल, दुष्ट, रुष्ट पापिष्ट ॥

घूंघा-जाके वचन श्रवण नहीं, नहीं मन सुरति विराम।
जड़तासौं जड़वत् भयो, घूघा ताको नाम ॥

डूंघा सिद्ध कहे सब कोई, सूघा ऊघा मूरख दोई।
घूघा घोर विकल ससारी, चूंघा जीव मोक्ष अधिकारी ॥

* अधम्म पलोई, अधम्म पजज्जणे, अधम्मसीलसमुयारे, अधम्मेण चेव वित्ति कप्पे माणे, हण, छिंद, भिंद पवत्तए।

निकाल लेता। नीच प्रकृति और इतना कठोर हृदय था कि किसी पर अनुकम्पा के शब्द सुन कर भी रहम नहीं खाता था। कोहनी तक खून में हाथ रंगे रहते थे यानी खून करके हाथ तक न धोता था। साहसिक इतना था कि अधर्म और परलोक के डर से निर्भय था। रिश्वत और हराम के माल को अभिमान पूर्वक सब के सामने लेता। हत्यारे यथासंख्य खून करके १०।५ हजार रुपये उसे रिश्वत में देदेते और वह आरोपियों को तुरन्त छोड़ देता। माया और कपट का मजबूत क़िला था। फ़ौजदारी केस को उड़ा देता और उन पर से जुर्मफर्द हटा लेता।

वेश बदल कर लोगों को अनेक प्रकार से ठगने के कांड * रचता था। उसके सब काम प्रकृति और धर्म के विरुद्ध थे। सन्मान फेर में आने के लिये कभी तैयार न था यानी सरल और सत्य कार्यों से सोलहों आने नफ़रत करता था। सदाचार से तो इतना अलग रहता था कि किसी बात की मर्यादा ही न रखता था। किसी प्रकार के नियम का बंधन न था। क्षमादिक गुण का नाम तक नहीं लेता था, उसे यह भान तो बिल्कुल न था कि कुटुम्ब का आदमी और कुनबे की लड़की अपनी ही होती है। यहां तक तो मर्यादा लांघ चुका था। असंख्य अधर्मियों मे अपने को वह ध्वजा की तरह ऊंचा समझता था। कुटुम्ब के बड़े बूढों का आदर-सत्कार भूल कर भी न करता था। उसने अपने जीवन

---

* चंडे रोद्दे-खोद्दे-लोहितपाणि-उक्कंचणं-वंचणं-माया नियडे कूडकवडसं-पउगपंडगबहुलसील निवते। निगुणे-निम्मायए निपच्चक्खाणपोसहोव-वासे-अधम्म काऊसमुट्ठिए गुरुणं नो अब्भुट्ठे जणाचयस्स णो कम्मकरं वा भरं वा वित्तिं पच्चतेइ।

में किसी से अच्छा सलूक एक पल के लिये भी नहीं किया था। इस प्रकार का पापात्मा-लोभ-मूर्ति अभिमानग्रस्त-सूर्याभ का जीव केकार्धदेश में श्वेतांबिका नगरी का राजा पूर्व जन्म में परदेशी के नाम से पहचाना जाता था।

इति दशमोऽध्यायः



अथैकादशोऽध्यायः

[तस्स सूरियकंता नाम देवी होत्था, तस्सण सूरियकंते नाम कुमारे होत्था, युवराया तस्स रण्णो-रज्जं-रट्ठ-वलवाहणं, कोसं-सयमेव पच्चवेक्खमाणे विहरइ, तस्स रण्णोजेट्ठे-भाउवयस्संत्ते चित्ते नाम सारही-अट्ठे-अपरिभूए]

चितप्रधान

उसके योग्य प्रधान का नाम चित्त था, यद्यपि चित्त उसका बड़ा भाई था लेकिन किसी कारणवश परदेशी (छोटे भाई) को ही राज्य पद प्राप्त है। चित्त बड़ा भाई है, प्रधान पद पर नियत है। यदि इसे हम अन्तर्दृष्टि से विचारें तो बुद्धि द्वारा यह पता चलेगा कि वास्तव मे अनादि काल से चित्त (मन) को ही प्रधानपद मिला है। मनके बहकाये अनादिकाल से बहकना पड़ रहा है। जहां तक आत्मा अपने स्वभाव मे न आ जाय वहां तक मन और इंद्रियों के द्वारा ही संसार का उपभोग कर रहा है। किन्तु चित्त (मन) द्वारा आत्मज्ञान का रहस्य समझने वाला है। इसी कारण उपयोगिता की दृष्टि से राजा (आत्मा) का बड़ा भाई और प्रधान है। यह कभी केशी स्वामी के पास अवश्य आएगा तब यह चित्त सारथी (प्रेरक) का काम देने वाला है अतः इसे तीनों पद प्राप्त है, चित्त की प्रधा-

नता संसार मे भी है, इसके द्वारा अनेक अच्छे बुरे कार्य होते हैं। यदि एक इंद्रिय भी अच्छी न रहे तो जीव को यह उदासी आजाती है कि मेरा एक अवयव मंद पड़ गया और यह वहम हो जाता है कि इन (इंद्रियों) के विना मैं क्या समझ सकता हू, विशेष परिचय और कहां से पा सकूंगा। इस रंग का बहिरंग भाव आत्मा के पीछे अनादिकाल से लगा हुआ है। जिस प्रकार आंखें कमजोर होने पर देखने के लिये चश्मे द्वारा सहायता ली जाती है फिर उपचक्षु का व्यसनी उस के विना कुछ भी नहीं लिख पढ़ सकता पढ़ते समय उस की सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार की भ्रमणा मे आत्मा भी अनादिकाल से पड़ा हुआ है, जिससे आत्मा को अपनी अनन्त शक्ति का कुछ भी भान नहीं है और मन तथा इंद्रियों की सहायता से अब तक ज्ञेय को जानता रहा है। इस की यह भी धारणा है कि चित्त शायद मेरा ही अश है और इस की शक्ति से ही मैं सब कुछ जानता हू। यदि ये इंद्रियें दरहम वरहम हो जायं तो मेरी शक्ति का यन्त्र बंद होकर लुप्त प्राय हो जायगा या मेरी शक्ति कम हो जायगी यह कोरी विभ्रमता है। क्योंकि इंद्रियां तो पर वस्तु हैं, तब मन द्वारा ऐसा विकल्प खड़ा करता है, या अब यहा तककी योग्यता इसमे रहगई है। यद्यपि यह सब आत्मा के द्वारा ही जाना गया है परन्तु अब तो यह गुण इंद्रियों मे ही मान वैठा है, इस प्रकार भूले भटके आत्मा की यों वहिरंग रचना वनी हुई है। इनकी वृद्धि से अपनी वृद्धि मानता है, और इद्रियों मे आत्मसत्ता का संचार अनादिकाल से मानता चला आया है पर वहिरात्मभाव के कुचक्र मे पडा है और यह नही समझता कि इद्रियों की पुष्टि मे राग-द्वेष वढता है, रागद्वेष की

बढती में कषाय की बढ़ती होती है, जिस से आत्मा की शक्ति घटती जारही है। इस प्रकार अपने मे शक्ति-तत्व न मान कर इंद्रियों में ही सर्वस्व मानने को शास्त्रकार उसे बहिरात्मा कहते हैं। परवस्तु बाह्यवस्तु या बाह्यस्वरूप मे ही आत्मत्व की मान्यता बहिरात्मा है उसे अपने में समाई हुई समझता है, उसी आधार पर देह शक्ति को अपनी शक्ति मानने लगा। और अधर्म-हिंसा-झूठ-कपट के द्वारा अपनी पोषणा करने लगा और मेरी शक्ति, मेरा अनुभव बढ़ रहा है, इस के फेर में पड़कर शरीर और आत्मा को समन्वित समझने लग पड़ा परन्तु आत्मा तो मूलरूप मे शुद्ध परिणामी एवं स्फटिक की तरह-स्वच्छ और मलरहित है। इस हाड़चाम वाले निंद्यकार्मण और औदारिक (स्थूल) शरीर से पुष्कर पलासवत् बिल्कुल अलग है। पर परिणति से अशुद्धभावों के योग से कर्मविपाक को भोगता हुआ उसमें जुड़ा हुआ है और पर शक्ति मे अहंमन्यता रखता है। जैसे किसी ने कहा भी है कि—

तरुवर पर दोय पंखी बैठे, एक गुरु एक चेला।
चेले ने तो चुन चुन खाया, गुरु निरन्तर खेला॥

+ + + यह चित्त प्रधान भी बड़ा ऋद्धिमान है, बहुत बड़ा वेतन प्राप्त करता है। प्रधान को अधिक वेतन इस लिये मिलता है कि वह अपनी नौकरी मे से प्रजा की अनेक कमियें पूरी करदे। इसीसे नगर निवासी उससे प्रसन्न थे, और वे भी एक से एक बढ़ कर समृद्धिशाली थे परन्तु चित्तसे सब नीचे दर्जे के थे। वह प्रधान सबसे अधिक बुद्धिमान था और अपनी बुद्धिका नित्य सदुपयोग किया करता था। + + + वर्तमान जीवन मे न्यायाधीश के पद

को पाकर बुद्धिका व्यय बहुत से उलटे टेढ़े मार्ग में खर्च करते हैं, कुयुक्ति के प्रयोग से अधर्म और अन्याय के आचरण से पूर्वजन्मों के पुण्य को खा-पी कर घटा रहा है। विकासवाली बुद्धि से अच्छा काम न करे तो अपने गले पर शस्त्र मारने जैसी भूल करने वाले की बुद्धि किस काम की है। उलटा काम करनेसे कुशाग्रबुद्धि भी लाभ के कारण से वंचित रह जाता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र मे भगवान् महावीर यह फर्मागये हैं कि जो महान् मतिमान् प्रज्ञाशील थे परन्तु वे भी प्रवृत्तिमे लिप्त होकर नरक चले गये। अपनी कुयुक्ति से लाखों मे हाँ हाँ कराना और बात है मगर प्रज्ञाशील तो वही है जिसकी मति को माया मे, फिसल जाने का स्वभाव नहीं है × × × यह चित्त प्रधान बड़ा ही चतुर है प्रज्ञाशाली, प्रतिभाशाली है। कभी वहसाम-यानी विरोधपक्ष वाले से समता करके अपना काम निकाल लेता है। दंड–यदि इस युक्ति से कोई न माने तो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक दंड ठोक देता है क्योंकि जो नर्म वचनसे नहीं मानता है वह क्रूरता से ही ठीक होता है। भेद–यदि उपरोक्त दोनों क्रियाओं से समझने वाला न हो (अपनी कार्यसिद्धि न हो सके) तो तीसरी भेद बुद्धि से काम लेता था। यानी दूसरे के समुदाय मे फूट डाल कर सबलपक्ष—बड़ी सत्ता को अपने मे मिला लेता और अपनी कार्य सिद्धि करता भंडार मे लक्ष्मी की वृद्धि क्योंकर होसकती है इसमे सफल प्रयत्न होना उसके लिये कुछ भी कठिन न था जो क्रूरता से व्यापार द्वारा न्याय रहित साधनों से धन कमाता था उसे प्रधान डरा कर अपनी इच्छा पूरी करता, अधिक क्या कहा जाय सम्पत्ति शास्त्र मे तो वह पूर्ण निपुणता प्राप्त था। यद्यपि लक्ष्मी पूर्वपुण्य से मिलती है फिर

भी वह अनुकूल और न्यायसंगत सयोगो द्वारा अर्थ पुरुषार्थ का अर्जन करने मे चारो बुद्धियों से काम लेता था।

चार बुद्धियें

(१) औत्पातिकी—किसी नवीन तर्क को खड़ा करना,

(२) वैनयिकी—नम्रता या निरभिमानता से कार्य गांठना।

(३) कार्मिकी—प्रत्येक कार्य मे कर्मशीलता द्वारा कुशलता प्राप्त करना।

(४) पारिणामिकी—पुराने अनुभवों द्वारा परिपक्व होना।

जिस परदेशी राजा के हाथ खून मे सने रहते थे, और किसी का विश्वास तक न करता था, उस को चित्त प्रधान पर पूर्ण विश्वास था, क्योंकि जिसे किसी पर विश्वास न हो उसे धर्मसाधन का अवसर मिलना कठिन है और पूर्ण सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है इसी से सच्चा विश्वास होता है परन्तु यदि किसी मे भी विश्वास न हो तो फिर आत्मा को उन्नति के शिखर पर लाने का अवकाश कहां पा सकता है।

आशय यह है कि उस राजा की विश्वास भूमिका मे चित्त प्रधान उच्च स्थान प्राप्त है। राजा के सब कार्य उसी पर निर्भर है बहुत से मनुष्यों की यह धारणा है कि हम किस पर विश्वास करें, हमे तो इस जगत मे कोई भी विश्वास पात्र नहीं जचता। जिसे हमने मानलिया बस वही सत्य है। मगर आपकी मान्यता सच्च है या झूंठ। और आपकी मान्यता ही सत्य क्यों कर हो सकती है, इसे समझने के लिये किसी पर विश्वास है या नहीं' अन्यथा विश्वास न हो तो धर्म को कभी न पासकेगा। + + + बड़े कुटुम्ब मे असंभव और अचिन्त्य घटना तक होजाती है उसका निर्धारण

चातुर्यतासे ही होता है चित्त प्रधान राज्य और कुटुम्बके चाहे जैसे गुप्त और प्रगट-उलटे टेढे उलझन मे पड़े हुये कार्यों का निर्धारण कर सकता था। अतः परदेशी को चित्तपर दृढ़ विश्वास था। उसे इसीके सहयोग से धर्म पाने का सयोग मिलने वाला है। चित्त ने भी राजा को विश्वास दिलाने योग्य पात्रता प्राप्त की है। वह भी बड़ी योग्यता और सावधानी से। इस कारण परदेशी का वह रत्न भूत प्रधान विश्वासपात्र होगया है। + + उपासकदशांग सूत्र मे भगवान् फर्माते हैं कि पहले जमाने मे गृहस्थ लोग गृहस्थ-धर्म को समझ कर उसे प्राप्त करने की कितनी योग्यता रखते थे जिसके उदाहरण की पूर्ति आनन्द तथा कामदेवादि श्रावकों के जीवन से हो सकती है। उसकी अनुभवशालिनी बुद्धि धर्म संस्कार के पाने से पहले भी मार्गानुसारिता मे कितनी निर्मलता प्राप्त थी कि गाव के गूढ़ और गुप्त रहस्य भरे कामों का नवेड़ा एक पलमे कर देते थे तथा मध्यममार्ग लेकर सन्तुष्ट करते थे और वह न्याय दोनों पक्षों को मान्य रहता था। मस्तक काटनेवाला क्रूर शत्रु भी चाहे क्यों न हो वे उसे भी सरल मार्ग बताकर शान्त और प्रेम मयी बना देते थे। वे इतने निस्पृह बेलाग और खालिस हृदय थे कि विरोधी भी उनक लोहा मानते थे। पात्रता, निपुणता तथा चतुराई मे इतने विशाल थे कि लौकिक पक्ष मे सर्वदा लोकों के हितेच्छु सिद्ध होते थे। किसी का भी बुरा न हो पावे ऐसे विचार युक्त आनन्दादि श्रावक धर्म पाने से पहले भी पवित्र बुद्धि के धर्ता थे। इसी भांति यह चित्त प्रधान भी राजा के गूढ रहस्य तथा गुप्त निर्णय के कठिन से कठिन मार्गों को भी सुगम बना छोड़ता था। सच पूछो तो चित्तप्रधान राजा की मूंछ का बाल बना हुआ था। राजा अपने

विश्वास पैदा कर दिया है। यह सभ्य व्यवहार अपनी पात्रता से ही पैदा किया जा सकता है। धर्मतत्व को समझने से पहले ही इतनी योग्यता प्राप्त करली है। बीज को भूमि मे अर्पण करने से प्रथम कमा कर भूमि को कितना योग्य बनाया जाता है। जिस से पृथ्वी मे बीज पैदा करने की पात्रता आजाती है।

[ते णं काले णं ते णं समए णं, कुणाल जणवय होत्था, कुणालए जणवए सावत्थी नामं नयरी, तत्थ कोट्ठए नाम उज्जाणे, तत्थ ण सावत्थिए णयरीये, पएसी रण्णो अंतेवासी जियसत्तु नाम राया होत्था।]

उस काल और उसी समय की बात है जब कि कुणाल देश की सावत्थी * नगरी मे परदेशी राजा का परम मित्र जितशत्रु नाम राजा राज्य करता था। उस नगर के ईशान कोण में कोष्टक नामक बाग था। महापुरुष वहा पधारने वाले हैं। परदेशी राजा की जितशत्रु नरेश से गुरु और शिष्य जैसी घनिष्ट मैत्री है। ×× अनन्त काल से कर्मों के आवरण द्वारा बहुत कुछ उलट फेर हो गया है और एकेन्द्रिय पर्याय तक मे अनन्त काल तक कृत कर्म का आवरण प्रति समय अनेक रस देता रहा है और अमुक फल को निष्फल करने की शक्ति तो आत्मा मे निरन्तर रहती ही है। जिसे उदय भावी क्षय कहते हैं। यदि इतने अंश मे स्वतंत्रता पूर्वक कर्म परमाणुओं को दूर करने की स्वाभाविक सत्ता न हो तो आत्मा अपने स्वभाव में न टिक कर कुछ का कुछ हो गया होता। + + + जहा तक पूर्ण दशा प्राप्त न कर सका है वहां

* बलरामपुर से १० मील, वर्तमान सेट मेट, (ज़िला गोंडा युक्त प्रान्त के अन्तर्गत) बुद्धचर्या पृ० ३७६॥

तक ज्ञानावरणीय कर्म का फल अवश्य भोक्तव्य है। उसके सन्मुख उदय कालीन फल आने पर अन्तर मे वीर्य की जागृती हो उठती है और यह वीर्यकी जाग्रती आत्मामे सदासे है। अमुक कर्मका उदय आने पर अमुक अंश मे निर्जरा करने की शक्ति भी है। कारण आत्मा एक है, और अन्य वस्तुएँ अनन्त है, पर अनन्त पदार्थ रूप न होते हुये भी आत्मा के अनन्त गुण है, साथ साथ देहादि के परमाणु भी अनन्त है और अनन्त अणुओ से कार्मण शरीर बना है, इस तरह के अनन्त अणुओं से १४ ब्रह्माण्ड भरे पड़े है और उन अनन्त पदार्थों पर यदि शक्ति से वीर्य की स्फुरणा करने भर की भी शक्ति अपने अधिकार मे न होवी तो आत्मा जडीभूत होजाता। क्यों कि कोई वस्तु परवस्तु रूप नही हो सकती। कारण द्रव्य का लक्षण सत् है वह द्रव्य सत् होने से अपना धर्म नहीं छोड़ता। यानी परपदार्थ रूप नहीं होता। जब आत्मा मे अनन्त गुण है जिसमे ज्ञान गुणका निदान करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है, उसका पड़ा हुआ आवरण प्रति समय फल देने मे समर्थ है, तथापि आत्माकी वीर्य शक्ति इतनी प्रबल है कि ज्ञानको जडीभूत नहीं होने देता। चाहे आत्मा गहरे आवरण मे भी क्यों न हो जाय परन्तु थोड़ा२ करके उस आवरण को नष्टकर देनेकी शक्ति तो सदैव रहता है। संसार चक्र मे घूमते रहते भी अपने गुण को उज्वल करने मे हमेशा सशक्त है। इतना जितशत्रुत्व आत्मा के सहवास से कभी जुदा नहीं होता। × × × एकबार परदेशी राजा को यह जिज्ञासा हुई कि अपने मित्र के पास भेंट के उपहार मे किसी वस्तु को चित्त प्रधानके हाथ भेजना चाहिये। बहु मूल्य और महान पुरुषों के उपयोग मे आने योग्य वस्तु भेजे, यह निश्चयकर

उत्तम भेंट तैयार की एवं चित्त को बुलाकर कहा कि चित्त ! तुम सावत्थी नगरी चले जाओ और यह मेरी भेंट मेरे मित्र जितशत्रु को दे आओ। तुम दोनों मिलकर कुछ राजकीय परामर्श भी करना, और मित्र के नये पुराने अनुभवों से मुझे सन्तुष्ट करना चित्त यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और यों वोला कि आपकी आज्ञानुसार कार्यों को करने के लिये अभी प्रयाण करूंगा और वहा शीघ्र पहुँचूगा। ××× यह आत्मा अनादि काल से रुलता आ रहा है, इससे मुक्त होने के लिये अमुक अंश मे तो शक्ति का विकाश करने के लिये तैयार ही है, पर विघ्न सन्तोषी न वन कर कुछ अधिक विकास करने के हेतु अनेक उपाधियों से हटता जारहा है। उदारता पूर्वक यदि इतनी भेंट भी अर्पण न करे तो ज्ञानात्मा और चरित्रात्मा क्योंकर वढ़ सकता है। यथा

त्याग विराग न चितमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग वैराग्यमा, तो भूले निज ज्ञान॥

अन्तर मे उदासीनता न हो उस शक्ति का त्याग भी नहीं किया है और चित्त मे त्याग-वैराग्य की प्रवृत्ति न हो तो उसे अन्तर ज्ञान क्योंकर हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि त्याग वैराग्य को ही सव प्रकार का सन्मान देता रहता है किन्तु आत्मा के धर्म मे लक्ष्य न पहूचे तो रूढ़िगत रसों मे वधकर इधर उधर खाल खिचाई करता रहे पर अधिक लाभ की आशा न वंधे तो इतना अवश्य होसकता है कि मूल को उगाने के लिये कुछ क्रिया करते, भूमी अच्छी वन सकती है पर आत्म-धर्मरूप वीज वोए विना वह उत्पन्न क्योंकर हो तथा वीज के विना क्रमशः फल कहा

अथ द्वादशोऽध्यायः

'मैं गुणविशिष्ट आत्मा हूं' यदि यह न समझ सके तो अपने स्वरूप का कहीं भी आरोप कर के कहता है कि 'यह मैं हू' इस प्रकार 'अहंभाव' रखकर कहीं न कहीं अपने को क़ायम रखना ही पड़ेगा। तब शरीर और उसके अवयवों मे कल्पना करता है कि 'यही मैं हूं' यों परवस्तु मे अपनी मान्यता रखने वाले को वीतराग ने उसे अनादिकाल का 'परदेशी, बताया है।

'आत्मामे, तीनों काल का अनुभव करने के लिये 'अनन्तज्ञान' है। इसे स्फुट करने के लिये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा रख कर समस्त लोकालोक का पाठ स्मृति पथ मे आ सकता है। परन्तु 'परवस्तु मे रमण' करनेसे अब तक अपनी शक्तिका पूर्ण माहात्म्य नहीं जान सका और हताश होकर विभ्रमता से यह मान बैठा कि मेरी शक्ति सीमित है और थोड़ी है। तथा परवस्तु मे विशेष महत्व मानता है। अपनी बुद्धि का परमे अरोपण कर के भूल भुलैया मे पड़ गया और अब परमे अपनी शक्तिका विश्वास रखने लगा परन्तु यदि वह अपने 'चित्त' को वश मे करले तो अपने अन्तर मे 'ज्ञान' प्रगट करने की दशा को पा सकता है। आपका आत्मा जब अपने स्वरूप को प्रकाश मे लाने की धारणा करता है तब चित्त के द्वारा पर पदार्थों को एकदम त्याग देता है। यानी पर

पदाथ मे जो भोग्य वृत्ति है उसे बिल्कुल त्याग दे तब कहीं अच्छे साधु पुरुषों की संगति करने को मिल सकती है। इस के अनन्तर अनेक प्रकार के अनुभव करने का अवसर हाथ आसकता है। ×

सावत्थी में

चित्त भेंट लेकर सावत्थी में आ पहुंचा और वह उपायन राजा की सेवा मे अर्पण कर दी। राजा ने 'चित्त' के रहने का प्रवन्ध ख़ास राज मार्ग पर किसी ऊंचे और सुंदर आवास में कर दिया। इस अवस्था मे उस नगर के बाहर 'केशी स्वामी' नामक महापुरुष चार ज्ञानके धारक-आत्माके मूल स्वरूप को समझने समझाने वाले उच्चकोटि के अनुभव ज्ञान से समृद्ध-वस्तु तत्व को समझाने की भरपूर शक्ति से अलंकृत-नगर के बाहर वन में पधारे। + + +

अनादिकाल का चित्त तुच्छ और छोटी वृत्ति का आदर करता रहा है। इसी कारण वह अभी शिक्षा और नीति की दशा मे है। परन्तु राजमार्ग रूप विशाल दृष्टि से मन को संसार भाव जानने के लिये ऊंचा बनाकर खुला छोड़कर तथा उसे समझने का अवसर देता है कि आत्मन्! बता तेरा स्वरूप रागादिमय है? या ज्ञान-ध्यान-चिद्रूप है? सुखमय है? इस प्रकार चित्त को स्थापन करे तो आत्मज्ञान समझने का मार्ग नजर पड़ सकता है, किन्तु अभी चित्त प्रधान के संस्कार धार्मिक संस्कार नहीं हो सके हैं। धर्म यानी 'वत्थु सहावो धम्मो' "वस्तु का स्वरूप या आत्म-तत्व का मूल स्वभाव धर्म है'। जिस में जड़ का स्वभाव वर्ण-गंध-रस-स्पर्श और आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-अज-अजर-अमर और

अविनाशी है। स्थूलरूप में भाव की वृत्ति और मनोरथ से होने वाला आत्मानुकूल पुरुषार्थ धर्म है। यद्यपि आत्मा के अनन्त धर्म या गुण हैं परन्तु उनमे ज्ञान मुख्य है। यह धर्म निज और पर के जाननेकी शक्ति से अद्वितीय पूर्णता प्राप्त है इस ज्ञानके प्रगट करने के साधन को 'धर्म' कहते हैं और स्वभाव के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना अधर्म कहलाता है। आशय यह है कि चित्तप्रधान को आत्म ज्ञान युक्त सर्वविषयज्ञ मुनि का संयोग मिलने वाला है। + + +
जहां तक वालक छोटा है वहां तक माता पिता की आज्ञानुसार काम करता है। पढने वैठता है तव मास्टर की आज्ञा का पालन करने लगता है। धन कमाते समय आमदनी की तरकीव वताने वाले की वात मानता है. वीतराग कहते है कि संसार के अज्ञात मार्ग को जानने के लिये औरों से सभी कुछ पूछता है। लाभ का मार्ग पूछ कर उस का अनुसरण करता है तव कहीं संसार के मार्ग से परिचित हो सकता है। अनादिकाल से संसार मे रुलता हुआ भी इस का 'पता' 'पूछ पूछ कर' लगाता रहता है। तव फिर अपने स्वभाव मार्ग को सद्गुरु से पूछे विना क्योंकर पासके। आत्मा अपने मूल स्वभाव के स्वरूप को यों ही नहीं समझ सकता इस लिए गुरु के प्रवल निमित्त कारणकी पूरी आवश्यकता है। अपने स्वाभाविक क्षयोपशम से भी जान लेगा उस समय आत्मा जानने के समय जो कुछ समझा है उतना कुछ वता देगा पर अपनी शक्ति से अधिक कुछ नहीं जान सकता अतः सब से पहले पथ प्रदर्शक की आवश्यकता है परन्तु वह गुरु पूर्ण अनुभव समृद्ध होना चाहिए।

औषधालय का उदाहरण

औषधालय में ५००० औषधियें हैं, इन के सन्मुख इतने ही रोग हैं परन्तु रोगी स्वयं अपने रोगका निदान नहीं कर सकता। उसे यह ज्ञान नहीं है कि किस दवा से मेरा रोग मिटेगा। रोगी अपनी उक्ति से बोतल ले कर पीने को उद्यत हो जाय तो क्या आरोग्यलाभ हो सकता है? कभी नहीं। बल्कि अनजान दवा को खाकर मौत का सामना करना पड़ता है। कायदा तो यह है कि रोगको पहचान कर वैद्य औषध प्रदान करे तो रोग नाश हो सके। इसीप्रकार सब बातों में संसार मार्ग के लिये चतुर पुरुषों से पूछकर निर्णय करता है तब अनादि काल का भूला हुआ आत्म-स्वभाव से नितान्त भ्रष्ट जीव अपनी मर्जी से निरंकुशता या स्वच्छन्दता से आत्मा को जानना चाहे तो क्योंकर जान सकता है। डाक्टर समस्त रोगों को दूर कर सकता है या नहीं इस के निर्णय की तो कुछ आवश्यकता नहीं किन्तु यह दृष्टान्त भाव डाक्टर पर भलीभाँति घटता है। × × × मूलमार्ग साधु समागम से ही जान सकता है परन्तु जिसका लक्ष्य अन्तर्भाव की श्रेणि पर चढ़ने का हो मार्ग वह ही पाता है किन्तु जिसने कुछ थोड़ी सी निर्जरा की हो तो उसे नैसर्गिक दर्शन हो सकता है। जिस से गुरु का समागम पाए विना भी आत्मस्वरूप की झाँकी पा सकता है। लेकिन महान् व्यक्ति का अनुसरण किये शास्त्ररूप दवाखाने मे पहुँने विना अपनी उक्ति से अपनी दवा करना चाहे तथा संसाररोग मिटाना चाहे तो ऐसी भ्रमणा मे जन्म मरण करना ही पड़ेगा।

अध्यात्मिक न्याय अध्यात्मिक पुरुष से मिलता है, इस संबंध में एक ओर यह कहा गया है कि-राग-द्वेष मिटे तो ज्ञान प्रगट

हो तब दूसरी ओर यह कहता हो कि आत्मा के माहात्म्य को समझाने वाले ज्ञाता दृष्टा का होना भी अत्यावश्यक है। पहले इन दोनों पहलुओं को समझो। + + + आत्मा - जड़ समूहसे अलग है, इस मे तो कोई सन्देह नहीं है, किन्तु पर वस्तु के आवरण से अज्ञान का पर्दा छाया हुआ है, तथापि विचार करने से कुछ कुछ मालूम होता है। बुद्धि और विवेक के बल से कुछ भूतकाल की बातें जान सकता है। जिस प्रकार कोई ७६ वर्ष की आयु का वृद्धा है उसने वर्तमान काल में जिस ऋतु-काल की घटना तथा जगत् का अनुभव किया है उस को यदि दुहराने लगे तो ७० वर्ष तक की सब घटनायें उस की आंखों के सामने आ सकती हैं। सब वस्तुयें उस के सामने चित्र की तरह तैरने लगती हैं और उन को कहते समय सब का कथन एक दम नहीं कर सकता। सब घटनाएँ स्मृति पथ मे अवश्य है परन्तु लेखबद्ध होना कठिन है। इसी प्रकार साधुसंगति से तथा आत्मा के अनुभव से उन का अधिकांश भाग कहा सुना जा सकता है।

साधु सत्संग का महत्व

साधु संग बिन कैसे पाइये, परम महारस धाम री।
कोटि उपाय करे जो वीरा, अनुभव कथा विश्राम री॥

साधु पुरुष का संग किये बिना जन्म-मरण का कुचक्र और मन की व्याकुलता नहीं मिटती। क्यों कि ७० से ७२ वर्ष तक या इस से अगाड़ी के समय की बात पर है तब बाल भाषा मे या गर्भ की अवस्था मे कुछ तो अनुभव हुआ ही था। उस समय आत्मा कुछ जड़ न था अर्थात् तब भी आत्मा ही था। इन सब अनुभवों को यदि पुष्पों की तरह चुनकर रख लिया जाय तब दूसरा भव

धारण करते समय क्या कुछ नवीन आत्मा होगा। यह वही आत्मा है और अनादिकाल का है तथा यह पर्याय रचना भी अनादि है दूसरे भव के भाव और अनुभव प्राप्त उसका परिज्ञान अपनी ही आत्मा से संबंधित होगा अन्यथा नहीं। यह आत्मा अनन्त की गोद मे निवास करता आया है। भव भ्रमण में अनन्त काल वीत गया है। आशा-तृष्णा-माया-मोह मे घिर रहा है। यदि उन सब का माप करने लगे (द्रव्य-क्षेत्र काल भाव की मर्यादा बांध सके) तो यहां तक का काल मापा जा सकता है पर इन सब का अनुमान (ज्ञान आत्मा) करेगा, जड़ वस्तु से यह काम न होगा। उस समयमे मैं नहीं था-जड़ था यह कब कहा जा सकता है। और अनुभवशाली चेतन मे संशय करने के लिये स्थान कहां है। जड़ और चेतन ये दोनों अपना स्वाभाव किसी भी समय छोड़ने वाले नहीं हैं। अतः वर्तमान काल में अनादि काल के ज्ञेय विभाग को समूह रूप से एकत्र करो। उस समय जान सकोगे कि कहां२ जन्म होगा, कर्म की पूंजी से अपना पता लगाओ। यों अनादि अनन्तकाल मे वर्तमान सहित उस अनन्त काल को सामूहिक रूप में यदि एकत्र कर लिया जाय तो उसमें तीनों काल का समावेश हो सकता है।

जन्मान्तर की याद

जब इस भव में जन्म लिया तो पिछले जन्म को एक दम भूल गया, मगर आगे का ज्ञान करना तो अनन्त है, जिस मे भूल की लय भी जुड़ी हुई है। यदि वह लय किसी तरह भिन्न हो जाय तो पहला ज्ञान और दर्शन एकत्र होकर मिल जायगा। जहां जहा मारा मारा फिरा है वहा वहां का सब कुछ अनुभव खुद ही तो किया

है परन्तु उस मे भूल की लय मिल गई जिस से नवीन जन्म के होने पर पिछले जन्म का स्मृतिज्ञान नष्टप्राय: हो गया है। लय कर्म का आवरण बाहर से लय कर डालता है, परन्तु अन्तर की स्मृति राखसे ढँपी हुई आग की तरह ज्यों की त्यों रहती है। तथा आत्म-परिणति का उलट फेर हो जाने से वस्तुज्ञान नहीं हो पाता परन्तु भूल की लय हट कर सब ज्ञान सम्यक् प्रकार से आवरण रहित हो जाय तो देव-मनुष्य- पशु और नरक आदि सब भूत कालीन भावों को हथेली पर रक्खे आमले की तरह देख सकता है। उस समय आत्मा मे से लय का खोज मिटा रहता है। पता लगने पर जहां जहां जन्म-मरण किये हैं वहा निर्धन-चांडाल-सडियल कुत्ता आदि जिस२ भव मे जो जो जन्म किये हैं उन की लय निकलने पर वे सब सूर्य की तरह एक दम चमक पड़ेंगे। उस समय किसी भी जन्म की साधारण या विशेप अवस्था पर राग-द्वेष न होगा। अत: इस पहलू से तीन विषयो की स्थापना सिद्ध होती है।

१ आत्मा तीनों काल की बाते जानने मे समर्थ है।

२ पिछले काल की विस्मृति की लय पड़ी हुई है और उसका निकाल फैंकना अपने हाथ की बात है।

३ नरक-भव पशु-भव मनुष्य-भव देव-भव ये सब नश्वर जान लिये जायें तो किसी भी वस्तु या व्यक्ति पर राग-द्वेष करने को जी न चाहेगा। इस फलित मे तीन बातें समझ पाने योग्य निकल पड़-ती हैं। + + + आत्मा नित्य है, परन्तु इसे चटोरे बालक की तरह अपना नित्यत्व मालूम नहीं होता और अनुकूलता-प्रतिकूलता मे ही चिन्तित सा रहा करता है। अनुकूल संयोग पाकर इतना भूल कर फूलता है कि मानो उसे सदा वहीं रहना है। अनुकूल सामग्री का वियोग न होगा। अरे तू स्वय ही नित्य है इस से

अनुकूल अवस्था होगी, यह अवस्था टिकाऊ है यह समझ कर अवस्था बढ़ाता रहता है। दुःख की ओर अस्थिरता की अवस्था अनित्य है पर उसे निश्चित और नित्य बनाना चाहता है। अर्थात जैसी अपनी अवस्था नित्य है वैसी ही कल्पना औरों की भी चाहता है। प्रतिकूल प्रसग में द्वेष और अनुकूलता में राग करते करते अनन्त प्रसंग रच डाले। यदि उसे निश्शल्य मन से ज्ञान द्वारा सुलझ सके तो प्रीति में कीलित न हो और अरुचि तथा द्वेष को भी निकाल भगाने मे हस्तसिद्ध हो सके।

इस का आशय यह है कि-आत्मा में अनन्त काल को जानने का ज्ञान है अवश्य पर उसे भूला है। इसी से एक को देख कर दूसरे को भूल जाता है। अन्य को देख कर तीसरे को भुला देता है। अतः अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों की प्रवृति में ज्ञान को रोकता चला आया है।

पद्मनी स्त्री और सड़ियल कुत्ते ने तुम्हें कब कहा है कि हमारी अवस्था पर प्रीति और अप्रीति करो। किन्तु अनादिकालके अभ्यास अविकल स्थिति को तोड़ कर रुकता चला आया है तथा वह भी विभाव दशा मे फंस कर और यह भी बहुत पहले से जानता रहा है कि मुझ मे कोई भी सम्मिलित नहीं हो सकता। हाय! मैं थोड़ी शक्ति वाला हूं, गर्भ से पैदा हुआ हूं, आठ नौ मास रो पीट कर छटपटाता रहा। कहीं सोया कहीं बैठा और कहीं हँसा खेला भी मगर इन पिछली बातों से भी बिल्कुल बेखबर है। उस समय आत्मा चेतन था या जड़? उस समय आत्मा रहते हुए भी ज्ञान का सफली करण राग द्वेष रहने पर न कर सका। अत एव ज्ञान दशा को भुला कर पर वस्तु मे-परपरिणति मे रुककर सीमित बंदि-वान बन गया। परन्तु आत्मा मे ज्ञान का सद्भाव अनन्त काल से

उसी प्रकार है जरा सा भी अन्तर नहीं आया है यदि प्रयत्न किया जाय तो स्वच्छ वस्त्र की भाँति हो सकता है पर खेद है सन्त समागमरूपी साबुन मिलने पर भी वह आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं करता यदि अब भी स्मृतिपथ में सत्संगति की झलक पड़ जाय तो परभव मे से कुछ क्षेपण कर सके क्योंकि आप की बुद्धिमत्ता की अपेक्षा सन्त पुरुषों के अन्तर ज्ञान की अकाट्य युक्तिये अधिक प्रामाणिक है जिसे समझने के लिये पश्चात् उन के सत् शरण को पाकर प्रगट मे आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है। ×× चित्त प्रधान जितशत्रु के सहवास मे ऊंचे महल मे आनन्द मग्न है। उसकी दिव्य दृष्टि किसी अभीष्ट वस्तु पर पड़ने वाली है।

जाति की उत्तमता

यहां कोष्टक-उद्यान मे सत्पुरुष महात्मा पधारे है, जिनका अमृत के समान मीठा सहवास है, जो भव व्याधि मिटाने वाले डाक्टर हैं। आपने ससार के अनुभव रहित अंधों को सम्यग्ज्ञान रूप चक्षु देकर उनको कृतार्थ किया है। ××× ये मुनिराज पहले क्षत्रिय राजकुमार थे उस समय से ही बालब्रह्मचारी है, अनेक गुणों से समृद्ध है। यदि इनके गुणों का अन्तःकरण से अनुकरण करे तो जन्म मरण के फेर मिट सकते है। अधिक क्या कहा जाय ये सत पुण्यवान् और गुणवान् है और आत्मा के धर्म को समझने वाले ही पुण्य प्रकृति सम्पन्न होते है। मनुष्य को गुणी बनाने के लिये पुण्य प्रकृति निमित्त भूत है। इसके अतिरिक्त सन्तजन गुण से ही होते है, और सब सन्त गुणयुक्त होते हैं परन्तु ये मुनि तो पुण्य और गुण दोनो प्रकृतियो से

अलंकृत हैं। × × चित्त प्रधान जिस राज मार्ग वाले महल में ठहरा है उस के पास भी पुण्य की प्रकृति बहुत ऊंची है। २३वें तीर्थंकर के शिष्य के प्रशिष्य श्री केशीमुनि आत्मज्ञान के प्रकाशक आचार्य पद के धारक हैं। इस आचार्य पद को उच्च जाति में जन्म लेने वाला ही पा सकता है परन्तु ये मुनि सब गुणों से पूर्ण जाति सम्पन्न हैं। जिसकी माताके पक्ष में उच्च कोटिकी सच्चरित्रता हो यानी माता के चरित्र मे किसी प्रकार का कलंक नही होता क्यों कि उच्च जाति मे जन्म पाकर मनुष्य यदि कुछ भूल करदे तो लोग उसकी माता को याद कराते हैं और कहते है कि यह अनुचित कर्म तुझे शोभा नहीं देता जिसे सुनकर उसकी मति ठिकाने पर भी आ जाती है तथा दुराचार से घृणा तक हो उठती है।

इसी प्रकार पिताके सुशील चरित्र-कर्म-सदाचारको उत्तम कुल कहते है। हीन कुल यानी चरित्र हीन पिता के वीर्य से जन्म लेना भयकर और तीव्र पाप का उदय है। जो माता पिता के सच्चरित्र-समन्वय मे पैदा नहीं हुआ है वह जल्दी २ सीधे मार्ग पर नहीं लगाया जा सकता। कैटु के बीज से उसी नाम का वृक्ष होगा जिस का कुबड़ापन कभी नहीं मिटता। उसके फल कड़वे और छाया में कोढ़ होता है। अतः उत्तम कुल और जाति से उत्तमता का गुण मिलना पुण्य के उदय की बात है परन्तु महा मुनिराज के दोनों ही पक्ष निर्मल तथा पवित्र हैं। सच्चरित्र और निष्कलंक खानदान मे उनका जन्म हुआ है।

श्री राजीमती का उदाहरण

प्रभु नेमीश्वर भगवान पशुओं की पुकार सुनते ही दया और अनुकम्पा लाकर पशु-वर्ग को बंधनों से मुक्त करने का संकेत करते

हैं। भगवान् अरिष्टनेमि बाल-ब्रह्मचारी और तीर्थंकर पद प्राप्त हैं। संसार के उभय बंधनों से निवृत्त होकर वर्षीय दान करते हैं और फिर महा व्रतों-की दीक्षा लेते हैं। जिनके वियोग मे राजीमती कन्या उदास और खिन्न रहने लगी तथा यह प्रतिज्ञा स्वीकार करली कि-जिस दिन प्रभु को आत्मज्ञान प्राप्त होगा उस दिन मैं विषय वेष्टित संसार छोड कर आर्हती दीक्षा लूंगी।

एक दिन कुमार रथनेमि भगवान् का छोटा भाई राजीमती को देखने आया और उस के रूप से अत्यंत मोहित होकर बोला कि वराननं ! मुझे अपना वर समझ और स्वीकार कर, (पाणीग्रहण कर) फिर दोनों संसार के वैषयिक आनद लेंगे। नेमीश्वर को तो बिल्कुल भूल जा, और मुझे अपने सुकोमल प्रेमी हृदय मे स्थान दे मनोमोहक प्रेम का पात्र बना। राजीमती ने पागल या विकृत पुरुष की सी बातें सुन कर उस समय यह उत्तर दिया कि आपके प्रस्ताव पर कुछ विचार करना है अत' ठीक इसी समय कल आइयेगा।

अगले दिन रथनेमि नियत समय पर मन मे अनेक आशाओं का संग्रह करता हुआ अतिवेग से राजीमती के 'शान्तिभवन मे' पहुंच गया, उस समय राजीमती भोजन कर रही थी दासी द्वारा यथोचित सत्कार पूर्वक सुआसन पर बिठलाया, स्वंय भोजन से निपट कर उनके सन्मुख आ बैठीं, दासी ने आकर दोनों को पान का बीडा दिया, राजीमती के पानमे वमनका औषध मिलाया गया था जिस का रसास्वाद अंदर पहुंचते ही वमन होगया, खीर भोजन का आहार बाहर होकर कालीन पर गिरगया। राजीमती उसी क्षण संभली और जल से मुंह हाथ साफ कर के बोली कि अतिथिदेव ! इस उत्तम खीर भोजन को मैं न पचा सकी अत. इसका भोजन आप करलें तो बड़ी कृपा हो।

रथनेमि कुमार एक दम बिगड़ा और चिढ़ कर बोला कि राजीमति ! सौन्दर्य में तो सब से बढ चढ कर हो परन्तु बुद्धिमत्ता का लेशमात्र नहीं है। रूप के गर्व मे उन्मत्त होकर बोल चाल मे तुमसी परम सुंदरी को इस प्रकार असभ्य बर्ताव किसी भले मानुस के साथ कभी न करना चाहिये। क्यों कि इसे सब जानते हैं कि - वमन मनुष्य का आहार नहीं होता यह तो अखाद्य है, इसकी आमन्त्रणा दुनिया भर मे कोई नही करता।

राजीमती— महानुभाव ! क्या यह पदार्थ कहीं से कुछ बिगड़ गया है, मेरे पेट मे क्षणमात्र रहकर आपके देखते२ मुह से बाहर होगया, क्या कोई भी समझदार इतनीसी देर में दुग्ध पाक से घृणा कर सकता है आह ! क्या कहते हो यह सभ्यों का आहार नहीं रहा ? खाने का आमन्त्रण दिया तो रूपगर्विता और न जाने क्या२ दोषारोपण किये और असभ्य ठहराई गई। खेद ! अच्छा तो आप यह बताये कि अब यह किसका भोजन है और इसे कौन खाय।

रथनेमि—सुनिये ! मनुष्य का उगाल या वमन मनुष्यमात्र के लिये सर्वथा अग्राह्य है इसे तो कव्वे और कुत्ते जैसे क्षुद्र जीव भले ही खायें परन्तु मनुष्य के द्वारा इसका खाना तो दरकिनार रहा आंख भर कर देख तक न सके। क्योंकि यह झूठन-निंद्य और अशुद्ध पदार्थ है।

राजीमती—उच्छिष्ट और वमन को मनुष्य निकम्मा-अपवित्र समझ कर स्वीकार नहीं करता तब आप मुझे उच्छिष्ट और वमी हुई को स्वीकार करने क्यों आये ! क्षत्रिय हो तो कुछ शर्म भी करो, कुछ विचार भी करो, क्या नेमि भगवान् ने मेरा त्याग-वमन नहीं किया है ? क्या उन्हों ने मुझे कै की भांति समझ कर नहीं छोड़ा है? क्या

में उनकी त्यागी हुई उच्छिष्ट वस्तु की तरह नहीं हूं ? अवश्य ! अवश्य !! इसी नाते अब आप जैसे सन्नरों को स्वीकार करने योग्य वस्तु कहां रह गई हूं। क्या मुझे पाने के लिये लालायित हो कर मनुष्य श्रेष्ठ रह सकते हैं। फिर यदि आप सत्पुरुष न होकर उच्छिष्ट भोगी कव्वे कुत्ते के समान हैं तो एक सन्नारी क्या काक और कुत्ते से संबंध जोड़ सकती है ? कभी नहीं और इसका ठीक उत्तर अपने क्षत्रियोचित विवेकी हृदय से मांगिये ! वान्धव! क्षमा करें मैं आप के लिये वमन की तरह सर्वथा अयोग्य हूं, और इन्सानियत का दम भरने वालों की दृष्टि मे सर्वदा अभोग्य एवं त्याज्य हू।

रथनेमि यह सुन कर मानो सोते से जग उठा, या अंधकार से निकल कर चांदनी मे आ गया। मानो किसी ने फिसल कर पड़ते समय हाथ का सहारा देकर गिरने से वचा दिया। उसे अपने आत्मा की झांकी हो उठी और इंद्रिय जनित निन्द्य विषय विकारों मे असारता- अनित्यता-निद्यभाग दीख पड़ा, संवेद-निर्वेद का अमृतमय झरना खुल गया। वह उस सुधा को पीने का भाग्यशाली वन गया। भगवान अरिष्टनेमि को केवल ज्ञान होने पर रथनेमि ने भी उनके चरण शरण मे पहुंच कर जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार की।

(२)

राजीमती अपने साथ पांचसौ सखी साध्वियों समेत दीक्षिता हो गई, वड़ा और कड़ा तप करती हुई आत्म स्वरूप को उज्वल करने लगी, नित्य की भांति आज भी अनेक साध्वियों समेत भगवान अरिष्टनेमिनाथ के दर्शन करने के अर्थ गिरनार पर्वत पर चढ़ी जा रही हैं.वह अभी आधे मार्ग पर ही थी कि वर्षा आरंभ हो

गई, शरीर के वस्त्र भीग गये, (आश्चर्य तितर बितर होगई) इन्हें सुखाने के लिये पासकी गुफा मे प्रवेश किया, पूर्वपुण्य के उदय से राजीमती का शरीर वर्षा के जल मे भीग कर बिजली के समान चमक रहा है। जिसके मनोरम प्रकाश से सारी गुफा जगमगा उठी, रथनेमि भी गुफामें योगाभ्यास करने आया है। रथनेमि की वृत्ति इस अलौकिक रूपराशिको देखकर वायु से अरहर के वृक्षके समान डगमगा गई, ध्वजा की तरह अन्तर्मन हिल उठा, ओह ! खेद का विषय है कि यह बालब्रह्मचारी है फिर भी इसे विषय सेवन करनेकी प्रबल उत्कंठा हो गई। सच है बलवान् सिंह, मस्त हाथी, कपटी चीते, पागल कुत्ते, इनको युद्धमे हराया जा सकता है, काले सांप के मुह का चुंबन लेना कठिन नहीं। पर्वतशिलाओं को चूर्ण विचूर्ण करने मे कुछ विलंब नहीं होता, मारवाड़ के टीबों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदल देना आसान है, शत्रु के दल-बादल का मान दो भुजाओं से नष्ट किया जा सकता है परन्तु काम देव की छोटी सी सेनाका भी घमड चूर करना हँसी खेल नहीं किन्तु बहुत कठिन है। आकाश मे निराधार चढ़ जानेके समान कुछ साधारण बात नही है।

बस देखते ही धारणा बदल गई, शील की नव बाडें टूट कर चूर मूर हो गई। उसे अपनी शय्या पर लाने की तीव्र आशा हो उठी। हायरे! पापी काम! तेरे फेरमे पड़कर रथनेमि जैसा साधक भी अपना भान भूल गया, यहां कइयों का यह भी मत है कि बाड के बिना भी ब्रह्मचर्य का प्रतिपालन किया जा सकता है, मगर जहां पर बड़े बड़े हाथी जिस काली धार मे डूब गये उस वेगवाले प्रवाह मे बकरा किस गिनती मे है। हाय रे! मन! रथनेमि जैसे भी पवित्र स्वसमयको खोदेनेकी भूल कर बैठे। तब साधारणस्थिति

पालकों की बात को क्या कहा जाय। क्या हर समय कोई स्त्री के परिचय में रह कर भी कहीं ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है क्या स्त्रियों को पास रखना भी कोई कसौटी-परीक्षा है पर भोलेभाले भाई! हलक तोडने वाले कालकूट को भी कोई खा कर उस की परीक्षा कर सकता है, यदि कोई परीक्षा करने वाला उसे खाकर निश्चय करना चाहे तो उसका जीवन क्योंकर टिक सकेगा। रथनेमि जैसा हाथी भी राजीमती जैसी पवित्र साध्वी को देखकर काम के गढ़े में गिर जाता है। हाय! नव नव वाड रखने वाले ब्रह्मचारी को भी भोगों में आसक्ति और प्रेम होगया। भोग-त्याग वृत्ति वाले को भोग-त्याग किस प्रकार निबाहना चाहिए इसके साधनों पर प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हो? आपकी आत्मामें सच्ची सद्भावना जागउठी हो या इसका सच्चा प्रेमी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होता कभी नहीं देखा गया, फिर चाहे वह गृहवास में या त्यागवास में ही क्यों न हो। परन्तु ब्रह्मचर्य का पालक प्रेमी इसका अखंड सेवन करता है। उस का स्वप्न में भी भग नहीं होने देता। ब्रह्मचर्य से अलग होकर मछली की तरह फिर जीवित भी नहीं रह सकता।

पहले यह रथनेमि इतना दृढ प्रतिज्ञ था कि इन्द्राणियें भी डिगाने में असमर्थ थीं। परन्तु आज तो राजीमती के हाड चाम रूपी पोथले की चमक को देख कर मूढ हो गया, और इतना नीचा गिर गया कि बकवास में इतना कह उठा कि आओ विषय सुख भोगें? हाय! रथनेमि जैसा हल्का तृण भी गदले पानी में डूबकर नीचे कीचड़ में जा बैठा। किन्तु यह तो परिपक्व ब्रह्मचारिणी है, देखिये न? इस की मुद्रा भी तो निर्विकार है। रथनेमि को इसी के शब्दों से संसार के परले पार जाना है, विशेषतया इसी से आत्मा में समाधि रस पड़ना है अतः इसका निष्पाप दर्शन है।

पूर्व पुण्य के उदय से तेजस्वी चमड़ी मिली है तो भला अब कहां जाय। क्या कभी शंखके सफेद रङ्ग को भी कोई बदल सकता है। इसके अतिरिक्त धौले रङ्ग के बादलों में डुबो देने वाली जलधार नहीं होती।

रथनेमि कहता है कि शोभने ? यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्यत्व अति दुर्लभ है, [बड़ी से बड़ी कठिनाई झेल चुका है, परन्तु हाय ! उस ने यह सब अन्त कर विषय सेवन करने की अगाध-साध पूरी करने की अपेक्षा से कहा है।]

राजीमती--क्यों जी ! यह देह आत्मा को उज्वल बनाने के लिये है, पहले तुम यह ही तो कहा करते थे न। आप की धारणा थी कि 'यह मनुष्य जन्म संसार के विषय छोड़ने के लिये ही है, अतः इस देहका मिलना अत्यन्त दुष्कर है। अब वे उत्तम विचार क्यों बदल गये। अरे ! मूर्ख यह दोबारा फिर न मिल पाय गा। क्या यह समझ कर कहता है कि - भोगों को भोग कर फिर जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुये मार्ग में प्रवेश करूंगा। भोग जाल के कौतूहल को भोग कर तथा फिर उसे छोड कर त्यागी बनने की आशा रखता है ?

आग और अगंधन कुल की मिसाल—

पहले आगकुंड को लकड़ियों से भर कर फिर उसे एक दम बुझा दूंगा। मगर काठ आग मे पड़ कर क्या कभी उसे घटा सकता है? आग कभी लकड़ियों से तृप्त होता है ? समुद्र नदियों के जल से कब तृप्त हो सका है ? श्मसान मे मुर्दों की भीड़ कभी किसी ने देखी सुनी है ? इसी तरह भोगों को भोग कर फिर उनको त्यागने का विचार तो कालकूट पी कर फिर जीवित रहने की

अभिलाषा करने के समान है। इन के भोगने से लालसाएँ कब मिटने वाली हैं। [यहा जातिसंम्पन्न-कुलसम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार का होता है यही समझाया है] राजीमती ने अपने गीले कपड़े पहन लिये, और एक दम बिजली की तरह कड़क कर बोली कि अरे! तेरी क्या मजाल! यदि इन्द्र सा रूपवान् भी क्यों न आए और वाणीविलास मे नल-कूबर के समान भी क्यों न हो तो भी मुझे विषयाभिलाषा उत्पन्न न होगी। तब तेरे इस मलमूत्र से भरपूर औदारिक शरीर को सौन्दर्य क्या वस्तु है? यदि इसे एक अन्नका दाना न मिले तो कुम्हला जाय? मात्र-मांस-रुधिर-मूत्र और विष्टा का पात्र है। मुझे ऐसे शरीर पर आसक्ति भाव कभी न होगा। परन्तु तेरे जीवन को धिक्कार है। इस पापवासनामय संयम-नाशक जीवन से जीवित रहने की अपेक्षा कहीं मर जाना बहुत अच्छा है यदि मर जाता तो लोक हरसमय तेरे ब्रह्मचर्य जीवन की गाथाएँ मुक्तकंठ से गाते। अगंधन कुल के सर्प का उदाहरण दे कर समझाया कि—जरा यह भी सोचो की हमारी जाति क्या है? हमारे कुलका चरित्र कैसा है? हमारी कर्तव्यपरायणता किस मे है। कर्म के करने मे हमारी शोभा है? अरे भाव बदलते ही भाषा बदल गई, भाषा बदलने पर देह बदल जाता है। देह जाय तो जाय पर तीनों योगों से व्यकाये होने न पावे। अधिक क्या कहा जाय वह इतना सुनते सुनते समझ गया। अन्दर के पर्दे तुरन्त खुल गये अब की बार आत्मा के ज्ञान-नेत्र अच्छी तरह खुले हैं। अब समभ कर गिरने वाला नहीं है। इस की यह समझ टिकाऊ समझ गिनी जायगी जिसे आकर फिर लुप्त नहीं होना है। आँखें तो इसकी ठीक समय पर खुली हैं। अतः सँभला और खुब सँभला तथा विनय पूर्वक बोला कि-सति! मेरे पतित होने

मे क्या कुछ कसर रही थी। मातः ! गिर पड़ा होता, यदि तू न बचाती होती तो ? धन्य जगदम्बे ! धन्य पतितपावनी गंगे तेरी विचारधारा पवित्र और निर्मल है। तू जगदुद्धारिणी जान्हवी है। इस प्रकार मातृ-पितृपक्ष के याद कराने पर मनुष्य अधिक से अधिक अच्छा हो जाता है और ज्ञानयोग के व्यवस्थित कार्य-क्षेत्र से विजय पा कर लौटता है।

इस प्रकार उत्तम जाति और उत्तम कुल की सच्चरित्रता क्या कभी भुलाई जा सकती है, कुलीन और जातिसम्पन्नका धर्म भाव ही दृढ़ हो सकता है। यहां हमारे इतिहास के मुख्य सूत्रधार केशीमुनि भी उच्चजाति और उत्तम कुल समृद्ध हैं।

अधम कुल की धारा

हलके कुल मे जन्म लेकर भी आत्मा अपने लक्ष्य को पाकर निर्वाण पद पा सकता है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का मत एकान्त-मत नही है। परन्तु उस में भी माता पिता का पक्ष निर्मल चरित्र संयुक्त होना आवश्यक है। × × ×

बल सम्पन्न

वे आत्मिकबल और शारीरिक बल समन्वित हैं।

रूप सम्पन्न

शरीरकी आकृतिकी रचना परम सुन्दर चित्ताकर्षक व मोहक है। इस विलक्षण रूप के द्वारा भी औरों के अन्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। [चित्तको सुन्दराकार मुनि मिलने वाले हैं।]

इति द्वादशोऽध्यायः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

परदेशी राजा इन्हीं सत्पुरुषों से धर्म भाव के तत्व को प्राप्त करेगा और चित्त भी धर्म क्षेत्र में राजा से पूर्व ही आने वाला है, जिसे धर्म प्राप्त करने की या समझने की उच्चतम अभिलाषा है वह स्वयं सब से प्रथम स्थान में धर्म को पाता है और फिर औरों को भी सुसंस्कृत कर सकता है। स्वयं अनभिज्ञ हो तो औरों पर क्या प्रकाश डाल सकता है। क्यों कि निर्धन मनुष्य औरों को धनी नहीं बना सकता। + + + चित्त सावत्थि नगरी में जितशत्रु के पास पहुंचा है, उसे जिस महापुरुष के सहयोग से धर्मसंस्कार को पाना है वे स्वयं कैसे हैं। अतिशय असंख्य गुण समन्वित हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं। जाति कुल-बल और रूप से सम्पन्न हैं। ये चार बातें बाहरी गुण की अपेक्षा हैं परन्तु जहां तक भावों में परिवर्तन न हो वहां तक आत्मा का मूल-धर्म प्राप्त हुआ न कहलायगा।

विनय सम्पन्न

आप विनय सम्पन्न भी हैं, अभिमान कषाय का नाम तक नहीं, अन्तःकरण की यह सब से बड़ी बात है, इसी से उन का मूल्य आंका जाता है। चाहे त्यागी या साधु अपने गुणों से चाहे कितनी

भी उन्नति क्यों न कर चुका हो यदि उस में निरभिमान भाव न हो और अपने को औरोंसे अधिक समझता हो तो इस कुत्सित मान्यता से स्पष्ट सिद्ध है कि उसने अबतक आत्मा की चेतना और धर्मतत्व को नहीं पाया इसी प्रकार वह औरों को भी धर्मशिक्षा देने में सर्वथा अयोग्य है। विनय गुण ही कषायों को मंद करने में मुख्य और समर्थ निमित्त है ।

निरभिमान दशा का स्वरूप

अनेक गुण पा कर भी जब अपने से थोड़े गुणवाले को देख कर यह समझे कि कभी मैं भी ऐसा ही था, यह भी अपनी संकीर्ण दशा को लांघकर उन्नत दशा को पाने वाला है, तब यह मेरी पूर्णतया समता करने में समर्थ हो जायगा। अपने समान गुणी को देख कर यह कहे कि यह मेरे समान ही गुणी है, जिस से मुझे बडी प्रसन्नता होती है और मैं इन महाशयों से अधिक नहीं हूं। इन सब पहलुओं को सोच कर सब दशाओं में निरभिमान हो कर रहे। अधिक गुणशील को यह समझे कि मुझे भी इस के समान गुण प्राप्त करने की आवश्यकता है और वे सब गुण इस मे वर्तमान हैं। और ये सब गुण यथा शक्य नम्रीभूत हो कर पाना चाहिये। इतनी समझ हो तो निरहंकार रहना आवश्यक है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में समभाव से दृढ़ रहने वाले ज्ञानी पुरुष को विनयवान् कहते हैं। इन मे अव तो साधु दृष्टि से विनय गुण है ही परन्तु जब ये राजकुटुंब मे थे तब भी इन मे विनय तथा भक्ति की कमी न थी। इस गुण ने ही बढ़ कर त्याग-वैराग्य के समय आत्मभाव-आत्मदशा का भान उपस्थित करदिया।

ज्ञान की विशेषता

ये मुनि विशुद्ध ज्ञानी हैं, ज्ञान के उपदेशक हैं। जो समझ
र विचार के क्षेत्र में प्रवेश न कर सका हो उसे ज्ञान किस
ार हो सकता है, इसे ये खूब जानते हैं, जगत् की गतिविधि
ाने वाला तथा संसार की कला एवं जगत् का चातुर्य बतानेवाला
त ज्ञान नहीं कहलाता। बल्कि हित-कल्याण में तन्मय करा
अहित व्यापार से परिनिवृत्त कराने वाला ही ज्ञान है।
न वह भी है जिस से आत्मा की उन्नति हो, हित और अहित का
न हो, इस प्रकार के ज्ञानबल से देह-वाणी-इन्द्रिय और उन
मात्राओं से आत्मा पर है, नितान्त भिन्न है। इस उच्च समझ
नाम ज्ञान है और ये मुनि ज्ञान सम्पन्न थे। इन्हें पर वस्तु में
र्थात् जड़ पदार्थ मे आनन्द न आता था। क्योंकि पौद्गलिक
ार्थों मे रमण करना ही समर्थ अज्ञान है जिस मे विशेष
ाधीनता है।

पराधीनता से रहना दुःख का लक्षण है, और संपूर्ण तथा
ायी सुख स्वतन्त्रता है। देह-वाणी-इद्रियजनित विषयों का दास
ना, अपने अंतरात्मा का भान न करना, दुःख और पराधीनता
। परवस्तु में जो अपनी सत्ता जमाता है, रागका अनुसरण करता
धनीमानी और सुखी बनना चाहता है, परन्तु इन पराधीनताओं
सुख कहां है? दूसरे के समर्पित सुख से कोई कहां तक सुखी
सकेगा। बस इन सब मे यही पराधीनता है। × × ×
रण वस्तु अपनी नहीं होती, भविष्य मे अपनी होने की आशा
बल्कि पर शक्ति का व्यय करने से व्यक्ति स्वयं पराधीन है, पर

के लक्ष्य में सुख या आनन्द कहाँ धरा है जिसे वह मिल पायगा। प्रत्युत पर वस्तु की चाह मे शक्ति निष्फल हो जाती है। तब हार कर मानना पड़ेगा कि अभी निर्धारित विषय पर नहीं आया, अधिक क्या कहा जाय इन्द्रियों की पुष्टि करना भी तो पराधीनता है, पराधीनता मे अपनी शक्ति बादलों में सूर्य के समान दब जाती है और आत्मज्ञ को पराधीनता से पिंड छुडाने में परम सुख है सन्तोष पाने मे ही सुख है, तब ही चेतना शक्ति प्रगट होती है, वह एक-नित्य और आनंदमय है। ऐसी समझ प्रगट होने पर आत्मा का युक्त भान होता है तब ही अपनी स्वाधीन-दशा प्रगट होती है। पर खेद इस विषयका है कि आवश्यक स्वाधीनदशा का वास्तविक ज्ञान अब तक नहीं हो पाया है यदि जान जाता तो बल-वीर्य का प्रकाश अवश्य करता परन्तु अब तक सारा ज़ोर पर-वस्तु के पाने में ही लगा डाला है। मरते दम वीर्य स्फुरण भी उसी मे करता है। परन्तु पराधीन दशा में अपनी स्वाधीनता का सर्वथा नाश हो जाता है। पराधीनता से किया हुआ श्रम सर्वथा निष्फल है। इस पर भी 'पराधीनतासे ही सुखलूंगा' यह सोचकर अतिचार अनाचार का सेवन करके भी सुख और आनंद लूटने की धुन सवार है। तब ही तो परिणाम मे शून्य आता है, क्योंकि अंधे के द्वारा बटी जाने वाली रस्सी बछड़ा पीछे से खाता रहा है। ज्ञान में अपने दृष्टिकोण को बदल कर बढा न सका। यही भूल सब से प्रतिकूल कराने वाली बात है। अब तक पराधीन दशा मे ही चक्कर काटे हैं, अनेक अधर्म-अत्याचार से बहुत कुछ लेना चाहता है, अधर्म से या अन्याय के आचरणों से कोई आनन्द पा सका है? नौका को तोड़ कर कोई पार जायगा? आग लगा कर घर बचायगा? विष

को पी कर अमर कौन होगा ? दवा को वमन कर आरोग्य कैसे होगा? अरे ! यह सौदा कभी न पटेगा । इन सबकी शिक्षा देने मे मुनि ज्ञान सम्पन्न हैं । उन्हों ने स्वयं अपना भी स्वरूप इसी भांति जाना है । अपने आत्मा को स्वभाव मे स्थिर किया है । मैं भी इस स्वतन्त्रता को चाहूं तो स्थिर कर सकता हूं ।

आंख का हेतु

आंख का स्वभाव पदार्थों को विशाल दृष्टि से दिखलाना है परन्तु अच्छे या सुन्दर रूप को देख कर राग या प्रीति से अपनी दृष्टि को एक वस्तु मे अटका कर फँसा लिया, ओह ! वह शक्ति कितनी विशाल थी, परन्तु पराधीनता से संकुचित होगई । क्योंकि आंखों का स्वभाव तो सभी कुछ देखने का है, और वह शक्ति स्वाधीनता मे ही विशाल होती है । पर सुन्दर रूपके अनुराग मे देख देख कर मस्ती उत्पन्न करता है, मादकता बढ़ने से दृष्टि का विषय भी अगाड़ी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत उसी वस्तु मे कीली सी जाती है जिस से विशाल क्षेत्र पर आवरण आ जाता है । इसी प्रकार ज्ञान की विशालता पाये बिना एक स्थान मे राग द्वेष के कारण अटका रह जाता है । कभी प्रीति से इष्ट पदार्थ मे फँस कर राग करता है और इतर पदार्थ मे द्वेष, परन्तु वस्तुत: पदार्थ कुछ अच्छा बुरा नहीं है, प्रीति या अप्रीति का उत्पादक भी नहीं है । यदि उस का यह गुण होता तो प्रत्येक अवस्था मे इष्ट या अनिष्ट ही रहता परन्तु ऐसा नही देख रहे हैं । जैसे बुखार मे दुग्ध का पीना कुटकीसा कड़ुवा लगता है । तथा रोग को खोनेके लालच में निंब को भी अमृत मानता है । जिस की साधारण शक्ति से

गुरुत्व प्रगट हो चुका है वह उसी योग्यता से अपना जावन घड़ लेता है गुण (स्वभाव) में जिस की दृष्टि होती है वह इष्ट अनिष्ट में भेद रखने की योग्यता नहीं रख पाता, क्योंकि इष्ट अनिष्ट का स्थान अज्ञानी को प्राप्त है और वह अज्ञान पर-विभाव अग्राह्य और असेव्य है। अतः विभाव के छोड़ने पर परतन्त्रता अपने पास नहीं फटक पाती, राग द्वेष अपनी शक्ति के स्वभाव मे अन्तर्हित नहीं हैं। तब आत्मा का स्वभाव ज्ञायक रूप है। रागादि अपने स्वभाव नहीं, यदि राग भी स्वभाव होता तो उसके द्वारा आत्मशक्ति घटने न पाती। बल्कि उस की रक्षा करती। क्योंकि जो शक्ति अपनी है वह अन्य शक्ति को घटा नहीं सकती।

गुड़ का उदाहरण—

गुड़ का रंग पीला होता है और स्वाद मीठा, रंग और मीठापन एक दूसरे का नाश नहीं कर सकते। प्रत्युत एक दूसरे के लिये सहकारी हैं। इसी प्रकार आत्मपदार्थ मे ज्ञान-गुण है, यदि राग द्वेष आत्मा के गुण होते तो इसकी वृद्धि मे सहायक होते न कि इस घटाते। परन्तु यहां तो इसके विरुद्ध देखा जाता है। क्रोधी मनुष्य कहता है कि मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है, लोभी हितकी पर्वाह नहीं करता, कामी को लाज की गंध तक नहीं आती, इनकी आकुलता बढ़ती है, यदि ज्ञान की तरह ये भी अपने ही गुण होते तो वह शक्ति को घटा न देते, बल्कि कुछ न कुछ सहायता करते किन्तु वह अपना स्वभाव (गुण) नहीं है पर-विभाव एवं बहिरंग है इस लिये आत्मा में घुस कर शक्ति को खोकला करता है।

भेद-विज्ञान—

क्रोध-मान द्वेष से उत्पन्न होते हैं, माया तथा लोभ राग से होते हैं, ये चारों मेरे अपने स्वरूप नहीं हैं, न ये मेरी शक्ति के अंगही हैं। इतना भेद समझने पर भेद-विज्ञान को पाता है और भेद-विज्ञान से आत्माको स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। लोग 'पराधीन सपने हु सुख नाहीं' व्याख्या करके कहते हैं कि माता-पिता गुरु आदि की आज्ञा मानना भी पराधीनता है और अपनी इच्छानुसार चलना स्वतन्त्रता है। क्योंकि किसी की आज्ञा मान कर पराधीनता होने के कारण यह व्यवहार हमारी समझ मे नहीं आता। क्या किसी के कहने परही सब कुछ किया करें। कोई आदमी कृपणता करता है और कहता है कि हम तो किफायतशारी करते है वह अपने मुकाबले मे खाऊ उडाऊ को विलासी समझता है। वे भी कहते हैं कि हम तो अपनी उदारता का परिचय दे रहे हैं। वेश्या नचाकर पांच हजार रुपया खर्च डालते हैं, सिनेमा मे फर्स्टक्लास टिकिट लेते हैं,एक मील पैदल नहीं चल सकते। क्या हम मे यह उदारता नहीं है। इस प्रकार आजादी के वहाने से निरंकुशता का पोषण करते है। पराधीन-दशा मे असुंदर आचरणो का समाचरण कर के मानो विष खाकर जीवित रहने का प्रयत्न करता है। 'हमारा मन माने तो मनन करें' इस धारणा मे मनवाने के लिये रह क्या गया। शास्त्र या ज्ञानी की आज्ञा मानने मे गुजाइश कहा रही, ये वकते रहते है कि अपने मे अपने ज्ञान से न समझ पायें तव ज्ञानी से कुछ पूछें और वह फिर वतावे। तव उस पर कुछ प्रीति होती तो

भान होता न ? परन्तु यहां तो स्वच्छंद दशा को स्वतन्त्रता का वेश पहनाकर कहता है कि हम आजाद हैं। अजी हम इन पराधीनताओं को स्थान ही नहीं देते किन्तु जिस ने राग-द्वेष से हट कर पूर्णता पाई है उस के वचनों का सुनना स्वाधीनता है या पराधीनता ? जिस की बुद्धि ज्ञानी के ज्ञान की परीक्षा करने योग्य न हो वह अपनी बुद्धि से ज्ञान की परीक्षा करने जाता हुआ कोयले से सोने की परीक्षा नहीं करसकता। वह तो कसौटी द्वारा ही कसा जासकेगा। यदि कसौटी के पत्थर की भांति परीक्षा करने की योग्यता न हो तो ज्ञान की परीक्षा कैसे कर सकेगा। जिस का पिता अवगुण से भरपूर है पर उस के पुत्र गुणवान् हों और उनके माता पिताओं के दबाव से स्वतन्त्रा लेना चाहे तो यह एक प्रकार का अन्याय है। स्वाधीनता का एक अक्षर भी प्राप्त कर ले तो तुरन्त अर्पणता पैदा करो तब स्वतन्त्रता मिलती है।

चार भेद

माता पिता श्रेष्ठ और सन्तान भी श्रेष्ठ,
माता पिता श्रेष्ठ और सन्तान अश्रेष्ठ,
माता पिता अश्रेष्ठ और सन्तान श्रेष्ठ,
माता पिता और सन्तान दोनों अश्रेष्ठ।

इस प्रकार चौभंगी का विचार किये विना न्याय को तोलना कठिन है। यदि माता पिता पुत्र से कहें कि मांस और मदिरा ले आओ, और वह न लावे तो क्या वह निरंकुश है ? इस भांति जहां जिस प्रकार की योग्यता हो वहां वैसा ही समझना तथा वैसा ही समाचारण करना योग्य है। आत्मार्थी नरपुंगव वही है।

इस प्रकार चार पक्ष का ज्ञान लक्ष्यमें किये बिना उसका ज्ञान

पराधीन रहता है। राग-द्वेष मिश्रित ज्ञान कलंकित है। पुरुष एक वर्ग से न्याय को नहीं तोल सकता परन्तु ज्ञानी कहते है कि गुण युक्त वाणी सुनने मे पराधीनता नहीं है बल्कि उसके द्वारा तो स्वाधीनता का आह्वान होता है। अतः ज्ञान सम्पन्न स्वाधीनता या पराधीनता का भान करता है। लोग समझते हैं कि धन-धान्य ऋद्धि एकत्र करना, बाग-बगीचे-घोड़ा गाडी आदि लक्ष्मी के भोगों की अधिक संख्या बढ़ाना ही स्वाधीनता है लेकिन ये सब वस्तुएँ पर है, पर वस्तु में स्वाधीनता समझना अज्ञानता है, परतन्त्रता मे सुख मानना, पर पदार्थ में अनुरक्त रहना भी पराधीनता है और अपने स्वभाव के भानमे रमण करना सत्य स्वाधीनता है अतः यह निस्सन्देह कहना होगा कि ये मुनि-ज्ञानसम्पन्न है।

दर्शन सम्पन्न—

दर्शन शोधक-पदार्थ को स्वयं समझता है और अन्य को समझाता है, इसकी प्रतीति अत्यन्त स्थिररूप है, समझे हुए पदार्थ के अतिरिक्त सब वस्तुएँ पराधीन है। जिन की आत्मा मे इस प्रतीतिका निवास है यदि इन्द्रियों द्वारा परीक्षा लीजाय तब प्रीतिमे ज्ञान वृद्धि नहीं हो सकती। यदि आत्मा मे विश्वास का गुण न हो तो कुछ नवीनता नहीं आसकती। प्रतीतिका गुण सबमे पाया जाता है और वह वक्र है परन्तु सरल होजाय तो समझो कि अपना एक गुण प्रगट होगया। पर अब तक परमे विश्वास रखता आया है। 'स्त्री से सुखी हूं-लक्ष्मी से सुख मिलता है-वर्षा हो तो समासवत् ठीक हो, इत्यादि मे निश्शंक प्रीति है। यह भ्रमणा और भूल, है एव सदा इसी प्रकार की चिन्ताएँ बनी रहती हैं। अत.

आत्मा का चैतन्य लक्षण समझ में नहीं आरहा है प्रत्युत विपरीत अर्थ की प्रतीति में रमण करता है । यदि परभाव से निकल कर स्वभाव मे आजाय तो वह शुद्ध सम्यग्दशन कहलाता है । जैसे शक्कर स्वभावत: मीठी है उसे आप कभी कडवी कहनेके लिये तैयार नहीं हैं, क्योंकि उस के मीठे पन मे आप को प्रतीति है । यदि इंद्र भी आ कर कड़वा स्वाद बताये तो भी अपने अनुभव के विपरीत मानने को तैयार नहीं हैं । उस में निश्शंकता रहने के कारण कौन मानने लगा । वह प्रतीति परपदार्थ में निश्शंक है । उसमे से निकल जायतो समझो कि मेरा आत्मा त्रिकालवर्ती-निर्विकार है। सहजानंद स्वरूप व निष्कलंक है ऐसी प्रतीति होगी जड़ में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श दीख पड़ते हैं परन्तु सहजानंद-सहजसुख-सहजशान्ति की लहर मेरा स्वभाव है–यह आत्मा का स्वाभाविक गुण है । जिस में यह प्रतीति होती है उसे देव डिगानेमें असमर्थ है, उसे दर्शनसम्पन्न कहते हैं ।

चरित्र सम्पन्न–

राग-द्वेप रहित अवस्था मे अपना स्वरूप जान लेने पर स्थिर हो कर आत्मगुण में रमण करते हुए पर वस्तु से अलग रह कर आत्मा का मनन करने का नाम चरित्र है ।

लज्जा सम्पन्न–

लज्जा एक प्रकार का दवाव भी हो सकता है, मनुष्य इसमें दव कर अनाचार सेवन करने से अटकता है, यदि यह समझे कि मै कौन हू, मेरा परिवार कितना अच्छा है, अत: यह नीच कार्य मुझ

से न होगा, जिसे इस प्रकार लज्जा होती है वह अकार्य न करेगा। अवगुण-कुटेवसे हाथ खींच लेगा। आंखों मे शर्म न हो तो साधारण मनुष्य भी कह देगा कि यह निर्लज्ज और खोटा है। आंख में शर्म आने पर अपने दोष को स्वयं देख लेता है परन्तु निर्लज्जकी आंखों में लाज न होने के कारण दोप को देखकर आंखों पर ठेकरी रख लेता है। जिसे भविष्य मे सुधरने के लिये अवकाश भी नहीं है। लघुलघवी कला से एक आँख पर पर्दा रखना-पशु को टचकारे के संकेत से बुलाने का सा भाव बताना और गुप्त पाप करना कुछ लाज कहलाती है?

लाघव सम्पन्न–

आत्मा के हलके पन का नाम है, इस से मन की शुद्धि होती है, हृदय से राग-द्वेप घटता है। उस के पास धर्म के उपकरण भी केवल थोड़े से रहते हैं। पक्षी के पास उडते समय पाँखों के अतिरिक्त क्या उपकरण रहता है? इसी प्रकार मुनि के उपकरण साधनरूप होते हैं भाररूप नहीं अतः वह उपधि कम रखकर मृतक के समान विदाई लेजाता है, अतर मे राग-द्वेप का तो खोज भी नहीं है, त्याग और वैराग्य से ही आत्मा लघुभूत हुआ है।

ओजस्वी—

मानसिक वल की पूर्णता है, जैसे कोई मनुष्य अमरीका से आया है वह वहा के अनुभव या जो कुछ देखा सुना है यदि उसे मन द्वारा ध्यान करने वैठे तो अल्प समय मे वहुत कुछ याद करसकता है, परन्तु शरीर के द्वारा वे सव क्रियायें २५ दिनमे की गई है उस समय मनके अनुभव स्मरण करते समय वहुत थोडा काल लगता

है। इसी भांति ये मुनि मानसिक वल युक्त हैं और लाखों करोड़ों वर्ष की वातों का अनुभव तुरन्त कर लेते है।

विलायत जाते समय काया का कोथला तो साथ ही था इसीसे २५ दिन व्यतीत हुये, यदि देह का थैला न होता तो मानसिकक्रिया २ मिनिट में क्योंकर कर सकता था। शरीर को रख कर शरीर अवस्था में इंद्रिय सहित ज्ञान की क्रिया कितनी होती है, तथा शरीर और इन्द्रियो के अतिरिक्त शुद्धात्मा शरीर तथा मन से अलग रह कर अपने सहज-स्वाभाविक गुण से अनंत काल रूप विलायत में की गई क्रिया को चेतन तीन काल के भावों को एक पलक झपने जितने काल मे अपने अन्तर में उतार लेता है। अतः आत्मा का स्वरूप मन से भी पर है किन्तु ये मुनि मनोवल से युक्त हैं।

जो प्राणी मन का सहारा छोढ देता है, मन तथा इन्द्रियों के परले पार पहुँच गया है, चैतन्यघन-शुद्धस्वरूप आत्मा अपनी स्वच्छ अवस्था मे पहुंचने पर काल का ज्ञान एक सैकेंड में कर लेता है। इस लिये इस आधार पर ये मुनि लाखो करोडों वर्प पहले की वात पांच मिनिट मे जान लेते है। आश्चर्य है कि उन के मन की शीघ्रता का कितना ज्ञान है। देह का वेग भी कितना अधिक है यह सहज और अनुभव सिद्ध है। इस शीघ्रगति को जानने वाला, ज्ञानपूर्वक मन की चंचलता को रोकने वाला, यदि इसी ज्ञान में अटक रहे तो यह मूर्खता है चाहे राजा और विद्वान् भी क्यों न हो परन्तु जहां तक अपने स्वभाव की स्थिति और स्वतंत्रता की रीति से अपरिचित है वहां तक सब जगत् को दरिद्री के तुल्य ही कहना चाहिये, ऊंचा चढ़कर गिरने वाला भी सुख के पहाड़ पर चढता है, क्या वह मनका कच्चा और भिक्षुक के समान

नहीं है? मगर उलटे लोगतो रोटी मांगनेवाले को तुच्छ और छोटा आदमी कहते हैं, किन्तु लाख मांगने वाले को बड़ा कहा जाता है मगर एक तरह से ये दोनों ही रंक (मंगते) हैं। × × ×

इस मुनि का मनोबल इतना पूर्ण है कि चाहे कितनी भी प्रतिकूलता क्यों न आजाय, परन्तु मनमे व्यग्रता उत्पन्न नहीं होती।

तेजस्वी—

तेजस्वी होने का कारण उन की आत्मा के नित्य तेज की झलक से सर्वसाधारण की आखों में चकाचौंध आजाती है, यह कुछ पुण्य का तेज नहीं है जिस मे पुण्य का माहात्म्य है उस मे तो आत्मा का माहात्म्य अप्रगट है। परन्तु पुण्य का कुछ प्रकार अपने से अधिक दीख पड़ता है। क्योंकि पुण्य के रागी को पुण्यशाली ही देखता है और तब तक वहीं लुढ़क पुडक रहता है।

महावीर प्रभु का तेज इतना ऊंचा था कि पारणक कराने वाले का घर सोने की मोहरों से भर जाता था। इसी को देखकर गोशाल प्रलोभन में आगया। तथा प्रभु की ओर आकर्षित हो गया। इसी प्रकार यह परदेशी राजा भी इस मुनि के तेज और प्रताप को देख कर सन्मार्ग पर आयगा।

इति त्रयोदशोऽध्यायः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

स्वयं धर्म प्राप्त पुरुष ही धर्म को समझता है, ये केशी स्वामी स्वयं धर्म प्राप्त हैं, कभी यह कहने का अवसर भी आता है कि बहुत से लोग अभव्य के उपदेश से भी प्रतिबोध पाते हैं परन्तु अधिकतर वे पुरुष कि जिनके भावही ऐसे न हों, वे औरोंको पार क्योंकर कर सकते हैं। तब यह कहना होगा कि वीतराग के वचन जिह्वाग्र करके वचनका श्रेष्ठ रहस्य सुनने वाला ही धर्म को पा सकता है परन्तु श्रोता स्वयं अपनी पात्रता तथा उन्नतभाव से वस्तु का भेद समझ कर धर्म को सही तरीक़े से पा सकता है। इस प्राप्ति मे अभव्य निमित्तरूप हो सकता है। परन्तु अभव्य उस तत्व का कुछ भी स्वाद नहीं ले सकता। इससे यह निश्चय रहे कि जो स्वयं पार होसके वही पार कर सकता है परन्तु ये केशी स्वामी तारक और वारक दोनों है। वारक संसार समुद्र से पार करके निर्वाण तट पर लाने वाला है। दुर्गति-पाप वृत्ति से पड़ते हुये को रोकने वाले वारक हैं। वे प्राणी को धर्म के स्तम्भ तक ले जाते हैं अतः जिसके पास धर्म के अंगों को जानना है, उस महा पुरुष का भी जानना और समझना परमावश्य है, ऐसे पुरुष की प्रशंसा में तेजस्वी शब्द का प्रयोग किया है। तेजस्वी यानी अन्तर में ज्ञान दर्शन-चरित्र का तेज समाविष्ट है। जैसा इस मुनि का बाहरी तेज (सुन्दराकार) बताया है, वह सासारिकों मे नहीं पाया जाता। इन की कान्ति और रूपकी चमक को देखकर लोगों को विस्मय होता

है कि मैं भोगी हूं और ये त्यागी हैं परन्तु इनका हृष्ट पुष्ट शरीर कितना प्रभावोत्पादक है। वह शरीर को देख देख कर आश्चर्य में डूब जाता है। इसके कारण को जानने की जिज्ञासा होने पर धर्म पद को सुनता और समझता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि सब साधु इस प्रकार बाह्यसम्पत् के धनी और परिपूर्ण नहीं होते ? लेकिन आत्मगुण सब महात्माओं का समान है, पर यह महापुरुष पुण्य और आत्मधन मे प्रखर पूर्णता प्राप्त हैं जिससे इनकी सगति को पाकर मनुष्य की दरिद्रता का सर्वथा नाश हो जाता है।

वक्तृत्व शक्ति

तेजस्वी होने के साथ साथ वक्ता भी बड़े मार्के के हैं परन्तु वाचाल नहीं हैं, वाणी को सोच कर तोल कर न्याय-हेतु-प्रमाण देकर हजारों मनुष्यों मे दो चार घंटे व्याख्यान करना हो तो धारा प्रवाह से बोल सकते हैं। कहते २ या बोलते २ न थकना इनका अपना वचन बल है।

शास्त्रकार वचन शक्ति का विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्म ज्ञान समुद्र के समान है जिनमे श्रुत ज्ञान की भरती आती है, श्रुत ज्ञान नामक ज्ञान की लहर इसका एक छोटा सा पर्याय है और जब आत्मा निगोद पर्याय मे जाता है तब उस की आड मे वह बारीक हो जाता है और जब श्रुतज्ञान का उछाला आता है तब उसकी भर्ती होने लगती है। इस भर्ती के द्वारा दो घडी मे वचन को फिराना हो तो भारी परिवर्तन कर सकता है, अर्थात् अरबों श्लोकों का आशय दो घडी मे वचन बल के आधार पर कह सकता है, यानी इनकी भाषा मे ही इतना बल है।

यशस्वी

ये मुनि बड़े यशस्वी हैं, संसार में इन की अति प्रतिष्ठा है। नास्तिक और राजा प्रजा सब ही इन के माहात्म्य को जानते हैं, परलोक को स्वीकार न करने वाले तथा धर्म से अनभिज्ञ राजा महाराजा तक भी इनसे खूब परिचित हैं, परदेशीराजा के कानोंतक यह बात पहुँचगई कि यह सामर्थ्यशाली पुरुष वैराग्य भाव में मगन हैं, उन के द्वारा उन की यशोगाथाएँ गाई जाती हैं।

जितक्रोध

क्रोध को पूर्णतया जीत कर अपने अधिकार में कर लिया है, सर्वथा क्रोध का अभाव तो केवल ज्ञान होने पर ही होता है। यद्यपि चौथी चौकड़ी का कर्म पड़ा है और चरित्रमोहनीय प्रकृति मौजूद है तथापि उस पर विजय पाने का यत्न करते हैं, जब उस मे से क्रोध अपना फल देने को प्रस्तुत होता है तब अपनी क्षमा नामक शक्ति का पूरा बल लगा कर उदय बल को निष्फल करते हैं।

मान विजय

इसी प्रकार मान को भी जीत लिया, यद्यपि बड़े बड़े राजा इन के पैरों पड़ते हैं, चक्रवर्ती तो इन की सेवा मे उपस्थित रहता है, तथापि उन को न उस मे कुछ आनन्द आता है, न अभिमान होता है। 'ये मेरे पैरों पर पड़ते है' इस सम्बन्ध में जरा सी कल्पना भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञानानन्दी, सहजानन्दी, आत्म-सन्तोष के अतिरिक्त बाहर की बातों पर क़तई ध्यान नहीं देते। अन्तर की श्रेणि के उदय का स्वाद दूध-मिश्री जैसा होता है और बाहरी पुद्गल का स्वाद तुस की रोटी के समान है।

माया विजय

माया-कुटिलता-वक्रता-और दंभ इन सबको जीत लिया है, माया नामक प्रकृति के पूर्व काल मे आवरण पडे हैं और फल के उदयकाल मे आत्मा अनुगामी या अन्वयरूप होकर आत्मा मे जुड़ न जाय इस प्रयास का नाम माया विजय है।

कुछ संसारी कहते हैं कि सांप की तरह थोड़ी सी फुंकार तो अवश्य रखनी चाहिये, यानी अपने बचाव के लिये थोड़ा सा क्रोध करने मे क्या हर्ज है, यदि न किया जाय तो संसार का व्यवहार चलना कठिन हो जाता है, यह कह कर जो वस्तु उपादेय नहीं है उसकी स्थापना करने लग पडता है कि क्रोध किये विना कोई मानता ही नहीं, घर के सब आदमी स्वच्छंद वन जाते हैं, वालक खाऊ उडाऊ और निरंकुश होजायंगे, स्त्रियां मनमानी घरजानी करने लगेंगी। मगर प्रसंग पड़ने पर इतना अप्रसन्न होता है कि तीक्ष्ण कोप के वश परमात्मा को भी बुरा भला कह डालता है।

माया पर दृष्टान्त

जैसे कोई व्यक्ति किसी के पास अपनी अमुक रकम मांगने जाता है, तक़ाजा करते समय कर्ज़मन्द को क्रोध की पूरी मात्रा मे धमकाता है। उस समय यदि कोई अन्य मनुष्य यह कहे कि भाई लड़ाई झगड़ा करने से क्या रुपया शीघ्र थोडे ही मिल जायगा? पैसा जब इस के पास ही नहीं तब क्या यह तुम्हारे क्रोध करने से पैसा कुछ मुंह से उगल पडेगा अतः क्षमा करो, सन्तोष से काम लो, यदि इसके पास रुपये होते तो तुम्हारे अपमान जनक और कडवे बोल न सहता। क्या करे वेचारा सब तरह से लाचार है,

तब सेट तपकर उत्तर देगा कि अजी अंधकार भरी रात में छाती तले से निकालकर दिये हैं, छि: क्या छोडदिये जायें, खाल उतरवा कर ले लूंगा। बेटी बिकवा दूंगा, इसे लिखलो, तुम्हें दया आती है तो तुम चुका दो, बड़े दयालु बनने चले हो, इसे समझाओ न! हम पर ही दबाव डालते हो, इसे तो कुछ नहीं कहते। क्या यह भी कुछ थोड़ा क्रोध है। कहने वालों का आशय यह है कि क्रोध अवश्य करना चाहिये कितना भयंकर निश्चय! परन्तु क्रोध स्वभाव अपना (आत्म-गुण) नहीं है और ज्ञानी पुरुष यही समझ कर उस को निष्फल कर डालते हैं। यद्यपि क्रोध का भूल से आजाना और बात है परन्तु "करना चाहिये" इस निश्चय पर रहने वाले को आत्मभाव मे स्थिर रहना कठिन है। हाय! क्रोध को मंद कहते हुये भी कहता है कि-यह तो करने योग्य है इस अभिप्राय से घिरा हुआ मनुष्य प्रत्यक्ष मे दर्शनमोह मे प्रतिबद्ध है, जिस को कि समझकर तत्वमार्ग पर आना कठिन है परन्तु यदि आत्मवीर्य की मंदता से कारण-वश कुछ क्रोध आ भी जाय तब समझना चाहिये कि यह अपना गुण नहीं है ऐसी मान्यता से यह समझा जायगा कि-चरित्र की मंदता के कारण दोष मे आगया है। मगर यह बहुत बडी भूल नहीं है। यथा समय वह किसी प्रकार समझ की राह पर आ भी सकता है।

प्रशस्त मान

मान मे भर कर कहता है कि माता पिता मरगये हैं मुझे उन की यादगारमें मृत्यु भोज करना है क्योंकि हमारी कुलपरम्परागत प्रतिष्ठा इसी में है जोकि बाप दादाओं के समयसे चली आई है,

इस आबरू में धब्बा न आना चाहिये। यह सब मानके वश होकर ही तो करता है। इस इज्जत को चाहे ऋण ले कर ही क्यों न चुकाया जाय। यह करने वाले का अभिप्राय है मगर सुखके लोभ से करता है या दुःख के भय से ? कदाचित् क्रोध-मान-माया कम कर डाले तो इस साधन से सद्गति मात्र पा सकता है, पर संसार परिभ्रमण अवश्य करना होगा एवं शास्त्र के अमुक वचन याद कर रक्खे हों जिस से अल्पकषाय कर डाले पर अंतर मे यह गांठ रखता हो कि 'करना ही पड़ता है" इस मान्यता को सदाकाल न छोड़े तो मानत्याग का प्रसंग कहां आया ? प्रेत भोजन या आभूषण बनवाने मे मान रखने की अपेक्षा अपने भूखे भाइओं की पालना मान के लिये भी करे तो आभूषण और मृत्यु भोज से यह अच्छा प्रकरण है। इसे प्रशस्त मान कह सकते हैं। तथा इस मे अधिक लाभ का कारण भी है। परन्तु "मुझे तो करना ही चाहिये" इस मान्यता से करनेवाला अप्रशस्त मान उसे मॅझधार मे ले जाके डुबो देगा। अखिल विश्व को खड़ा रख कर मोक्ष लेना है, पर यदि मान त्याग कर करे तो विवेकमय आचरण का क्षेत्र बदल जाय। ज्ञानी कहते हैं कि- बहुत सी क्रियाएँ मान के वश हो कर कीजाती है, परन्तु जब निगोद मे था तब तो मुफ्त मे ही माग लिया गया था और वह था गाजर मूली के पर्याय मे। आज वह आदमी के देह को पाकर मान करता है। लेकिन उस समय का भान नहीं है मगर वीतराग को तो तीन काल का ज्ञान है। उन का अभिप्राय जाने बिना कीड़ी के कलेजे जितना मान भी अपनी बुद्धि मे न लाना चाहिये। यह व्यक्तिगत कथन नहीं है बल्कि शास्त्रानुसार विचारना योग्य है कि मुझमे क्या क्या अवगुण हैं। मेरी भूलें कहां

कहां हुई हैं, यह सब अपनी हैसियत के अनुसार अपने ऊपर घटाना चाहिये। परन्तु 'अमुक वात अमुक पर घटती है' मनमें यह निर्धारण कर उसे देखते हुये अशुभ विचारों द्वारा उस का तिरस्कार करके पुरानी मैत्रीका भंग न करो, कदाचित् विचार भेद (मतभेद) हो तो भी उस का तिरस्कार करना धार्मिक सिद्धान्त को भग करने के समान दूषित है।

सिद्धान्तकार कहते है कि अभिमान के लिये कुल-वंश की परम्परा मे उलझ कर पड़े रहना मूर्खता पूर्ण है, क्योंकि संसार में सज्जन का जन्म अच्छे कार्यों मे भाग लेनेके लिये है, वे बुरे कामों से तो सदा अलग रहते हैं। अगला चाहे अवगुण का भंडार हो तब भी बुरा न होने पावे सज्जन पुरुषों की यही धारणा होती है। सज्जन मनुष्य की दृष्टि मे सर्वथा अज्ञानी संसार में कोई नहीं है। सर्वथा गुणी तो परमात्मा होता है लेकिन मध्यम स्थिति मे गुण और अवगुण दोनों मिले रहते हैं यदि गुण न होकर मात्र अवगुण ही हो तो आत्मा का अस्तित्व मिट जायगा परन्तु जगत् ने तो शरीर पोषण करने के लिये अवगुण को गुण मान लिया है। निगोदमे भी अमुक जातिका गुण तो रहता ही है, क्योंकि जीव गुण रहित नहीं है। मान के न्यूनाधिक गुण का तारतम्य रहता है। थोड़े मे थोड़ा भी न झुक सके तो समझलो कि मान का पूरा ही अंश है। थोड़ी सी नम्रता का अभाव हुआ कि क्लेश की आग सुलगी, हाय! उसी में सुलगर कर जल जाता है, लेकिन अपनी बात को नहीं जाने देता, जैसे किसी ने कहा है कि–

अभिमान के अंतरे, भासे जो निज भूल।
तब भी उसकी जीभसे, होत न कभी कबूल॥

अभिमानी जानकर भी अपनी भूलको स्वीकार नहीं करता, ऐसा मान का स्तभ होता है। अनुभव के लिये बनारसीदास कहते है कि- आत्मधर्म अमुक स्वभाव-स्वरूप मे है, अपने हित की साधना करने वाले जीवों के विषय मे उन्हों ने इस प्रकार कहा है कि-

"जो न करे नय-पक्ष विवाद, धरे न विवाद अलीक न भाषे"
"जो उद्वेग तजे मति अंतर शीतल भाव निरन्तर राखे।"
"जो न गुणी गुण भेद विचारत, आकुलता मन की सब नाखे"
"तो जग मे धरि आतम ध्यान, अखंडित ज्ञान सुधारस चाखे"

सुधारस आत्मा मे सुखगमक अतीन्द्रियगुण का नाम है इसका अनुभव आत्माके अतिरिक्त और कौन कर सकता है, इसी का वर्णन करते समय कहा है कि- जहा आत्मा के आनन्द तथा धर्म की बातें चलती हों वहा एक नय मे नहीं खडा रहता, पर सामने वाले अमुक नय से बातें करते है तब अपनी नम्रता को वे स्वयं छोड देते हैं नय गुण का अश है नय पक्ष समझे बिना ये बातें न्यायशील होने पर नहीं जॅचतीं।

दही का उदाहरण

दही बिलोते समय रस्सी के दोनों सिरे खींचने लगें तो मक्खन नहीं बनता, बल्कि एकको ढीला छोडकर एकको खींचे तो इच्छित परिणाम पर आ सकता है, यानी एक को खींचते समय दूसरे को ढीला करके झुका दे। संसार मे मेरे किये अभिमान के लिये कहां कहा झगडे बखेडे उत्पन्न होते है इसे नित्य विचारे तो सम्पकी सूझ पैदा करसके और यदि वह अपने घर मे भी सम्प करना न सीखे तो वह वीतराग पुरुषो के साथ मेल कैसे कर सके। जो पुरुष

रागी के साथ मेल नही कर सकता हो उसका वीतरागी के साथ क्या मेल खायगा। अतएव नय का पक्ष लेकर विवाद और झगड़े न उठाता हो तथा अपने को एक नय मे लपेट कर कभी न रखता हो, "अमुक वात हमसे सहन नहीं होती, यदि इस कल्पना ने घर जमा लिया है तो वहां तक अपना वीर्य निर्बल जानना चाहिये" अतः अपने साधकभाव या साधनदशा को पाने के लिये भी कुछ तैयारी करनी चाहिये। बनारसी दास कहते हैं कि विषाद भी न करता हो, मेरी बात नहीं रही इस बात का खेद न करे मगर आज कल तो जहाँ जहाँ गड़बड़ मचानी हो वहां स्याद्वादशैली खड़ी कर दी जाती है। परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'अपेक्षा' होता है, वाद का अर्थ बोलना है, यानी दूसरी अपेक्षा रखकर बोलना 'स्याद्वाद' कहलाता है, चाचा की अपेक्षा भतीजा और भतीजे की अपेक्षा चाचा है। इस प्रकार दोनों बातें अपेक्षा की दृष्टि से एक पर ही लागू होती हैं यानी एक ही वस्तु को दूसरे ढंग से कहना 'स्याद्वाद' है तथा वह सापेक्षवाद है। बनारसीदास कहते हैं कि-यदि अपनी बात न भी रहे तब भी आकुलता न उत्पन्न हो, क्योंकि मान के टलने पर मन की आकुलता नष्ट हो सकती है।

माया का अत्यन्त निषेध

बहुत से यह कहते हैं कि थोड़ा सा कपट तो करना ही चाहिये, इस विधि से कुछ बल पराक्रम उत्पन्न होता है पर माया टालना कब आता है?

तक़ाज़े का दृष्टान्त

एक मनुष्य किसी से ५००० रुपये मांगता है, मगर उस के

मकान विकने पर भी उतनी वसूली नहीं हो सकती, यानी २००० से अधिक उसके पास कुछ भी नहीं है तथापि वह कहता है कि एक पाई कम न लूंगा। मनमे यह भी जानता है कि खानदान का प्रभाव कितना है। अपनी हैसियत के अनुसार तो देताही है। मगर आंटें लगाता है कपटजाल को विछाता है और कहताहै कि ५००० से एक पाई कम न लूंगा। इस पर देने वाला कहता है कि भाई! मैं तो ५०० तक भी कठिनाई से पहुँचूगा। यद्यपि २००० देकर ही पिंड छूटेगा तो भी ५०० से देना आरंभ करता है। अंत मे २००० पर दोनोंका एक मत होजाता है और दोनोंने यह व्यवहार कपट से किया है। इस प्रकार उसने यह सिद्ध किया है कि "कपट किये विना जगत्का व्यवहार नहीं चलता" अत कुछ न कुछ कपट की रचना करनी पड जाती है नहीं तो निर्वाह क्योंकर हो, सरलका कहना है कि- भाई तुम्हारी कुलीनता-मान माहात्म्य माता पिता के नाम पर कलकका टीका न आवे ऐसी रीतिसे उदारता पूर्वक अपना ऋण अवश्य चुका देना चाहिये। कहीं कहीं नीति का पाक भी अच्छा उतरता है जैसे दो भाईओं मे वडा भाई अंधा हो गया है, वाप दादा का 'दाय भाग' अच्छे प्रमाण मे मिला है, उसका लड़का अभी छोटा है- इसी से छोटा भाई कहता है कि हमारे जीवन मे ही अमुक अमुक आभूषण अपनी इच्छानुसार जितना चाहो इसे दे दो, मेरे लिये तो अमुक घर वस है, शायद आपको और मेरी भाभी को इसमे कुछ आपत्ति न होगी' अत. अब ही देदिया जाय। क्योंकि फिर पीछे किसी को यह कहने का अवसर न आवे कि 'लडका अभी छोटा है और भाग किस प्रकार विभाजित किया जाय'। लोगों मे यह सदेह खडा हो जाय तो कितना वुरा असर पड़ सकता है। इस लिये कहता है कि भाई! मुझे कुछ न कहना

चाहिये आप जिसे चाहें देदें। मै तो अपना थोड़े में ही काम चला लूंगा। पर अपने इस छोटे लड़के को जो चाहें अभी दिलवाएँ। यह कह कर अपने अंधे भाई को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार नीति का वर्तांव करने वाले भी अनेक पड़े हैं। अतः इसका आशय यह है कि मुनि माया-कपट को जीतनेवाले होते हैं। फँसाने का समय आने पर भी ये किसी को अपनी माया मे नहीं फँसाते। परन्तु माया की वक्रता से यह मानना कि "माया किये विना काम नही चलता" मुनिओं का तो यह अन्तर अभिप्राय बिल्कुल नहीं होता।

जित लोभ इसी भांति लोभ को भी जीता है।

निद्रा विजय निद्रा और आलस्य पर भी अधिकार पालिया है।

जित इन्द्रिय इन्द्रियें भी काबू कर ली है।

जित परिषह

बाहर के परिषह देश काल के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल जो जो भी संयोग बनाते है, जिन मे अनुकूल संयोगों मे हर्ष नहीं मानता। प्रतिकूल सयोगों मे द्वेष नहीं रखता अतः वे केशीस्वामी समभावी अर्थात् भावितात्मा है।

निस्पृह और निर्भय

उन्हें जीवित रहनेकी आशा और मरने का डर भी नहीं है। इन

का ध्येय यह है कि जीवित रहेंगे तो शुद्ध संयम का पालन करेंगे और मरगये तो भव परिवर्तन करके संयमका उत्तम फल पायेंगे। इसी आधार पर मरने जीने की शंका नहीं रखते, ऐसे उत्तम गुण प्राप्त केशी मुनिराज हैं।

परिषह में गुप्त क्या है ?

वीतराग-देव ने आचारांगसूत्र मे फर्माया है कि मेरी आज्ञा मे ही धर्म है यह निर्मल ज्ञान द्वारा कहा गया है, इसीसे मेरी आज्ञा प्रधान धर्म है। क्योंकि ज्ञानी वीतराग भाव से जानकर तथा देख कर जो कुछ प्रगट करते हैं ऐसे मार्ग के समझने वालों को ज्ञान संगम भी तो अवश्य मिलना चाहिये न ? क्योंकि अनत काल का अज्ञात मार्ग अपनी स्वच्छन्दता से क्योंकर सूझ सकता है। मुख्य तत्व की शैली तो मात्र ज्ञानी ही वता सकते हैं वर्ना विश्व का अधिकांश भाग तो अपनी ही हांकता रहा है, यथा—

अवगुण ढांकण काज करूं जिन मत क्रिया,
न तजुं अवगुण चाल अनादिनी जे प्रिया।
दृष्टि राग ने द्वेष तेह समकित गणुं,
स्याद्वादनी रीति न देखुं निजपणुं ॥

देवचंद—

स्तुतिकार कहते हैं कि प्रभो! हमारा सम्यग्दर्शन कैसा है। यद्यपि आत्मधर्म की घोषणा मे जो चौथी भूमिका है वह सम्यग्दर्शन है मगर समभावी होकर जीव ने वह सम्यग्दर्शन कहा जाना है,

कि जहां से अन्तर आत्मा की दृष्टि पुष्ट हो जाती है मगर यहां तो यह हाल है कि-हमारे मतानुसार बोलने वाला मिल जाय तो वह सबसे अच्छा है । क्योंकि अपनी रूढिके अनुसार ही प्रमाणित करता है । कदाचित् दूसरे का न्याय न रुचे तो अपनी पकड़ से विरोधपक्ष मे कह डालता है कि भूल पड गई है, श्रद्धा मे फेर पड गया है, प्रत्युत अपनी मति का स्थापन करना ही जानता है ।

आनन्दघन जी कहा करते थे कि जिस का पक्ष लेकर बोलता था वही प्रसन्न हो जाता, जहां जहां कुल-पक्ष-सम्प्रदाय-गच्छ पक्ष में जुड जाता तब मुझ से वे खूब प्रसन्न होते । मै भी प्रसन्नता से उन के विचारो में बंधा रहता, परन्तु जहां उन के विरोधपक्ष में समर्थन करता वहां उन के क्रोध का पारा चढ जाता, और वे मेरे पीछे बुरी तरह पडजाते । जिस किसी का पक्ष लूं और एक नय से बात करूं तब उस के मतानुसार उसे मेरी बातों में बडा आनन्द आता, और जिसका पक्ष न लेता उसे मै बुरा और बहुत कडुवा मालुम होता ।

गुरु मूढता

दृष्टिराग की पुष्टि में अपनी मति मे वही मान्यता रखता है कि-हमारे गुरु ही सब से अच्छे-श्रेष्ठ तथा सब कुछ सिद्धान्तानुसार कहते हैं, लेकिन नित्य और अनित्य का रहस्य प्रकट मे लाए विना, स्याद्वाद का स्वरूप समझे विना, आत्म-ज्ञान-आत्म भान क्या है इन का स्वरूप क्या है उसका मार्ग निकालना अत्यन्त दुष्कर है ।

क्रियाकांड

"अवगुण ढांकण काज करूं जिनमत क्रिया" क्रियाकांड का ढौंग रच कर 'गुणी हू' ऐसा दिखाव करता है, भाव का तो चाहे कहीं ठिकाना ही नहीं है, राग-द्वेष-क्लेश के प्रभाव में चाहे डूबा जा रहा हो, कलेजे मे पचेंन्द्रिय जीव को मारने के भाव खड़ा करता हो, मगर एक दाना भी यदि पैर के नीचे आजाय तो अरे! हाय! जीव की विराधना हो गई, अधर्म होगया! इस प्रकार बाहरी क्रियाकांड मे अनादिकाल से फँसा पडा है और निरंकुश होकर मन माने चरित्र मे विचर रहा है, अनादिकाल की स्वच्छन्दता रूपी शृंखलामें बंधा हुआ है, अत प्रभु का कथन है कि 'मेरी आज्ञा मे धर्म है, अतएव किसी ऐसे ज्ञानी को खोजो और जो कुछ वह कहे उसे मानो। केशी मुनि इसी धर्म के प्रवर्तक है इन्हीं से चित्त प्रधान को मिलना है, जिसे अन्तर से आत्मतत्व मिला है गुण पूर्ण है महा सामर्थ्यशाली है, वह गच्छवाद मतिकल्पना की पुष्टि करने वाला साधु नहीं होता।

निर्भयदशा

ये मुनि परम ज्ञानी है निर्भय और शोक रहित हैं, इन्हें जीवित रहने की आशा और मृत्यु का भय बिल्कुल नहीं है. यद्यपि किसी शरीर का संयोग जन्म-और आत्मा से इसका वियोग होना मृत्यु है, इसके अतिरिक्त आत्मा न जन्म लेता है न मरता है, यह तो मात्र पर वस्तु का संयोग वियोग है। इसी का नाम जन्म मरण है, परन्तु इस की आशा और भय भी क्या? अत. इनका उद्देश्य यह है कि परिषह सहन समभाव से किया जाय।

परिषह क्या है ?

चाहे जितनी भी प्रतिकूलता क्यों न आवें परन्तु मन में रुचि-अभाव भाव उत्पन्न न हो, और अनुकूल सामग्रियों में प्रीति-भाव उत्पन्न न हो। इस प्रकार प्रीति और अरुचि के अभाव को समभाव से सहन करना परिषह है। दुख आने पर उसे सहने को भी परिषह कहते है, लेकिन जब दुःख प्रिय ही नहीं है न उस में रुचि रहती है, तब उसका सहन करना परिषह क्योंकर कहला सकता है क्योंकि दुःख को दुःख रूप कहना या मानना परिषह नहीं है। यदि कोई इस शरीर का वध करता है तब वह प्रतिकूल और अवांछनीय है मगर पराधीन हो कर सहन कर रहा है और सहन करते समय ये भाव आते है मानो अपना किया हुआ भोगा जाता है। तथा यह भी विचार आता है कि यदि इस दुख को सहन न करूंगा तो पाप का बहुत बड़ा बंध रूप कारण बन जायगा और नरक का दुखभोग अलग करना पड़ेगा। इस रीतिसे दुःख के त्रास से विना इच्छा के सहन करते समय कदाचित् कुछ पुण्य का उपार्जन कर सकेगा परन्तु संवर रूप और परिषह सहन रूप नहीं है और वह परिषहों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता।

परिषह का लक्षण

परि=सब प्रकार से, सह= सहन करना, विना किसी की सहायता के अनुकूल-प्रतिकूलता को सहना परिषह है। परन्तु कायरता से सहना हानिकारक है। यदि समभाव से न सहे तो नरक जाना होता है। फलित यह है कि कायरता भाव से सहना परिषह नहीं है। किन्तु यह मुनि तो समभाव से सब परिषह सहन करते हैं और वे परिषह के २२ प्रकार हैं।

घातकी-निंदक

कोई मनुष्य अपनी निंदा कर रहा है और उसके मुंह से बात बात मे कड़वास टपकती है, इसी को लोग घातक के नाम से पहचानते हैं यह बड़ा भयंकर होता है, परन्तु मुनि तो घातक द्वारा दी गई तितिक्षा को समभाव से सहते हैं। इसमें यदि यह विचार आजाय कि मुझे तो अपने वेश के लिये सब कुछ सहना पड़ता है, इस उद्देश्य से भी परिषह सहन करने की कोटिमें शामिल नहीं है कारण महात्माओं के अन्तर मे प्रशंसा से अनुकूल भाव निन्दा से प्रतिकूल भाव कभी न आने पावें। इसी प्रकार यदि कोई भय से भी पाप कर्म नहीं करता है तो भी मूल धर्म के स्वरूप की दृष्टि से वीतराग उसे धर्म पालन नहीं कहते।

अन्तर्जागृति

सब प्रकार की सहन शीलता होने पर भी अपने अन्तर की शक्तियों को जागृत-सजग न रखता हो और सहन न करता हो वह कुछ सहन करना नहीं कहलाता सहन करते समय अन्दर की शक्ति का सचेत होना परमावश्यक है।

आर्तध्यान

जब कभी आपत्ति या दु.ख अनायास आ पड़े तब उसे खोने के लिये कोई तो मरना तक माण्ड देता है यानी मृत्यु की अपेक्षा उस आगन्तुक कष्ट को अधिक मानता है। पर उसने अपनी स्वाधीन दशा को तो किसी रूप मे समझा ही नहीं है। तब आपत्ति को समभाव से न सह कर यदि मृत्यु को पसंद करे तो उसे मिथ्यात्वी या अज्ञानी कहा है। अपने पुण्य के अभाव मे अन्य

व्यक्ति प्रतिकूल हो जाता है ऐसा गुणग्राही अन्य को लांछन नहीं लगाता तथा वह समभाव से सहन करता है। कुत्ते को कंकड़ मारने से वह कंकड़ के पीछे दौड़ता है, पर यदि सिंह को गोली मारी जाय तो "किस ओर से गोली आई है"? यह निर्णय करने पर वह गोली मारने वाले को पकड़ने जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष का स्वभाव भी न्यायनिष्ठ होता है। प्रतिकूलता कहां से आई उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, अन्य को न मिल कर यह प्रतिकूलता मुझे ही क्यो मिली-अमुक ने मारा-अन्य ने क्यों न मारा-इसमे मेरा कारण अवश्य है-या इसका कुछ नकुछ कारण है, इस प्रकार ऊहापोह करने के अनन्तर ज्ञानी मूल कारण को खोज लेता है, दुख का आगमन पहले ही जान लिया जाता है। अन्य प्राणी को तो निमित्त रूप ही मानता है। अपना उपार्जन किया हुआ कर्म जान कर उसे समता पूर्वक सहन करता है। इसी भांति निन्दा या स्तुति अपने ही निमित्त होती है ऐसी समझ पाये विना दृष्टि विभ्रम नहीं जाता। जैसे किसी अन्य की लड़की अपने घर मे वधू के रूप में आई है यदि उसके साथ सम्प और प्रीति का ठीक बर्ताव न करे तो परमात्मा या सन्त पुरुषों से प्रेम का व्यवहार कैसे कर सकता है। अतः ज्ञानी पुरुष दुःख का प्रसंग आने पर यह समझ कर सहनशीलता रखते हैं कि मेरा स्वरूप ज्ञान तथा साहजिक सहनशीलता है।

सहन करने की अपेक्षाएँ

किसी पुरुष को गाली देते समय अगला यह समझ कर सह जाय कि-इस के सामने बोलूंगा तो अधिक गालिएँ खानी पड़ेंगीं, इस प्रकार अधिक गाली खाने के लिये सहन करना सहिष्णुता की

रीति नहीं है, बल्कि निर्बलपुरुष गाली बकता हो और सबल उसे पी जाय वह सहन शीलता है। भयसे सहना आत्मभाव की सहन शीलता नहीं है परलोक में रुलना पड़ेगा इस भय से यदि सहन करे तो पुण्य उपार्जन अवश्य होगा, पर वह परिषह सहन न कहलायगा अथवा मुझ पर दुःख आपडा है यह मेरा अपना कर्मफल है, इसलिये सम्भाव से मुझे ही भोगना है इस पहलु से दुःखको दुःख रूप समझकर सहना भी परिषह नहीं है। पर मेरे लिये कुछ होना जाना नहीं क्यों कि मेरे आत्मा को निंदा स्तुति दुःख सुख समान है, यह जानकर आत्म भाव से सहन करना परिषह कहलाता है।

'आचारांग' सूत्र के तीसरे अध्याय में प्रभु फर्माते हैं कि बाहर से आपत्ति या कष्ट आरहा हो जिसे सब ने जान लिया हो उसे समभावी उपसर्ग कहते हैं तथा जिसे कोई अन्य व्यक्ति न जान सके और अन्तर से आनेवाला है वह परिषह समझा जाता है मुनिवर्ग उसे दो प्रकार से सहते हैं वे प्रकार ये हैं।

(१) यदि पाप करूंगा तो अन्य के द्वारा बुरा कहलाऊंगा, इस निमित्त से सन्देह मे पड़ कर पाप न करता हो।

(२) यह कोई अन्य व्यक्ति खड़ा है लेकिन मेरा शत्रु भी नहीं है, तो भी मुझे देखकर कभी मेरा रहस्य किसी अन्य के सन्मुख प्रगट न करदे इस भयसे भी पाप न करता हो, उनके विषय मे प्रभु आज्ञा फर्माते हैं कि मैं उन्हें त्यागी नहीं समझता, यह तो लोगों के भय से पाप नहीं कर रहा है, उसे धर्म भाव से सहन करने वाला नहीं कह सकते किन्तु मात्र व्यवहार मे त्यागी है पारमार्थिक दृष्टि से त्याग या साधुताका अधिकारी नहीं है इस लिये निश्चय त्यागी या आत्मार्थी हम उसे नहीं कह सकते। यद्यपि एक दूसरे

के दबाव या संकोच से पाप करते करते अटक रहे तो क्रम से कभी लघुकर्मी होने का अवसर तो अवश्य आ जायगा पर यह पाप निषेध का उत्तम मार्ग नहीं है। ये केशीमुनि बाहर के भय से नहीं बल्कि ज्ञान बल से या आत्मभाव से परिषह सहने वाले हैं। 'मुझे सहन करना पड़ता है' इस प्रकार उनके मन मे विकल्प तक भी नहीं उठाता। दुःख पड़े और चोट लगी समझे यह विसंवाद आत्मार्थी मुनि को नहीं होता। बल्कि सहन करना उनका सहज स्वभाव है। 'संवत्सरी के दिन उपवास करना है' यह चिन्ता आठ दिन पहले होती हो, तो मारे डर के तड़फड़ाया करे, लोक लाज से ज़रूर करना पड़ता है और न करने में अपनी निंदा का डर लगता है, परन्तु इस रीति का त्याग कार्य युक्ति संगत नहीं बल्कि कार्य सम्पादन तो आत्म शक्तिसे ही करना चाहिये। इसको बढ़ाते हुये आत्म शक्ति इतनी बलवती हो जाय कि जिससे यह ज्ञात न होगा कि कल मैंने उपवास किया था या नही ? यह भान तक न होगा। जब शरीर में अशक्ति प्रतीत होगी तब ही ज्ञात होगा कि मैने कल उपवास किया था, ऐसी दशा को प्राप्त होकर वह अपने समाज के लिये सर्वस्व अर्पण करता हुआ पीछा मुड कर न देख सकेगा। चाहे उसकी शक्ति हैसियत से थोड़ी भी क्यों न हो। जैसे किसी के पास ५०० रुपये की पूंजी भी न हो तथापि ५००००का व्यापार फैलाने का हौसला रखता है परन्तु मनोकामना एक दम पूर्ण न होगी, छोटा मोटा धंधा पाकर पांच वर्ष में धीरे२ बढ़ता हुआ ऊँची छलांग लगाकर चढ़ सकता है, इसी भांति थोड़े त्याग द्वारा आत्मा की चरम सीमा पा सकता है, पर किसी के दबाव से करे तो कारणभूत न कहलायगा। तथापि आगे बढ़ा जा सकता है।

तप में प्रधानता प्राप्त

ये महर्षि तप में उत्कृष्ट तथा ज्ञान में भी प्रधान हैं, श्रुत=चारों ज्ञान में परिपक्व हैं।

चउदस्स पुव्वी

१४ पूर्व-ज्ञानके पाठी हैं, लोगोंकी तो यह धारणा है कि आज कल जो ज्ञान मे कम हो वह ही तपश्चर्या करता है परन्तु ये मुनि महा ज्ञानी होने पर भी छः छः मास तक के चौविहार उपवास करते हैं। सब प्रकार से इच्छाओं का रोधन करके आत्मभाव में विचरते हैं। कर्म के आवरण को ज्ञान ध्यान तप और त्याग द्वारा तपा डालते हैं क्योंकि आवरण को तोड़ डालने का नाम ही तप है।

गुणप्पहाणे

अनेक सात्विक तथा उत्तम गुणों मे भी प्रधानता प्राप्त हैं, पांच इंद्रियों का सतत निग्रह करते हैं, किसी प्राण को दुःख न देने वाले धर्म मे प्रमुख (प्रधान) हैं।

करणप्पहाणे

करण सम्बन्धी क्रियाओं मे प्रधान हैं, अत्यन्त कठोर विधि से पालन करने मे समर्थ पुरुष हैं। मासोपवास के पारणक के दिन ५० घरों में घूमने पर भी आहार न मिले तो देह को खेद नहीं होता। *

* पिंडविसोही-समिई-भावण-पडिमा य इंदिय निरोहो।
पडिलेहण गुत्तिओ. अभिग्गहो चेव करणं तु॥

चरणप्पहाणे

साधु के १० प्रकार के धर्म पालन करने में भी ये मुनि प्रधान हैं। इनके द्वारा आत्मा के सम्पूर्ण प्रयत्न से जीवों की ठीक यत्ना करते थे। सदैव अपने आत्म हित मे निरत रह कर अहित तथा अवैध कर्म से अलग रहते। चरित्र का पालन करने से अंतर यत्ना होती है। इस यत्ना मे आप सब में अच्छे थे। *

निग्गहप्पहाणे

इन्द्रिय और मन के वश करने में भी एक ही थे,

निच्छयप्पहाणे

अपनी प्रतिज्ञाओं के निश्चय में प्रधान थे।

अज्जवप्पहाणे

ये मुनि सरल व्यवहार में तो अद्वितीय थे। जीवन की सब बातें निष्कपट थीं। उत्तराध्ययन सूत्र के १०वें अध्याय मे बकरे का उदाहरण दिया है, कोई यह कहे कि इतना घटिया उदाहरण ज्ञानिओं ने क्यों दिया, परन्तु यहां ऐसे तर्क को स्थान नहीं है, उस दृष्टान्त में तो मात्र इतना समझाया है कि ज्ञानी का लक्षण विद्वत्तापूर्ण न हो कर हेतु पूर्ण होता है कसाई के बकरेका हेतु देकर ही बताया है जिस से सरल बुद्धि वाला भी यों समझे कि कसाई ने एक बकरा पाला है, उसे स्वच्छ भूमि मे बांधता है, जौं और उड़द का चारा

---

* वय समणधम्मं संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ।
णाणाइ तइय तव कोहनिग्गाहादि चरणमेय ॥

चराया जाता है। वह भी मगन होकर चरता है, पर आगे इसका परिणाम बहुत बुरा आता है। गाय या बकरी को पोषे तो वह अवश्य दूध दे मगर यह तो बकरे को खिला पिलाकर मोटा ताजा करता है। इसका उपनय यह है कि जो जीव मनुष्य देह पाकर विषयों मे उन्मत्त होता है तथा औरों के गले पर (सुख पर) छुरी चलाकर उनके सुख को लूटता है और कसाई के बकरे की तरह शरीरकी पोषणा करता है मानो वह दुर्गति की तैयारी कर रहा है। उसका मस्तक बकरे की तरह काटा जायगा, अतः ज्ञानी कहते हैं कि सादा और सरल उदाहरण देने मे कभी शर्म न करना चाहिये। सादे उदाहरण से हेतु की पुष्टि होती है, इसमें इतना और विचारणीय है कि कसाई के बकरे ने जिस भांति अच्छे माल खा कर अन्त मे उसीके हाथ अपनी जान दी, और मस्तक धड़से अलग करा लिया। इसी प्रकार यदि औरों के गले दबा कर अनुकूलता प्राप्त करता है तब क्या आगे उसे मस्तक कटाना न पड़ेगा? प्रभु का उपदेश और परमार्थ कितना सरल है। इसी विषय की पुष्टि के अर्थ अनेक हेतु आयेंगे और वे वैराग्यकी पुष्टिके कारण होंगे।

अज्ञानी और ज्ञानी

अज्ञानी का आडम्बर बाहर से अच्छा दिखता है परन्तु ज्ञानी का वज़न हेतु मे ही है। केशी मुनिके शब्द प्रयोगमे सरलता युक्त हैं। इस के अतिरिक्त मन और इंद्रियों मे तो सरलता की हद हो गई है, जिस की पुष्टि मे यह उदाहरण दिया गया है और यदि कोई व्यक्ति विद्वत्तापूर्ण दृष्टांतों से समझ सके तो वैसे भी देते हैं तथापि वे सरल ही कहे जायेंगे किन्तु आज कल के मनुष्यों को पकड़ना हो तो परीक्षा के समय सहज मे बोलते बोलते पकड़े

जा सकते हैं क्योंकि आज कल मात्र वाणीविलास खूब जोरों पर है परन्तु भाव और हेतु तो सरल हृदय में ही पुष्टिकर होगा वहां एक कौडी का भी उदाहरण दिया है कि एक वनिया एक पाई के लिये सोने के हजार सिक्के खो बैठा था, इस प्रकार अनेक उदाहरणों मे हेतु को सरल बना कर ऊंचा स्थान दिया है।

मद्दवप्पहाणे

मार्दव-निरभिमान दशा मे भी ये मुनि सर्वोत्कृष्ट हैं, कभी सामने से स्तुति का प्रसंग आ जाय तो इन्हें जरा भी खुशी न होगी। आप बडप्पन दें तो आपकी दृष्टि से लेकिन वे अपने आप तो निरहंकार दशा मे मगन हैं। उपदेश के समय भी वे यह नहीं कहते कि 'यह प्रसंग मुझे इसी तरह जँचा है' 'मेरी धारणा यह है' "मैं यों कहता हूं बल्कि ये महान् और समर्थ गुरु अपने शिष्य को पढ़ाते समय यह कहते हैं कि 'मैंने आत्माभिलाषापूर्वक ज्ञानीजनों के मुंह से इस प्रकार सुना है' विषय पूर्ण करते समय कहते है कि 'भगवान् से इस प्रकार सुना है' मैं उन्ही के कथनानुसार इस तरह कहता हूं। कुछ मैं अपनी उक्ति से नहीं कहरहा यह कह कर निरभिमान दशाको लेते हैं। अधिक क्या कहा जाय ये तरुण मुनि सरल स्वभाव भावित और पूरे निर्मोह-निरभिमानी हैं।

इति चतुर्दशोऽध्यायः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

ये देव भी हैं, देवगति प्राप्त देव नहीं बल्कि अन्तर की आत्म शक्ति से समृद्ध देव हैं। दिन रात आत्म शक्ति की साध मे संलग्न हैं। देव-गुरु धर्म को समझाने वाले हैं अतः सच्चे धर्मी हैं जिसका उत्तराधिकारी भी ऐसी ही होता है। अनन्तकाल से संसार मे रुलते हुये इस जीव ने अब तक असली देव गुरु धर्म का स्वरूप नहीं पहचाना है। यदि जानता तो अनन्तकाल की विपर्ययदशा से (बिगड़ी सड़ी मान्यता से) पीछे हटता तथा कुमार्ग मे न जा कर सुमार्ग पर लगता। इस मार्गको समझ बिना जीव ने साधन तो अनगिनत व कठोर से कठोर भी किये पर अपनी स्वच्छदता से देव गुरु धर्म का मर्म न समझ पाया। उनका ज्ञान पाये बिना मन वचन काय योग की मात्र पूर्ति ही करता रहता है।

यथा—

यम-नीयम-संयम आप कियो, मुनि त्याग वैराग्य अथाग लियो,
वनवास रह्यो मुख मौन ग्रह्यौ, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
बहु साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मन से, उन साधन से कछु और रह्यो ॥

यम नियमका साधन इस जीव ने अनन्तवार किया है, त्याग वैराग्य का अन्त ले डाला, जंगल में हिरण की तरह एकाकी विचरते हुये अनेक वार मौन का सहारा लिया, दो दो महीने तक समाधि में वैठा रहा, छः छः मास तक कुछ न खा पीकर उपवास किये, समाधि मे अनुरक्त रहते समय वाघ और सिंह ने फाड़ फाड़ कर खालिया तव भी कुछ पर्वाह न की। इस रीति के त्याग वैराग्य मे अनन्तकाल खपाकर अब और क्या कुछ करना वाकी है ? आह ! जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक का कष्ट अव तक न मिटा सका, इसी प्रकार आगे का फिरना अभी न जाने कितना वोझ सिर पर ढोना शेष है। आसन तो इतना मजबूत लगाता है कि चाहे कोई चमड़ी उधेड़ कर लौन मिरच ही क्यो न भरदे तब भी इन्हें क्रोध न आवे। इस भांति के अनेक साधन किये परन्तु अन्त मे फिर भी कुछ करना वाकी रह गया है।

बहुत कुछ करना वाकी रह गया है जिसकी अव तक कुछ खबर ही नहीं है। इसी कारण कहा है कि जिसके पास धर्म समझना है उस पुरुष ने पहले धर्मपद को समझा है या नहीं ! इस लिये साधु पद के गुण शास्त्रकार बताते है।

अधिक पाप किसमें है

जितना पापकर्म हिंसा के फल मे नही लग पाता जितना दोष उलटी मान्यता मे है, हिंसा करने वाला मन-बचन-काय की सहायता से अमुक हिंसा करेगा अतः उसके परिणाम को पा जाते है, परन्तु जिस पुरुष का अहिसक स्वभाव आत्म-भाव पूर्वक प्रगट हो गया है, ऐसा पुरुष पहचानने मे नही आता और गुरु पद को वदल देता है। कुगुरु वह है जिसे कि आत्मा का भान नहीं है

वह अपने मे गुरुपद मनवाना चाहता है तब जिसमे गुरुपद का स्वभाव है उसका अनादर कर डालता है साथ ही देव गुरु धर्म का भी अनादर हो गया जिसने फिर तीन काल की हिंसा का आदर खड़ा कर दिया अतः उलटी मान्यता महापातक है क्यों कि जिसमे धर्म पद प्रगट हुआ हो उसे उलटी मान्यता सुनकर पतित होजाना है। तब पतन करने वाला अनन्त जीवों के कर्मों की मलाई के साथ निश्चय पूर्वक दब जाता है और सच्चा साधु अनन्त जीवों की दया का पालन करता है, उसके मारने पर अनंत जीवों की कृपा की छाया उठ गई अर्थात् अनन्त जीवों की दया के पालने का साधन अटका दिया, इस लिये यह भारी पाप है और व्यवहार की दृष्टि से है। दूसरे यह कि साधु स्वयं अहिंसक स्वभाव का पालक है और वहा से मरकर देव लोक मे उत्पन्न होगा। इसके अनन्तर मनुष्य बन कर अनन्त जीव की रक्षा का उपदेशक बनेगा। तीसरे अनेक जीवों के लक्षण विधायक मार्गको बताता पर उसे रोक दिया, ये तीनों प्रकार व्यवहार नय के है। निश्चय नयकी दृष्टि से जिसके अन्तर मे अनन्तकाल खड़ा है, जिस स्वभाव मे अनन्त संसार की शक्ति भरी पडी है और इस भव को पाकर अनन्त संसार टालने की शक्ति है उस अनन्त संसार के परिक्रमण को हटाकर स्वभाव धर्म की शक्ति को जिसने अपने अन्तर से प्रगट किया है ऐसे साधु को मार डालने वाला अनन्त संसार के प्रतिबन्ध मे रहता है, इसे ससार के टलने के भाव न हो, इस भाव की उपस्थिति भी न हो, ये भाव मारने वाले के अन्तर मे ही होते है, संसार मे रुलने की उलटी मान्यता और अज्ञानता जिसने स्वीकार की है और परिक्रमण को जिसने हटा दिया है या ऐसे भावों को अन्तर मे प्रस्तुत

करता रहता है उस भाव की उपस्थिति अब तो क्या बल्कि तीन काल मे भी न होने पायगी। तब अधर्म को ही पोषण-शक्ति मिलेगी। [एक धर्मी पुरुप के मारने से या उसे न पहिचानने से] ऐसी मान्यता वाला जितने अधर्म आप बोलते हो उन सब का सेवन करने वाला है इसमे उसका टोकरा नम जाता है। साधु के मारने-काटने के विषय मे आप इतना विशेष समझें कि जिसके अन्तर मे ज्ञान की दशा का (अपने स्वभाव का) लक्ष्य हो गया है और संसार का अभाव करने के भाव खड़े किये है, वे भाव न हों ऐसे साधु भाव का मरण होगया, आत्मा के गुण का अन्दर से आदर नहीं करता, उसमे अनादर तो खड़ा ही है, जिसने परम गुरु पद को न पहचाना हो उसने गुरु पद का भी अनादर किया है यानी एक भाव का आदर और दूसरे का अनादर कर दिया।

विकृत मान्यता

परन्तु लोको की तो उलटी मान्यता है कि कोई उन्हें पांच इंद्रियों का धर्म (स्वभाव) समझाये तो वह खूब पसंद आता है क्योंकि उनके धर्मों को छोड़ने के भावों को अभी नहीं समझा, श्रद्धा निर्मल नहीं क्योंकि मान्यता उलटी है। सच्चे धर्म को यदि कोई बताए तो कहेगा कि यह कभी हो सकता है? इसमे संसार नही निभ सकता। यों कुछ करते करते शनैः२ छूट सकता है, पर यों न छूटेगा निकलनेके भाव से ही निकलेगा। जो साधु आत्मा के अन्तर की साधक दशा को पा लेते है जिस प्राप्ति को धर्म की दृष्टि से पालना समझे ऐसे तीन काल मे न हों। जैसे कहा है कि—

पाप नहिं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो,
धर्म नहिं कोई जग सूत्र सरिखो।

आनन्दघन—

इस जगत् मे सबसे बड़ा पाप न्याय से उलटी प्ररूपणा करना (उलटी मान्यता रखना) है जिसके अतिरिक्त और कोई पाप नहीं क्योंकि उलटी मान्यता के बीज मे तीन काल के कषाय का वीज पड़ा हुआ है और सच्ची श्रद्धा जहां तक न हो वहां तक अनन्त-भव सन्मुख हैं। खोटी मान्यता वाले मे तीन काल के संसार जितने भाव हैं। उतने ही भावों का अनुमोदन उसमे पाया जाता है अतः सिद्धान्तकार कहते हैं कि सच्ची समझ पैदा करने के लिये देव गुरु धर्म का पहचानना आवश्यक है। एक मनुष्य मट्टी का वर्तन खरीदने जाता है तव उस पर तीन टकोर लगा कर परख करता है, लेकिन देव-गुरु-धर्म को पहचानने की जरा सी जिज्ञासा नहीं करता, गुरुपद मे भूल होगी तो अनेक भूलें पड़ जायँगी।

लाघवप्पहाणे

निष्पाप होकर हलकेपन मे भी प्रधान है, साधु हरी सब्जी से तो अपनी शरीर पोषणा नहीं करते परन्तु यदि कोई कथित आरंभ करके आहारादिक अर्पण करे तो उसे भी वे स्वीकार नहीं करते। इसका साधन करने वाला भी अन्तर साधु नहीं कहला सकता। क्योंकि यह सब बाह्य हिंसा के साधन मे से कहा गया है लेकिन अन्तर्दशा की वात तो निराली ही है। ये बाहरी दृष्टि से कोई उपाधि न रखकर धर्मोपकरण भी कम रखते हैं और अन्तर से निस्तृष्ण तथा निस्पृह होकर रहते हैं। इनका सब त्याग विशेष है जिसकी तुलना वाहर के त्यागी से नहीं की जा सकती।

नक़ली त्याग

एक समय आला खाचर के पास एक संन्यासी आया, तब उसने पूछा कि महाराज! आपका क्या धर्म है?

साधु—अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहादि।

राजा—आपकी सेवामें कुछ भेंट रक्खी जा सकती है या नहीं?

साधु—हां! हां!

राजा—कुछ देना पड़ता है या रूखी सूखी ही भेंट।

साधु—यही पचास सौ रुपया।

राजा—आप उनका क्या करते हैं?

साधु—पुजारी हमारे साथ रहता है, वही ले लेता है, हमतो उसे छूते तक नहीं।

राजाने बैठे हुये दिवान भगवानजी भाईसे कहा कि-प्रधान! साधु का त्याग मेरे जितना ही है, मै भी राज्य की उपज अपने हाथ से नहीं लेता उसे मेरे राजकीय कर्मचारीगण लेते है मै तो छूता तक नहीं, इसी प्रकार ये महाराज भी स्वयं नहीं लेते और इनके साथी मनुष्य ले लेते हैं इसलिये मेरे से कुछ भी अधिक त्यागी नहीं है।

राजा-इसके अतिरिक्त दूसरा त्याग अधिक है, देखिये क्षत्रिय को भी इतना परिचय प्राप्त था कि त्याग धर्म कुछ और ही वस्तु है और त्याग धर्म मे सब से बड़ी अधिकता होती है। इस त्याग से वह त्याग विशेष है। त्याग मे आपको और अधिक क़दम बढ़ाना है मगर उस साधु को तो इतनी खबर न थी कि मुझे मेरा अधिक प्रमाण का विष मारेगा, तब थोड़े प्रमाण का विष तुम्हें आख़िर विष ही तो है? अतः ऐसा साधु पद व्यवहार से भी न होना चाहिये, निश्चय की तो कौन जानता है, स्वयं अपनी जेब मे परिग्रह नहीं रखते तो क्या हुआ, क्या इतना करने से अपरिग्रही

यन जायगा ? नहीं कदापि नहीं। इसी लिये शास्त्रकार कहते हैं कि अन्तर और बाहर के परिग्रह से ये मुनि बिल्कुल लघुभूत हैं।

खंतिप्पहाणे

ये क्षमा गुण मे भी उज्वल है, क्षमा अपना ही निज गुण है। आत्मा समता स्वरूप है, समता का माहात्म्य लोक नहीं जानते वे तो क्रोध के महत्व को ही समझे हुए हैं। जैसे भैंस को जिस कीले से बांधा है उनके बीच मे एक जजीर है, भैंस उसी को जोर लगा कर खींचती-तानती है। उस खींचने की क्रिया को लोग भैंस का वल कहते हैं। पर यदि वह संकल से छूट जाय तो जोर किससे करे ! और इस अवस्था मे अधिक जोर भैंस का है या कीले का ! कीला खूब मजबूती से गड़ा हुआ है, इसी से इतनी क्रिया हो रही है। कीले का जोर गुप्त है मगर भैंस का जोर ही उसे प्रगट रूप मे खींच रहा है। ज्ञानी कहते हैं कि अनादि काल से जीव क्रोध को खींचता चला आया है। यह क्रोध की अवस्था किस की है, क्रोध की शक्ति का विलोम क्रिया के जोर से लोग नोट करते हैं। क्रोध से क्षमा नामक गुण की दशा उलट पुलट हो गई है। तव ही तो क्रोध मे इतनी शक्ति उत्पन्न हुई। क्षमा गुण मे कितना वल है ? जिसकी उलटी दशा में भी इतनी विलक्षणता हो जाती है सुलटी दशा न होती तो उसके विना विकृत वल कहा से आता। समभाव का कीला पड़ा है तथापि ऊपर का खयाल न आकर उलटी दशा की ओर खिंच जाता है। संसार की दृष्टि से खडी खडी सुलगती हो तो मन मे यह कल्पना उठेगी कि ऐसे घर मे कलंक लगा दिया जिसे अन्तर से गान फर सुलगी है फिर भी चू तक नहीं करती, लोग उसमे इतनी सहन शक्ति वताते हैं और गजसुकुमार की सहनशक्ति के

संबंध मे लोग यह शंका करते हैं कि क्या ऐसा भी हुआ होगा ? इतनी भारी सहनशीलता हो सकती है ? हमारी तो यह समझ में नही आता ? परन्तु क्रोध में जल मरने वाले के संबंध में तनिकसी भी शंका नहीं करता, बस हम उसे लोगों की उलटी मान्यता कहते हैं। संसार की दृष्टि से खड़ी सुलगती रहे और चीं तक न करे इतनी सहनशीलता मानके भाव मे की जाती है, यदि वह शक्ति न होती तो यह बल कहां से आता? तब सुलटे भावसे सुलगे और फिर चूं तक न करे तो इसमें शंका किसी बातकी नही है, समता क्षमा का गुण है और क्या वह खड़ा न होगा। क्षमा गुण का निश्चल और अक्रिय कीला आत्मा मे पडा हुआ है जो हिलाये हिल नहीं सकता। परन्तु आत्मा अभी सक्रिय अवस्था में है जिसकी लोगों को तनिक सी ख़बर भी नहीं है और शरीर के जलने से आत्मा का सद्भाव तो है ही अर्थात् आत्मा का नाश नहीं हुआ है, यदि सुलटभाव से सहन करे तो उसकी दशा ही फिर जाय, किन्तु अब तो क्रोध नामक विष आकर मिल गया है जिससे उसी दम अफीम खा कर मरता है तव लोग क्या कहेगे कि वेचारा दुःखी था, क्रोध का भूत सिर पर चढ गया, सहसा अफीम खा गया या जल मरा, अवज्ञा न सह सकने के कारण इस प्रकार शरीर का पात कर देते है किन्तु अपमान नहीं सह सकते, अपमानादि के कारण शरीर को छोड़ते समय क्षण मात्र के लिये भी आगा पीछा नहीं सोचते। अतः अपमान के उपलक्ष्य मे देह को छोड़ दिया जाता है। क्योंकि स्वभाव मे विभाव अपना घर जमाये हुये है जिससे शरीर को निर्मोह होकर त्याग देता है और यदि निर्विकल्प दशा रहे तो संसार मे से क्यो न छूट जायगा ? ससार का प्रेम देह को गिरा देता है, पर आत्मा के ध्येय से शरीर का मोह

छोड़े तो उसकी परिभ्रमण दशा मिट जाय। अनन्त क्रोध के द्वारा देहका नाश करता है, यदि उसकी सुलझी हुई दशा मे क्षमा (समता) के गुण को उपस्थित करे तो वह आत्म-लक्ष्य से कषायों से निर्मुक्त होते ही निर्वाण हो जाता है अतः इस दृष्टि से केशी-स्वामी का क्षमा नामक गुण बहुत ही ऊंचे दर्जे का है।

मुत्तिप्पहाणे

निर्लोभता मे भी प्रधान है।

सोयप्पहाणे

द्रव्य-भाव से निर्मल (पवित्र) है।

विज्जप्पहाणे

अनेक विद्याओंमे प्रधान है। यद्यपि संसार की अनेक कलाओं और विज्ञान विद्या मे प्रधान है तथापि वे धर्मकला मे सब से अधिक निपुणता प्राप्त है।

मंत्तप्पहाणे

मन्त्र विद्या मे भी पर्याप्त अधिकार है। यदि पानी के ऊपर अधर चलना हो तब भी चल सकते है परन्तु आत्मा के साथ ऐसे चमत्कारों का कुछ संबंध नहीं है। इस मुनि मे इस प्रकार के चमत्कारों की लब्धि अवश्य है। परन्तु इन्हें जनता के सन्मुख प्रकाश मे लाने की जरा सी भी आवश्यकता नही क्योंकि इन्हें तो चमत्कारों मे मोह ही नहीं है। न कभी वे प्रयोग के द्वारा उस का माप ही निकालना चाहते है। उसे कभी उपयोग मे लाने का प्रयत्न भी नहीं करते हैं, यदि स्पष्ट कहलाना चाहते हो तो इन

चमत्कारों को राग- द्वेष की पुष्टि करने वाले व्यक्ति ही उपयोग में लाते हैं। × × × अगले के पाप के उदय से कोई मूठ या मन्त्र छोडे तो उसका इन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। उनके अपने ही पाप का उदय हो तो उस प्रयोग द्वारा उनका निजका अहित हो सकता है लेकिन वे किसी का कुछ नहीं बिगाडते परन्तु पुण्यात्मा का इन्द्र भी बाल बांका नहीं कर सकता और पाप का उदय आने पर एक निर्बल मनुष्य भी प्रतिकूलता की दिवारें खडी कर सकता है। तावीज मे मंत्र लिख दोगे क्या ? भैंस दूध नहीं देती, अत: कोई डोरा-गडा बना दो, महाराज ! कोई ऐसा मन्त्र है जिस से पति वश मे होजाय ! अथवा अपने अधिकार मे अमुक स्त्री हो सके ! इस प्रकार की फर्माइशें पूरी करने वाले जोगी-बाबा बहुत से मिल सकते हैं, मगर ये सब निकम्मे तथा खोटे हैं, साधु तो मात्र इतना ही कह सकते हैं कि राग-द्वेष करना छोड दो सब वश मे हो जायंगे, साधु का आशीर्वाद सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं होता क्योंकि सांसारिक लाभ के लिये दिया हुआ आशीर्वाद साधु-धर्म के विपरीत तथा पाप और अन्तर शत्रुता का मूल कारण है अत: ऐसे आशीर्वचनों का साधुजन प्रयोग नहीं करते, वरन् ऐसा आशीर्वाद देते हैं जिससे प्राणी आत्मा का कल्याण कर सके और जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके।

बंभप्पहाणे

ये मुनि ब्रह्मचर्य का पालन करने मे पूरे बलशाली हैं। नव बाड़ लगा कर पवित्रता से पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, स्त्री के पास एक आसन पर नहीं बैठते, मालमलीदों वाला सरस-आहार नहीं खाते, लड्डू-पेड़ा-हलुवा- नहीं चाहते, क्योंकि बलिष्ठ

आहार पेट में पहुंच कर हानिकर होता है। ब्रह्मचारी पशुओं के गवाड में भी नहीं रहता, क्योंकि एक मकान मे प्रतिपक्ष निमित्त रहने से रथनेमि जैसे निर्मल ब्रह्मचारी भी नारीरूप को देख कर डगमगा गये तथा पतित होने के सन्मुख होगये। भला जहां हाथी भी वह जायं वहा बकरी का क्या पता लग सकता है। चाहे देह से ब्रह्मचर्य का खंडन नहीं हुआ तो क्या हुआ, देह को तो क़ैदी भी बहुत कम बचा सकता है, क्या खस्सी, गधे-घोड़े और बैल ब्रह्मचारियों मे गिने जा सकते हैं? जिन्हें स्त्री प्रसंग का कभी अवसर ही नहीं आता परन्तु ये मुनि ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने के कारण प्रधानतम हैं।

इति पंचदशोऽध्यायः

अथ षोडशोऽध्यायः

सूयगड़ांगसूत्र के सातवें अध्याय की एक गाथा द्वारा वीतराग देव धर्ममार्ग बताते समय यह कहतेहैं कि जिसने परीक्षा किये विना ही धर्मपथ को मान लिया हो उसकी धारणा है कि-मानो मैं किसी प्रकार की परीक्षाकी सीमा से बाहर हूं, तब उसके लिये यह कहना है कि यह अंधी दौड़ तेली के बैल जैसी है, मनुष्य अन्धश्रद्धा से मोक्ष का पता न पा सकेगा। क्योंकि संसार मे भी कोई मनुष्य विना परीक्षा के वस्तु का लेन देन नहीं करता तब अनंतकाल से न जाना न देखा न अनुभव किया है ऐसा धर्म का स्वरूप परीक्षा किये विना क्योंकर जम सकता है, वीतराग कहते हैं कि परीक्षा करने से मुक्तिमार्ग मिल जायगा परन्तु सम्प्रदाय-कुल-गच्छ-रुढि की रीति से जिसे गुरु मानता आया है, उससे धर्ममार्ग का स्वरूप क्योंकर जान सकेगा। इसलिये परीक्षा किये विना दूसरों के पीछे चलना उचित नहीं-क्योंकि दूसरे यदि गढ़े की ओर जा रहे हैं तो उसे भी ले जा सकते है। इसके अतिरिक्त अंधी आखों से दौड़ने वाला मार्ग को पा भी कैसे सकता है ? इसी उद्देश्य से परीक्षा के लिये गुरु का वर्णन किया गया है, हां तो × × × केशीमुनि नव वाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं।

ब्रह्मचर्य का भावार्थ

ब्रह्म=आत्मा के स्वभाव को कहते हैं, चर्य=सेवन करने का नाम है, प्रभु-आत्मा के आनन्दमय स्वरूप के सेवन करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं और इस व्रत की नव वाड हैं।

नव बाड़

जिस प्रकार खेती के लिये वाड़ की आवश्यकता है उसी भाँति इस की रक्षा के लिये भी आत्मानद की खेती है, इसे इन्द्रियरूपी पशुओं से बचाना आवश्यक है। प्रभु ने इस की रक्षार्थ नव वाड़ बताई हैं साथ साथ गृहस्थावस्था में भी जितने दर्जे का त्याग बताया है उतने ही दर्जे की वाड़ें लगनी चाहिये।

पहली बाड़

जिस मकान में स्त्री-पशु-गाय-भैंस-घोडी आदि पशु तथा नपुंसक आदि रहते हैं उस स्थानमे ब्रह्मचारी को न रहना चाहिये, यदि रहे तो जिस प्रकार बिल्ली चूहे को दाव पाकर मार डालती है उसी भाँति उसका ब्रह्मचर्य गुण नष्ट हो कर वह शंकाशील हो जाता है, कहा भी है कि—

जो नव वाड़ विशुद्ध से पाले शील सदा सुखदाई।
उस का भव लव पीछे छूटे-सत्य वचन है समझो भाई॥

ब्रह्मचर्य के पालन करते समय खेत को वाड़ की भाँति वाड़ और पानी की आवश्यकता है, इस खेती के अर्थ उत्तम सद्गुरु रूप रखवाला या अनुभव-विचार रूप पड़ोसी की आवश्यकता है। ब्रह्मचारी-सन्तजन इस की पुष्टि के लिये ४२-४७-९६ दोष रहित आहार पानी रूप मीठे जल से इसका पोषण करने के लिये सींचते हैं। पहली वाड़ में वे सावधान होकर दृढ़ता से रहते हैं अर्थात्

आत्मार्थी स्त्री-पशु-और नपुंसक वाले स्थान में कभी निवास नहीं करते। *

दूसरी वाड़

नारियों की कथा-वार्ता को शृंगाररस मे सान कर न कहें, ब्रह्मचारिणी-सती पर-पुरुषकी व्याख्या या प्रशंसा न करे, तथा स्त्री की वेश भूषा भी न करे। विकथा के रूप में प्रेम के प्रसंग की शृंगारात्मक कथाओ का वर्णन न करे। यदि करेगा तो नींबू को याद करते समय जिस प्रकार मुंह पानी से भर जाता है उसी प्रकार शृंगार कथा कहते समय रस प्रवाही हो जाता है, मोह भाव जाग उठता है, अतः इस वाड़ मे शृंगार-सौंदर्य पूर्ण रस के साथ रागभाव से कथा करना वर्जित है। *

---

* पहली वाड़ कथा नारी की साधु को नहीं गानी है।
काली गोरी चाहे कोई तिरिया नई पुरानी है॥
गावे सुने कथा औरत की वह साधु अज्ञानी है।
ज्यों नींबू को देख देखकर छुटे जीभ से पानी है॥
करती है नुक़सान कथा यह जो तू सुने सुनावेगा।
शील पाल तू नफ़ा तभी कुछ नर देही में पावेगा॥

* दूजी वाड़ शील की समझो साधु सुजन यों कहते हैं।
ब्रह्मचर्य को धार कर विषय विपद नहीं सहते हैं॥
नारी पशु नपुंसक तीनों जिस मंदिर में रहते हैं।
समीप इनके रहे तो ये वशियों को दहते हैं॥
ज्यूं चूहा बिल्ली के पास में इक दिन प्राण गवावेगा।
शील पाल तू नफ़ा तभी कुछ नर देही में पावेगा॥

तीसरी वाड़

जहां स्त्री बैठ चुकी हो वहाँ पुरुष को और जहां पुरुष बैठ चुका हो वहां स्त्री को दो घड़ी के अनन्तर ही बैठना चाहिये पहले नहीं। तथा समीप के आसन पर भी न बैठना चाहिये, यदि बैठे तो आग जला कर बुहार देने के अनन्तर वहा घी डाले तो वह घी तुरन्त पिघल जाता है, उसी भांति उसका दृढ़ ब्रह्मचर्य पिघलकर नष्ट हो जायगा। *

चौथी वाड़

रागदृष्टि से स्त्री के अंगोपांगों को भी न देखे क्योंकि रागभाव से देखे तो शील को हानि ही पहुँचती है, यदि सराग दृष्टि से देखे तो आंख और सूर्य का अनुभव सिद्ध हेतु स्मरण मे रखना चाहिये, जिस प्रकार सूर्य को देखा जाय तो दुखती आंखों से पानी बहने लगता है। इसी रीति से स्त्री के अंगोपांगों को देखने से शीलव्रत का पानी उड़ जाता है।

"चौथी वाड़ सरक्त दृष्टि से नहीं देखे नारी का रूप।
"यही धर्म साधू मुनिवर का नीची गर्दन रहे अनूप।
"अधिक देर तक परखा करे तो साधु नहीं वो है बेवकूफ।
"ज्यों दुखती आंखों को दहती है सूरज की धूप॥

---

* तीजी वाड़ औरत के आसन पर साधू नहीं रक्खे पैर।
एक मुहूर्त घड़ी पर रहने का समझो कुछ बैर।
सदा एक औरत का आसन उसे विष की उठे लहर।
वहां बैठे तो शील रत्न को फिर कहा कुछ समझोगे खैर।
घी जैसे सती जमी पर पड़ते ही नश जावेगा॥ शील प्र०॥३॥

"ज्योति घटे विरह दुःख जागे फिर पीछे पछतावेगा,
'शील पाल तू नफा तभी कुछ नर देही मे पावेगा ॥४॥

पांचवीं वाड़

भीत-कनात-या पर्दे के अंतर पर यदि स्त्री रहती हो तब ब्रह्मचारी वहां न ठहरे। क्योंकि शृङ्गार तथा विरह की बातें होती हों या काम भोग के वाक्य निकल रहे हों और वे कान मे पड़ने पर शीलव्रतके भंग होने के कारण भूत बन जायेंगे। जैसे बादल कितनी भी ऊंचाई से गर्जता है परन्तु मोर उसकी गर्जना सुन कर तुरन्त मस्ती पर आजाता है और स्वर भर कर बोलने लगता है इसी तरह वियोगिनी स्त्री के शब्द शीलवान को उन्मत्त बना देते है और उस की चर्या मादक बन जाती है ॥

पंचम वाड़ कनात और टट्टी इनका पर्दा कमती है।
जिन के अंतर ठहरना विरह बदन मे जमती है।
सुन कर बोली विषयवासना रोम रोम मे रमती है।
रहे न वश की फिर ये थामे से नहीं थमती है।
जैसे घन की गर्ज मोर सुन विषय रूप सुख पावेगा।
शील पाल तू नफा तभी कुछ नर देही मे पावेगा ॥५॥

छठवीं वाड़

व्रती पूर्व के भोगे हुये काम सुखों को पुनः कभी यदि न करे। पहले अनेक हाव-भाव-विभ्रम विलास कटाक्ष किये हैं उन्हें ब्रह्मचारी बिल्कुल याद न करे, यदि याद करने बैठे तो पहले बुढ़ियाकी छाछ का उदाहरण स्मृति पट मे याद रक्खें।

बुढ़िया की छाछ

एक बाई सवेरे उठी, दही बिलोते समय एक साप भी बिलो दिया गया, सूर्योदय होते होते दो महमान आये, जिन्हें उसी मे से कुछ छाछ पिलाई, अधिक प्रकाश होनेपर वह देखती है कि छाछ का रंग लाल पड गया है, जिस मे नीली धमक दीखती हैं। दृष्टि भर देखने से साप भी दीख पडा, तब तो मन मे बहुत ही पछताई और बोली कि हाय ! उन मुसाफिरों की क्या दशा हुई होगी ? लेकिन १२ महीने के अनन्तर वे ही महमान फिर आगये, उसने सब प्रकारके स्वागतके पश्चात कहा कि बेटा राजी हो, जीवित हो ? उन मे से एक बोला कि यह किस लिये पूछा है माई ? वह वोली कि हां पुत्रो जिस छाछ को तुमने पिया था उस मे मरा हुआ सॉप देखा गया था, मुसाफिर यह सुनते ही विष चढने का सा कष्ट भोग कर तडप तड़प कर मर गया।

इसी प्रकार अमुकने विष पिया है, यह सुनकर याद करते करते मर जाता है। पूर्वकाल मे जिन विषय कार्मो को भोगता है, और फिर उनको स्मृति पथ में लाता है तब वे विषय भी विष के समान होजाते हैं। जिन्हें याद करते ही ब्रह्मचर्य का व्रत भंग होता है। अत: भुक्तभोगी भोगे हुये विषय को भी याद न करे।

छठी वाड जो कोई गृहस्थी गृहस्थ छोड़ कर लेवे योग।
उसको चहिये कि फिर याद करे नहीं पिछले भोग॥
ज्यों ज्यों याद करे काया मे दूना दूना उपजे रोग।
ज्यों बुढिया की छाछ को पीकर कुछ मरगये थे लोग॥
ऐसे ही पिछला भोग तेरी काया में रोग जमावेगा।
शील पाल तू नफा तभी कुछ नर देही में पावेगा॥

सातवीं बाड

भोजन करते समय घी से टपकता हुआ रसजन्य आहार भी न करे, क्योंकि जिस प्रकार सन्निपात के रोगी को घी-दूध खिलाने से उसके मरने मे विलंब नहीं होता इसी भाँति माल मलीदे हलवा-मांडा उड़ावे तो शील व्रत का रस (रंग) उड जायगा जैसे पुराने कपड़े मे लोहा तावा भर दिया जाय तो पुरानी थैली के फटने मे क्या देर लगती है, इसी भाँति किसी समय उपयोग मे आ जाय तो अलग बात है परन्तु नित्य प्रति सरस आहार ब्रह्मचारी के लिये वर्जित है।

वाड सातवीं पुष्ट पदारथ साधु को नहीं खाना है ।
अपने तन मे दुःख रूपी यह वृक्ष जमाना है ।
जागें सकल विकार बदन मे फिर पीछे पछताना है ।
पांच इंद्रियें प्रबल बनें तब तेरा कहाँ ठिकाना है ।
बोदी थैली टके घनेरे फिर क्या जतन बनावेगा ।
शील पाल तू नफ़ा तभी कुछ नर देही मे पावेगा ॥७॥

आठवीं बाड़

ब्रह्मचारी का यह भी कर्तव्य है कि रूखा सूखा आहार भी अधिक मात्रा मे दबा दबा कर न करे। अधिक आहार करने वाला पाचन शक्ति (मेदे) को बिगाड़ बैठता है। क्योंकि सेर अन्न के नाप की हांडी मे १॥ सेर अनाज भरने से वह भी फट जाती है इसी प्रकार रूखाभोजन मात्रामे अधिक खाने से भी यही परिणाम निकलता है। उसका ब्रह्मचर्य स्थिर न रह सकेगा और शरीर रोगों का घर बन जायगा, अतः शील को सुरक्षित रखना है तो

अधिक मात्रा मे आहार करना छोड़े ।

बाड आठवीं रूखे सूखे भोजन मे गुजरान करे ।
नहीं मिले तो शान्त भाव से आत्म रूप का ध्यान करे ॥
अधिक खाय तो आलस उपजे व्याधि हो-नुकसान करे ।
ध्यान डिगावे और पांचों इद्रिय को बलवान करे ॥
छोटी हाडी ज्यादह भोजन किस विध उसे पचावेगा ।
शील पाल तू नफा तभी कुछ नर देही मे पावेगा ॥८॥

नववीं बाड़

ब्रह्मचर्य पालने वाले के लिये शरीर की सुश्रुषा तथा शोभा करना भी त्याज्य है नहाना-धोना-श्रृंगार-करना चटिया पटिया छैली छींट होकर रहना व्रत के लिये हानिकर है । इस प्रकार शारीरिक शोभा बढाना व्रती के लिये अत्यन्त शोक का कारण भी है, इसपर कुम्हार और रत्न का उदाहरण याद करो ।

कुम्हार का दृष्टान्त

एक बार किसी कुम्हार को मिट्टी खोदते समय रत्न मिल गया, उसने समझा कि-वस्तु तो बड़ी सुन्दर मिली है, मिट्टी खोदने के अनन्तर धो-धाकर फिर साफ करूंगा । इतने मे उधर से राजा आ निकला, उस की दृष्टि रत्न पर इस लिये न पड़ी कि रत्न मिट्टी में सना हुआ पड़ा था। जिससे वह आगे चलदिया । उधर इस ने मिट्टी खोद कर उसे धोकर खूब चमकादिया और धूप मे सुखाने के लिये रखदिया जिस की चमक को देख देख कर मन ही मन बड़ा प्रसन्न होता था । इतने मे राजा भी वापस आ गया, अब की बार चमकते हुये रत्न पर राजा की नजर पड़ गई और लपक कर उसे उठा लिया

और यों बोला कि भाई कुम्हार ! तुम तो मिट्टी के हक़दार हो, रत्न मेरी जमीन से निकला है अतः इस का मालिक मैं हूं, रत्न का स्वामी तू नहीं है।

यदि उसे छुपा कर रक्खा होता तो राजा की गिद्ध दृष्टि उसपर कभी न पड़ती। उसे चमका कर रखने का मजा तुरंत मिल गया जिस से राजा की भी नियत बिगड़ गई। इसी प्रकार शरीर की शोभा करने वाले व्रती का भी बुरा हाल होता है। इसके अतिरिक्त साधारण स्थिति मे भी मोह न करे। देह रक्षा की आमन्त्रणा तक न करे, किसी से चिकनी चुपड़ी बातें न करे। अधिक धोया मांजा रहने मे मादकता उत्पन्न होती है अतः ब्रह्मचारी शील की रक्षा के अर्थ अपने शरीर की शोभा बिल्कुल न बढाये।

नववी बाड़ शील की साधु नही करे तन मे शृन्गार।
नये वस्त्र मे कंकर को जैसे लपकें लें हाथ पसार॥
साधू मैला रहे तो उसको नही किसी की भी दरकार।
कारण यह है सज्जन गण सब मिलकर भारी करे विचार॥
वस्त्र पुराना रत्न लपेटो कोई नहीं उठावेगा।
शील पाल तू नफ़ा तभी कुछ नर देही मे पावेगा॥

दशवां कोट

ब्रह्मचारी अपनी पूजा श्लाघा मान, बड़ाई स्वप्न मे भी न चाहे, शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श की अनुकूलता या मनोज्ञता मे राग उत्पन्न न करे। अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष न करे, किसी समय लोगो को भरी जवानी मे इस के पालन करने की इच्छा होती थी पर अब तो ६०-७० वर्ष की आयु होने को आती है-बाल पक जाते हैं-स्त्री मर जाती

है-आठ२ लड़के जवान हो चुके है तबभी ब्रह्मचर्य पालने की इच्छा नहीं होती, इतना साधारण त्याग भी नहीं बन पडता तब फिर आप ही न्याय की बात कहिये कि पशु मे और उसमे क्या अन्तर है। रोटियों के विना तो ज्ञानी की आंखों मे भी अंधेरा आजाता है पर समस्त जीवन मे विषय का सेवन न करे तो भूख ही न लगे। क्योंकि यह वस्तु नितांत अनावश्यक है, यदि आवश्क होती तो ब्रह्मचर्य पाल कर मनुष्य अपने जीवन मे लड़खा जाता पर आत्मा तो सहजानन्द स्वरूप है लेकिन जब अपना स्वरूप भूल जाता है तब मैथुन सेवन करने आदि का विचार होता है अन्यथा कभी नहीं। शरीर मे बुढापा है-हड्डियां निकल पडी है, गाल पिचक गये हैं-गर्दन हिलती है, फिर भी यदि चाम घिसाई न छोडे तो पशु पर्याय मे जन्म लेना होगा, आशय यह है कि सांसारिकों को भी विषय की तीव्र लोलुपता से बचना चाहिये, परन्तु यहां तो भोग के अर्थियों ने ऐसे २ कीले ठोके है कि सन्तान उत्पन्न किये विना स्वर्ग ही न मिलेगा-मोक्ष न पायगा, वंध्या की दुर्गति होती है सद्गति नहीं। कहिये न फिर यह संसार के भ्रमण का कारण ही तो होगा न? ससार का अर्थ संसरण ही तो है। यानी हरट-माल की तरह ऊपर और नीचे रुलते रहना।

ये नौ बाड कहीं साधू की दसवॉ और वनाये कोट।
शील रत्न के वास्ते आवश्यक करनी है ओट॥
शब्द-रूप-रस-गंध-स्परस इन पांचों मे मत कर कुछ दोष।
आसन जमा ज्ञान के गृह मे शीलरत्न को लेना पोष॥
ऐसा कोट करे जो साधु कभी न धोखा खावेगा।
शील पाल तू नफा तभी कुछ नर देही से पावेगा॥

× × × ×

वेयप्पहाणे

वेदादि शास्त्र (परसमय) मे भी प्रधान थे, अन्य मुनि की अपेक्षा केशी स्वामी अनेक शास्त्रों मे निपुणता प्राप्त थे। सम्यक् ज्ञान (आत्म ज्ञान) के द्वारा वस्तुका स्वरूप समझाने मे पूरे पंडित थे।

नयप्पहाणे

जगत् के जितने भी अभिप्राय है उन सब की अपेक्षा से सब भावों को नय की दृष्टि से जानते थे। कोई पुण्य को धर्म कहे तो भी समझते थे नीति सत्कर्मादि अच्छे आचरणों से पुण्य का उपार्जन होता है। उस को भी व्यावहारिक दृष्टि से धर्म कहा जाता है। निश्चय धर्म तो पुण्य-पाप की इच्छा का टलना ही है जिस से आत्मा सहजानन्द गुण मे लीन हो और भेद विज्ञान का अनुभव प्राप्त हो। आत्म-धर्म की दृष्टि से सद्भावना द्वारा उघड़े हुये पुण्य का उपार्जन करे तो भविष्य मे धर्म के समस्त साधनों का सम्पादन कर सकता है परन्तु इस प्रकार पुण्य तो अनन्त वार उपार्जित किया है, क्योंकि देवलोक मे पुण्य के द्वारा ही अनन्त वार गया है लेकिन इस पुण्य ने अब तक धर्म के साधन बनाकर अर्पण नहीं किये। आत्मा के गुण को माफी देने की अपेक्षा आगे बढने की भावना से पुण्य को बढ़ावे तो वह भविष्य मे धार्मिक साधनों को दिलाता है। केशी स्वामी अनेकान्त दृष्टि के द्वारा धर्म का खंडन करने वाला धर्म के विमुख जो रहता है उसे भी धर्म विषयक सम्पूर्णता ठीक तरह समझा देते थे जिस से धर्मसिद्धान्त पर उसे अटल विश्वास हो जाता था।

नियमप्पहाणे

व्रतों और नियमों का सम्यकृतया पालन करने में वे समर्थ पुरुष थे। जिस किसी भी नियम को एक वार स्वीकार करलेते देहछूट जाय उसकी परवा नहीं परन्तु उसका भंग न होनें देते थे। मास क्षमण करते समय यह अभिग्रह धारण करते कि मोती नाम की बहन हो, हाथ मे मोतीचूर मोदक हो, साडी मे मोती लटकते हों, उस मे से कुछ टूट भी गये हों, उन्हे एक और पल्ले मे बांधे हुये हो, ऐसी अवस्था मे बाई आहार दे तब पारणा करूंगा। इसमे कितना उत्तम न्याय है। शरीरका इतना मोह उतारदिया है कि यदि शरीर की स्थिति रहेगी तो योग अवश्य मिलेगा, प्रण भी पूरा होगा, आहार के मिलने न मिलने की पर्वाह नहीं, पर नियम का खंडन न होने पायगा। यदि शरीर के रहने की स्थिति पूरी हीं होगई है तो आत्मा शरीर का त्याग करने के लिये सर्वथा तैयार है। इसी कारण नियमों को दृढता से पालन करते थे। शरीर से मूर्छा भाव उतार दिया था, शरीर को छूटना है तो छूट जायगा तथा इसे रहना है तो इन कठिन नियमों के अन्तर्गत भी रहेगा'।

संसारिकों की बुद्धि

सांसारिकों के हृदय मे यह बात बहुत कम स्थान पाती है, पाच सात हजार रुपया मिल जाय तो उस को सहसा प्रतीति हो सकती है, परन्तु शरीर की स्थिति होगी तो मिलेगा' इस मे उसे दृढता नहीं आती। जिसे जहा जिस मे प्रीती हो वहा की बात तो मनवा लेता है या मान लेता है, अर्थात् उसे रुपये मिल जायेंगे तो वह मान लेगा परन्तु आहार भी मिलेगा यह नहीं मानता। लेकिन

केशी स्वामी तो दृढ प्रतिज्ञा के द्वारा सब नियम ठीक तरह से पालते थे।

सच्चप्पहाणे

वे सत्य कहने मे भी महान् सामर्थ्यशाली थे, विना सोच विचार किये मुँहसे कोई बात न निकालते थे। हमारा शरीर कैसा है? इसे भी विचार पूर्वक ही कहते थे। अकेला होने पर भी अपना देह क्यों कहा जाता है? इस शंका के उठने पर ज्ञानी का आशय कुछ और ही है। ज्ञानी का यह मन्तव्य है कि यह शरीर हमारा नहीं है, इसे बेसमझ उलटा समझ बैठता है पर ज्ञानी में भूल नहीं है। वे तो विचार कर ही बोलते हैं जैसे एक मनुष्य 'हमारा' शब्द रागभाव से कहता है, दूसरा उसी शब्दको निर्लिप्त भाव से बोलता है, भाषा एक है परन्तु आशय अलग अलग है। अतः ज्ञानीको साधारण दृष्टि वाला नहीं जान सकता। उसके लिये इस अभिज्ञा का समझना कठिन है, वे आत्मा को देह से अलग मानते है तथा उस से आत्मसंबंधी कार्य भी होता है। इस भांति ज्ञानी की वाणी ज्ञान की सार-संभालमे पूरी निकलती है जिस से वे सत्य प्रधान अर्थात् लक्ष्य पूर्वक चेतना का भेद करके ही बोलते हैं और अज्ञानी यथार्थ भाषाकी कापी करने जाता है परन्तु उन के समान 'समभाव' कहा से लाये। सत्य का उच्चारण करते समय सच्चा अभिप्राय ही आता है। वे जड़ और चेतनका विभाग करते हैं और यही ज्ञानी की भाषा है। सत्य को हितरूप और न्याय युक्त ही बोलते है।

सोयप्पहाणे

शौच-पवित्रता मे परिपूर्ण हैं, पुण्यशाली हैं, जिनके शरीर पर

ज़रासा भी मैल नहीं लग पाता। जन्मान्तरके पुण्योदय से निर्मल शरीर प्राप्त है, मोह रूप रज से रहित हैं, द्रव्य और भाव दोनोंही प्रकार से पवित्र है अर्थात् रागद्वेष और कषाय के काले लेप से तो बिल्कुल ही अलिप्त रहते है।

नाणप्पहाणे ज्ञान मे सिद्ध हस्त है, ४ ज्ञान युक्त हैं।

दंसणप्पहाणे तत्व के शुद्ध श्रद्धान को प्राप्त हैं।

चरित्तप्पहाणे विशुद्ध चरित्र का पालन करते हैं।

चउदस्सपुव्वी दिव्य गुणों से शोभनीय १४ पूर्वके ज्ञाता हैं।

चउणाणोवगए

मति-श्रुति-अवधि और मनः पर्याय इन चार ज्ञानों के धारक थे। यद्यपि ज्ञान एक ही है परन्तु उसकी अवस्था पांच है केवल ज्ञानावस्था परिपूर्ण है। केशी मुनिको ज्ञानकी पहली चार अवस्थाएँ उपलब्ध है। आत्मगुण की प्रकाशित दशा से मन की गुप्त बातें सहज मे सुलभरीति से जान लेते है।

[पंच हिं अणगारसए हिं सद्धि संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्वि चरेमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव सावत्थी णयरी, जेणेव से कोट्ठए उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ.] ये मुनिराज पांचसौ सन्तों के परिवार से युक्त है, सुख पूर्वक एक ग्रामसे दूसरे ग्राममे विचरते हुये जितशत्रु राजाकी सावत्थी नगरी के ईशान कोण से 'कोष्ठक' नामक वनमे पधारे, [उवागच्छइत्ता सावत्थिए णयरिए बहिया कोट्ठए उज्जाणे अहा पडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता] बागवान् की आज्ञा लेकर निवास करते हैं।

संजमे ण=संयममें=जिस प्रयत्न से आत्मा के आगे नवीन आवरण न आने पावे उसका नाम संयम है। तवसा=तपमें=जिस पुरुषार्थ से पुराना आवरण टूट जाता है उसे तप कहते हैं। [अप्पाणं भावेमाणा विहरति] संयम और तप से आत्मा के लक्ष्य में आत्मा की रमणता में मगन हो कर विचरते हैं। आत्मा का सम्यक्तया साधन करते हैं।

नागरिकों को सूचना

[तएणं सावत्थिए णयरीए सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर चहुमुह महापहेसु महया जणसद्देति वा जणकलकलेति वा जाव परिसा पज्जुवासंति] ये मुनिराज पधारे तो बस्ती से बाहर ही हैं, परन्तु सारे नगर में उनके आने की चर्चा है। सैंकड़ों हजारों के मुँह पर यही बात आती है, इन के आगमन की सूचना फैलने से नागरिकों में एकप्रकार की प्रसन्नता छारही है। इसी बातका कलरवसा मचा रहता है, आहा हा! कितना अच्छा धर्मकाल था। इनके पधारने का परिचय सब नगरनिवासियों को मिल गया [आजकल के समय के लोग कुछ ऐसे भाग्यशाली हैं कि चतुर्मास के सब दिन बीत जाते हैं तब भी यह ज्ञात नहीं होता कि कौन से मुनि आये हैं खबरतक नहीं सुन पाते कि व्याख्यान का विषय क्या चल रहाहै! आजकल के मनुष्योंकी वृत्ति कुछ इतनी हलकी पड़गई है कि धर्म के प्रसंग को बिल्कुल ही रूखा समझ कर उसे उड़ाते जारहे हैं, हाय! कितना विषमकाल है कि जिसमें धर्मकी ओर वृत्ति झुकती ही नहीं परन्तु वह तो धर्मकाल का प्रवाह था और मनुष्य धर्म के पूर्ण प्रेमी थे, मुनिराज पधारते ही थे कि लोगों का मेला सा लग जाता, जहां देखो वहां हरएक चौराहे पर उनकी ही चर्चा थी, तथा

वे यह कहते भी सुने जाते थे कि जिनके नाम-गोत्र के श्रवण करते ही पुण्य होता है तब उन के व्याख्यान और सेवा-भक्ति का लाभ तो अनन्त पुण्य का कारण होगा, जिस स्थान पर देखो वहां यही चहल-पहल थी। धीरे धीरे यह आवाज़ चित्त प्रधान के कानों तक जा पहुँची।

[तएणं तस्स चित्तसारहिस्स, महाजण-सद्दं च जण'कलकलं च सुणित्ता-पासित्ता अयमेवारुये अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था, किं अज्ज महेति वा'] चित्त प्रधान सुन कर यह विचारने लगा कि क्या यहां कोई महोत्सव है ? या कोई मेला तमाशा है ?

गुप्तचर से निर्णय

नगर में गुप्तचर बड़े बुद्धिमान होते हैं, राजा लोग इन से अधिकांश विशेष काम लेते है, गुप्तचर सुखी आदमियों के लिये तो प्राणभूत होते हैं। वह भी अपने गुप्तचर से पूछता है, [कचुइ पुरिस सद्दावेइ २ त्ता, एवं वयासी, किणं देवाणुप्पिय! अज्ज सात्त-त्थिए णयरीए सागरमहे ति वा, जे णं इमं बहवे उग्गा निगच्छंति] भाई! आज यहां क्या तमाशा है ? ये सब एकत्र होकर किधर जा रहे हैं, जिन मे वहुत से तो राजकुमार भी हैं, चतुर धनी मानी उच्चकुलोत्पन्न इभ्य धनाढ्य राजकर्मचारी दूत अमीर गरीब आदि सब मिल कर ये कहा जा रहे हैं। जिस मे कोई रथ मे बैठा है, कोई हाथी और घोड़े पर सवार है, बहुत भद्र धनी एवं कुलीन पुरुष भी उत्साह पुर्वक पैदल यात्रा कर रहे हैं। प्रधान! तब कहिये न कि ये सब कहा जारहे है, ? क्या कहीं मेला लगा है ? या कहीं पहलवानों का दंगल है ?

गुप्तचरों का उत्तर में निवेदन

गुप्तचरों ने सविनय निवेदन किया कि [देवाणुप्पिय ! अज्ज ! सावत्थिए नयरीए नो इंद महेतिवा, जावसागरं महेति वा, देवाणुप्पिय ! पासावच्चिज्जे केसीनामाकुमारसमणे जाइसम्पन्ने जाव इहमागते जावविहरइ तेणं अज्जसावत्थिए बहवे उग्गा जाव इब्भ पुत्ता अप्पेगइया वंदणवत्तियाए जाव महया वंदा वंदएहिं निगच्छइ] यहां ५०० पांचसौ शिष्यों के परिवार से परिवृत, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान् के सान्तानिक शिष्य, महर्षि केशी पधारे हैं। ये मुनि गुणी-तपस्वी और ज्ञानी पुरुषों के मुकुट-मणि हैं, ये सब नागरिक लोग उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। इन्हें धर्म श्रवण करने का कितना चाव है, तीव्र इच्छा है, हृदय में पूर्ण उत्साह है भक्ति का भाव वेग से भरपूर है, बेगार टालने वाली बात नहीं है। × × × देखिये ! जासूस तक भी ऐसी खबर रखते हैं। उस समय के लौकिक व्यवहार में यह बात भी थी कि वे इन खबरों का संग्रह करते अर्थात् इन्हें धर्मनेताओं की खबरें भी रखनी पड़ती थीं। × × [आजकल उपाश्रय में आने वालों को इतनी भी खबर नहीं है कि आजकल क्या सुनाया जाता है। वे या तो नींद के झोंके खाने लगते हैं या माला तथा अनुपूर्वी पढ़ते रहते हैं। अधिकांश उनका मन संसारी कामों में भाग दौड़ करता रहता है। इस अवस्था मे अनुपूर्वी भी क्या पढ़ते होंगे ? इन्हें गुण ग्रहण करने की तथा अपने कर्तव्य पालन की खबर ही कहां है "जैन पाठशाला मे पढ़ने वाले लड़कों का पाठ कहां तक होगया है ? वे वहाँ से क्या कुछ सभ्यता सीख पाये हैं या नहीं, इत्यादि आवश्यक बातें घर वाले कहां पूछते है। लोगों को

अपने कर्तव्य का भान होता तो आज नवयुवक लड़कों को बेकारी के कारण विष पीकर बलि वेदी पर चढ़ने की नौबत न आती ! इन धनिकों को अपने कर्तव्य का कुछ भी ख्याल होता तो मगध और बंगाल देश में स्थान स्थान पर जैन गुरुकुल स्थापन करते। प्रत्येक ग्रामों में जैन शालाएँ होतीं। भारत के प्रत्येक प्रान्त में जैन युनिवर्सिटिएँ होतीं। चलते फिरते पुस्तकालयों का प्रबंध होता। इन की निजी वेशभूषा सादी एवं स्वदेशी खादीमय बनती। मखमल या रेशमका उपयोग न हो पाता। यत्र तत्र स्याद्वादसिद्धान्त का निरन्तर प्रचार होता। उचित स्थानों मे अनाथाश्रम पाये जाते। जैनसिद्धान्तों से भरे पूरे 'दैनिक समाचार पत्र' निकलते। विश्वभर की सब भाषाओं में जैनागमोंका अनुवाद होता। देशभर में अहिंसा धर्म का झंडा लहराता। एक अमृत मंथन क्या कई जगह अमृतमंथन देखने को मिलता। इन्हें यदि अपना भान होता तो प्राणीमात्र में सच्चा प्रेम रखते। आपस के कुसम्प को मिटाकर अलग फेंक देते। गरीब विधवाओं की काली पलटनें न बढतीं। हायरी समाज ! न जाने तुझे अपना भान कब होगा। अरी तू कहना तो बहुत सीखी है मगर कर दिखाना जरा भी नहीं आता। तेरे लाल दर-दर की भीख मांगें और तुझे उनके सुध लेने की तनिक भी जिज्ञासा न हो, हाय ! आज कौन ऐसा है जो अपनी आमदनी के चौथे भाग से मोह उतारे। है कोई सच्चा श्रावक ! जो इस समाज की विगड़ी बनाए, कोई महाराजा मेघरथ सा दानी मानी है ! है कोई धन्ना शालीभद्र जैसा दृढ त्यागी, अरे ! जोड़ना ही सीखा है या कुछ छोड़ना भी। इस आपस के मुँह मोडने ने समाज की भाग्य खोपड़ी फोड डाली। अरे जब पुजारी ही न रहेगा तो मंदिर या देवालय में दिया कौन जलायेगा। जड़ पूजा छोड़कर ज्ञान

गुण पूजा का आरंभ करो। धन पूजा छोड़ो और आत्मा की भाव पूजा करो! कृपणता का कलंक लगे बहुत दिन होगये अब इसे धो डालने का समय है। किस पर मान-गुमान करते हो सँभलो और चेत करो! जो जातियाँ पीछे थीं वे दौड़ में तुम से आगे बढ़ गई हैं, जो कभी मूर्ख थीं वे अब तुम्हें मूर्ख बनातीं हैं। जो जंगली थीं वे सभ्य होगई साथ ही तुम्हें भी सभ्य बनाना चाहती हैं। जो कभी गुलामी की जंजीर में जकड़ी हुई थीं वे अब तुम पर शासन करती है। जो मुद्दत से दुर्बल थीं वे पहलवान बन रही हैं। क्या आपके संगठन से शिल्पशाला और कला भवन भी न बनें। क्या आप तो हलक तक ठोक कर खायें और आप के गरीब भाई भूख से तड़प कर मरें। क्या तुम्हारे नन्हे बालक सुन्दर तथा बहुमूल्य पोशाक पहनें और तुम्हारे दीनबन्धुओं को चीथड़े भी न जुड़ें। क्या आपके भाग्यमें ही विद्वान् बनना बदा है, बेचारे उन दीन-गरीबों को अबोध ही रहने दें। यह तो न्याय संगत नहीं। समझो और चेत करो, तुम ने बहुत दिन कमाया और मौज उडाई, अपने साथ कुछ न लेजा कर सब कुछ यहीं छोड़कर जाना है, अमर यश का मालिक राम और अपवादी रावण भी यहां नहीं हैं। राजा तक दो गज कफन से अधिक कुछ नहीं पाता। मरते समय जोड़ा हुआ धन संसार को दे जाना सब से अधिक भूल है और जीते जी वस्तु से मोह हटा कर समाधि-भाव मे जागृत होना वीर पुरुष का काम है, अपनी नव चेतना बढ़ाओ और कर्तव्य को पहिचानो। अपने लिये तो मनुष्य सदा से सुखका उपभोग करता आया है मगर कभी जाति-समाज और राष्ट्र की राह पर उन के उत्थान के लिये भी कुछ अर्पण किया है या नहीं जब आप ने व्यवहार और इंद्रियसुख के लिये जहा सब कुछ याद है वहा धर्म-जाति और बांधवों के

लिये भी कुछ स्मरण रहे तो भारत का बेड़ा पार होजाय और साथ साथ तुम्हारा भी। धर्म के लिये-धर्म की आशा से धर्मी का जीवन कैसा होता है यदि इस समस्या को सुलझाने का श्रम करें तो परीक्षा मे आत्मा स्वयं ठीक उत्तर दे सकेगा। और वह उत्तर सर्वसाधारण तक पहुंचेगा।]

गुप्तचर कहता है कि वे उच्चकोटि के मुनि हैं। बस्ती से बाहर पधारे हैं, जिन की चरण वंदना करने के लिये ये सब भक्त गण उत्साह मे भर कर चले जा रहे हैं।

[ततेणं से चित्त-सारही एहाए सुद्धप्पवेसाइं वत्थाइं पवर परिहिते,अप्पमहग्घाभरण-अलंकियसरीरे जेणेव चाउघट-आसरहे तेणेव उवागच्छइ २ चाउघंटं आसरह दुरुहत्ति २ सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेण धरिज्जमाणे ण, महया महया भड-चेडगर वंदं परिक्खित्ते, सावत्थिए णयरिये मज्झं मज्झे णं णिगच्छइ, जेणेव कोट्ठए उज्जाणे, जेणेव केसीकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ २ केसीकुमारसमणस्स अदूरसामंते तुरए निगिण्हति, रह ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ, जेणेव केसीकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ २, केसीकुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहीणं पायाहीणं करेइ, वदइ नमंसइ, नचासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासइ।] चित्त प्रधान इन समाचारों को सुन कर अत्यन्त हर्षित हुआ। मन मे हर्ष का समावेश न होसका और वह वाणी द्वारा बाहर आ गया, तथा उसी समय यह निश्चय किया कि महान् और समर्थ-मुनिओं का योग सहज और सुलभ है अतः इस सुनहरी अवसर को न गवाँना चाहिये। इस विचार के आते ही अन्तरमे एक प्रशस्त राग का स्रोत बहने लगा। अन्तस्तल मे आनन्द की लहरें उठने लगीं। एक सेवक को तुरंत आज्ञा दी कि चार घटे वाला रथ तैयार करो,

इतनेमें आप स्नानादि से निवृत्त होगया, बहुमूल्य वस्त्र-भूषण धारण किये, तथा सजधज कर रथ मे बैठ गया और तुरंत बड़े वेग से उस बाग़ में आया, सवारी छोड़ कर केशीमुनि की चरणवन्दना की एवं उनकी सेवा में रत होगया।

इति षोडशोऽध्यायः



अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्री केशीमुनिकी सेवा मे आनेसे पहले चित्तको धर्म की प्राप्ति नहीं हुई थी (प्रत्येक जीव अनादिकाल से अप्राप्त धर्म है)

संस्कार का बहाना

बहुतसे लोग यह कहा करते हैं कि कुछ अच्छे संस्कार हों तो धर्मभावना जागृत हो, तब क्या पूर्वजन्म सम्पूर्णरूपेण सुसंस्कृत था ? क्या संस्कार परिपाटी इसी तरह चली आरही है ? यह बात नहीं है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, यह अनादिकाल से संस्काररूप मे नहीं आरहा है। भ्रमणा को मिटा कर जब आरंभ करे तब ही हो सकता है। अज्ञान और अश्रद्धा अनादिकाल से हैं। पूर्व के संस्कारोंका बहाना करता हुआ धर्मपुरुषार्थ मे सबके सामने आलस्य कर रहा है, कभी कभी तो उसे साफ़ उड़ाना चाहता है यह उसकी अपनी निजी भूल है।

संसार के लिये क्या नहीं करता ?

संसारके कामोंमे तो यही कहता है कि इस तरह उस तरह कुछ पुरुषार्थ करते है तबही कुछ पाया जासकता है न करें तो कह

से खायें। आस्मान से योंही कौन गिराता है ? परन्तु धर्मके प्रसंग में पुरुषार्थको कुछ नवीन ढंगसे जागृत करना चाहता है और यह टांग अड़ाता है कि पिछला संस्कार होगा तो धर्म करना सूझेगा। पहला संस्कार प्रबल होता है। यदि यह धारणा दृढ़ है तो वर्तमान मे कुछ करे तो आगामी जन्म की अपेक्षा यह पूर्वभव का संस्कार कहलायगा, अतः संस्कारों का आरंभ यहीं से कर तब आने वाले भव में यह कहने का अधिकारी होगा कि पूर्व संस्कारों के प्रतापसे इतनी शुद्धि एवं वृद्धि होगई। ×× × यह चित्तप्रधान पहलेसे धर्मप्राप्त पुरुष न था तथापि उसमें पानेकी शक्तितो अपार है तथा यह शक्ति कुछ नवीन नहीं है लेकिन इस शक्ति को अनादि काल से भुलाये बैठा है। इसे यदि ज्ञान पूर्वक विकसित करें तो नवीन संस्कार का आरम्भ होता है। वह भी अच्छे अच्छे सन्त पुरुषों के संयोग से प्राप्य है। उत्तम ज्ञानरस समन्वित उपदेश सुनने मे योग लगाना, धर्मवाणी सुनना, पूर्व के कमाये हुये पुण्य का कारण है परन्तु उस पर श्रद्धा-प्रतीति करना संयममे स्फूर्ति बढ़ाना तथा उसके लिये जी तोड़ परिश्रम-(अत्यधिक चेष्टा) करना किसी पुण्य का फल नहीं है। × × ×

सभ्यता पूर्ण बर्ताव

चित्त प्रधान मुनिसे न अधिक दूर है न अधिक निकट। दूर बैठने से ज्ञानोपदेश सुनने मे श्रम अधिक पड़ता है एवं अधिक समीप हो तो किसी समय अविनय (बेअदबी)की संभावना भी हो सकती है वह उत्तम भावना से हाथ जोड़ता है, विनय पूर्वक सेवा-भक्ति करता है। भावपूर्ण उत्साहसे नमस्कार करके हाथ जोड कर खड़ा है। यों तो यह एक बड़े राजाका प्रधान है, मात्र अबतक

धर्म मार्ग को नहीं पा सका है तथापि इतना अवश्य समझता है कि भगवन् ? संसार भरके अधिकारों (हकूमत)से आपके त्यागका मूल्य सबसे अधिक है अत: यहीं से वन्दना नमस्कार करता है। इसने स्वय यह निर्णय किया है। क्या महाराज यह थोड़े ही कहेंगे कि तुम्हारे त्याग का आदर करें या नहीं ? महाराज को तो किसी से चामलूसी करनेका कुछ प्रयोजन ही नहीं है, बल्कि यहा तो प्रधान यह कहता है कि मेरे अधिकारकी दृष्टिसे मेरा आदर भी अधिक होता है परन्तु इस महत्व से आपके त्याग मे अधिक मौलिकता है इस लिये मे आपका आदर अधिक करता हूं।

रूढ़िगत आदर मान

लोग अनादिकाल से रूढ़ि और सम्प्रदाय की रीति से वंदना और आदर करते आए हैं परन्तु क्या कभी यह समझनेका भी कष्ट किया है कि वास्तव मे इस का अभिप्राय क्या है ? इसे तो प्राय: समझा तक नहीं है। ये राज्य को छोड़ कर फिर ऊंचे बैठे है, इन का त्याग मार्ग संसारके उस ऊंचे आसनसे-उच्चकोटिके भोग योग से अधिक मूल्यवान् है अत आदरणीय है। परन्तु जहां तक यह धारणा न होगी वहा तक यह ही समझा जायगा कि उस के हृदय मे अभी संसार भाव ही भरा हुआ है।

चित्त का सेवा व्यवहार

चित्त प्रधान सामने खड़ा, इस लिए कि उपदेशक या गुरु को उधर देखना न पडे। वस्तुत: वाणी-तन-और मनकी अनुकूल चेष्टा बताना ही साधु सेवा है, दिन भर उनके पास बैठे रहना या पैर दबाना कुछ उनकी सच्ची सेवा नहीं है।

धर्मोपदेश

[“तत्तेणं केसीकुमारसमणे चित्तस्स सारहिस्स तीसेयमहालिया महव्वपरिसाते चाउज्जामधम्मं कहेइ, तंजहा=सव्वाओ पाणाइवायाओ-विरमणं सव्वाओ मुसावायाओ विरमणं-सव्वाओ अदिन्नादाणाओ विरमणं-सव्वाओ उवहिठाणाओ विरमणं”] तदनन्तर केशीकुमार श्रमणने चार महाव्रतरूप धर्म का उत्तम धर्मोपदेश कहा, (महान् त्याग को महाव्रत कहते हैं)

पहला महाव्रत

इस महाव्रतमें सर्वथा हिंसासे निवर्तन होना साधक का प्रथम कर्तव्य है, दश प्राणों के संयोग से जीवको अलग करना प्राणातिपात है, इस पापका त्याग देना अहिंसा नामक पहला महाव्रत है

धर्मका ऊंचा नियम

धर्मका नियम इतना उत्तम है कि ज्ञानीजन सबसे पहले ऊंचे से ऊंचा और सर्वोत्कृष्ट धर्म का उपदेश करते हैं। जैसे दुकानदार अपने ग्राहक को पहले सबसे बढ़िया मालका नमूना दिखलाता है, इसी प्रकार मुनिराज भी धर्मकी महत्ता को समझाते हैं, फिर चाहे पूरी शक्ति न हो तो गृहस्थ धर्मको ही कोई क्यों न स्वीकार करे यह उसकी अपनी इच्छाशक्ति पर निर्भर है लेकिन ये तो धर्मका ऊंचे से ऊंचा नियम बतायेंगे। × × × संसार के कृत्यों मे भी पूर्णता का लक्ष्य होता है, छोटीसी लड़की पहले चकला-बेलन लेकर बैठती है तब भी उस का लक्ष्य पूर्णता का ही रहता है, मकान बनवाते समय पाया (नींव)खोदते हुए सबका लक्ष्य मकान को पूरा बनवाने

का होता है, यही स्वभाव आत्मा का भी है। कोई भी काम किया जाय परन्तु उस मे पूर्णता का ध्यान विद्यमान है। यदि संसार की ओर से पलटा खाजाय तो मोक्षके स्वरूपका निर्णय बांधकर आरंभ करता है।

इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं कि साध्य और साधक एक कालावच्छेदमें ही समझे जाते हैं, साधना का लक्ष्य पूरा किये बिना जो कुछ करता है उससे उत्तमगति मिल सकती है और वह पुण्यके कारण प्राप्त होती है परन्तु उसका मूल-फल मोक्षादि नही लेपाता।

अहिंसा क्या है?

जीवोंको तीनयोगसे न मारना द्रव्य-अहिंसा है, क्योंकि रागद्वेप पूर्वक ही विकल्प वृद्धि होती है तब उतनीही आत्माकी हिंसा होती है, राग-द्वेपका न होना भाव अहिंसा है और प्रमत्तयोग द्वारा हनन करने के त्याग को पहला महाव्रत कहते है। इसी महाव्रतके द्वारा श्रीगजसुकुमारमुनि जैसों को जागृत होने का सौभाग्य एक ही क्षण में होगया था। उसी दिन द्वारका नगरी के श्मसान मे जाने का भाव उत्पन्न हुआ और यह विचार उनकी स्वतः की इच्छासे ही हुआ था तब भगवान् अरिष्टनेमिसे उसी दिन कहता है कि प्रभो! अतर के भावोंसे यह ध्वनि निकलती है कि द्वारका के श्मसान मे जाकर कायोत्सर्ग सहित ध्यानमे रहनेकी अभिलाषा पूरी करूं। अत एव जगद्गुरो! आज्ञा कीजिये! सत्य है जिसे लंबा प्रवास थोड़े समय मे तय करना है उसका वेग कितना तीव्र होता है। इन्हें उसी दिन केवलज्ञान और मोक्ष पद पाना है। क्योंकि अधिक काल सयम पालन करने की शक्ति नहीं है। "जिससे जल्दी मोक्ष को पा सके यही रास्ता बताओ" ये शब्द वीर पुरुपके नहीं होते, यह बातें तो

निर्बलता सूचक होती हैं। प्रभुने पहले गजसुकुमारको त्यागका मार्ग बता दिया और वह उनकी आत्मा से उसी समय प्रगट होगया। अब तो अन्तर से ध्वनि निकलती है कि आज ही पूर्ण दशा प्रगट की जाने वाली है। इसके लिये जड़ और चैतन्य को अलग अलग करने का वेग भी आगया। अपने मन मे यह भी समझा कि मेरी इच्छा के अनुसार कहा है किन्तु तुम्हारी तरह नही कहा।

आत्माको स्थिर करके एकाकारवृत्तिसे कायोत्सर्ग पूर्वक द्वारका नगरके बाहर श्मसानमें ध्यान लगाऊं विभो। ऐसी आज्ञा कीजिये। उसी दिन साधु हुआ- उसी दिन केवलज्ञान पाया-उसी दिन मोक्ष। अब आप विचारें तो सही कि कुछ ही क्षणों मे उन्हों ने कितना अलभ्य लाभ लिया अत: धर्मका प्रतिपादन ऊंचे से ऊंचा होता है। उसने ऊंची कक्षा का धर्म सुनते ही मुनिपद अंगीकृत कर लिया। गजसुकुमारके वेगकी तीव्रता इतनी अधिक है कि उसके अंतर की ध्वनि और केवली की ध्वनि एकाकार होगई, देखिये न ! संसार किसी को अपने हाथों उठाकर श्मसानमे छोड़ने(धरने)जाता है तब ये मुनि अपने आप को स्वयं वहां छोड़ने जाते हैं। कोई मरने के बाद औरों के द्वारा सुलगते है, परन्तु यह तो जीते जी अपनी मरजी से सुलग जाने को प्रस्तुत हैं। सोमल नामक व्यक्ति अपना पिछला वैर लेनेके कारण खैरकी लकड़ीके अंगार उसके मस्तक पर बनाई अंगीठीमे रखता है तब मुनि कहता है कि मेरे आत्मा का ज्ञान इन अंगारों से जलने वाला नही है, इस प्रकार यदि वह जल जाय तो मैं नही। स्थूल अग्निसे मेरे अरूपी आत्माका जलना युक्तियुक्त नहीं। वह न जलकर मात्र हड्डियाँ और चमड़ा ही जलता है, कहिए इतने भारी प्रवाह मे भला नीचा धर्म क्योकर समझाया जाय अत:ज्ञानीजन कहते है कि ऊँचेसे ऊँचा धर्म समझाना चाहिये।

दूसरा महाव्रत

इसमें सर्वथा झूठ बोलने का त्याग होता है। जो प्रमत्त योग को छोड़कर सम्यक्तया सत्य बोलता है, उसे औरों के लिये हितकारी वचन बोलना चाहिये, सत्य आत्मा का अपना निज धर्म है अतः असत्यका प्रयोग करना नितात वर्जित है, फिरभी यह याद रहे कि त्याग किये बिना आत्मा इसका पूर्ण आनन्द लाभ नहीं ले सकता। कोई यह कहे कि मेरा मन इतना पक्का है कि त्याग प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता ही नहीं है। इसके उत्तर मे ज्ञानी कहते है कि त्याग का प्रण न लेनेका क्या कारण है? इसके सामने प्रत्याख्यान करने वाला शरीर या मन निर्बल हो तो उसके विषय मे आगार (छूट) भी रखलेता है जिससे वह बंधनमे नही है, छूटने के लिये रास्ता भी रख छोडा है, इस प्रकार की निर्बलता को रोकनेके लिये आत्माके अतिरिक्त गुरुकी साक्षी से नियम लेनेपर एक दृढ़ किला सा बन जाता है परन्तु ऐसी वृति त्याग के लिये लोगों मे आकर फटकी तक नहीं कुदरतकी प्रेरणासे चाहे छूट जाय वह बात अलग है मगर अपनी वृत्ति की आज्ञासे नही। आजीवक वैद्यके रोगीकी घटना याद करिए। वैद्य चाहे ६३ लंघन करावे तब तो जीवित रहने की दृढ़ आशासे ७० दिन भूखसे काटनेको भी तैयार होसकता है, यह अन्तर की कितनी निर्बलता है।

अतः यह स्वय सिद्ध होता है कि अन्तर की दृढ़ता से अनन्त-कालीन वृत्तिका छेदन करके वृत्ति के सन्मुख होकर व्रत की दृढ़ता आने पर आत्मभाव के लिये नियम की आवश्यकता है। दुनिया मे लाखो करोड़ों रुपयों का नुकसान होने पर भी असत्य न बोलूंगा ऐसी दृढ़ता से नियम पालनेवाले ही आगे बढ़ सकते है। नियम न

लेनेवाले ने अपने आपको बचाने के लिये या निरंकुश (खुला) रख छोड़ने के लिये ही मनका बहाना अगाड़ी रख छोड़ा है। अतः यह स्वयंसिद्ध होता है कि वृत्ति का छेदन करके ही ज्ञान-दर्शन-चरित्र में रमण करने का नाम प्रत्याख्यान है।

तीसरा महाव्रत

इस व्रत के अंगीकृत करने पर सब प्रकार की चोरी करना छूट जाता है। इस व्रत का दृढ़प्रतिज्ञ स्वामी की आज्ञा विना एक तिनके की जरासी सलाई भी नही उठा सकता। इससे अन्य द्वारा न दी हुई वस्तु के लेने मे उपरमणता की प्राप्ति होती है। परवस्तु न लेना (छूना) अथवा वस्तुमोह से सर्वथा निवृत्त होना अचौर्य व्रत है।

चौथा महाव्रत

इसमें कुशीलसेवन (विषयसेवन) का त्याग है। बाईस तीर्थंकर और उनके साधु चौथे और पांचवे महा व्रत को एक रूप में समझ करते थे। इसमे परिग्रह त्याग करना भी गर्भित हो जाता है। वास्तव मे यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्त्रियें परिग्रह हैं। अतः इन्हें अलग रखने की आवश्यकता उस समय के साधकों को न पड़ी। लेकिन वर्तमान समय के साधु जड़ एवं वक्र होने से इन दोनों को अलग अलग समझाया गया और बीच के साधु प्रज्ञ थे उन्हें समझाने मे कुछ विशेष कठिनाई नहीं पड़ सकती थी और आरंभ से ऋषभदेव प्रभु के शासन के अन्तर्गत साधु वक्र न थे किन्तु जड़ तथा सरल थे, विचार करने मे स्वाभाविक चातुर्य न था, विशेष समय (ज्ञान) के समझने की बुद्धि कम थी। मुख्य विषय को भेदरूप से समझने की आवश्यकता के पड़ने पर वे

कठिनाई से समझ कर स्थिर होते थे। बाईस तीर्थंकरों के साधु बुद्धि के तीव्र थे। एक व्रत या तत्संबंधित व्रत या विषयको समझते ही सब व्रतों को सुगमता से समझ जाते थे। इसी से चौथा और पांचवाँ महाव्रत का एकही विषय रक्खा गया, इस व्रत मे देव-पशु मनुष्य सम्बन्धी स्त्री क सर्वथा त्याग नव-नव कक्षाओं से होता है। मैथुन त्याग स्त्री की निवृत्ति को कहा जाता है।

इस प्रकार की उच्च धर्म देशना (व्याख्यान) चितप्रधान ने श्रवण की।

[तए णं सा महती महालया सव्व परिसा केसीकुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया वंदित्ता नमंसित्ता, जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगआ,] श्रोताओं की अन्तर-आत्माएँ प्रसन्न थीं और यथाशक्ति त्याग-मर्यादा करके अपने अपने घर चले गये परन्तु चित प्रधान का आत्मा अति प्रसन्न हुआ और विशेष आनन्द मे मगन होकर खड़ा होगया।

[तए णं से चित्ते केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियए उट्ठाए उट्ठेति केशीकुमारसमण तिक्खुत्तो अयाही णं पयाही णं वंदइ नमंसइ २ एवं वयासी, सद्दहामि णं भंते निग्गथे पावयणे, पत्तयामिणं भंते निग्गथं पावयणं रोएमि भंते निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि ण भंते ! एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असदिद्धमेयं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते ! सच्चेणं अयमट्ठे, से जह तुब्भे वयहतिकट्टु, वंदइ नमंसइ एवं वयासी,] तीन वार अभ्युत्थान पूर्वक बोला कि भगवन् ! वीतराग के कथन का स्वरूप समझाकर अहिंसा आदि की तथा त्याग की शिक्षा जो आपने दी है उस तत्व ने मेरे हृदय मे स्थान पा लिया है। मुझे वह तत्त्व दिल से रुच गया है। उस

पर पूरी श्रद्धा जम गई। अन्तरात्मा से उसकी प्रतीति करता हूं क्योंकि वीतराग भाव ही आत्मा के अर्थ हितकर है। निर्ग्रन्थ के वचनों का दिल से विश्वास करता हूं। वह वचन अन्तर मे जाकर परिपुष्ट होगया। प्रभो! इसमें मुझे सावधानता आगई है कि वीतराग स्वरूप आत्मा की वीतराग परिणति किस प्रकार उदीयमान होगी। आपने जो कुछ प्रतिपादन किया है वह उसी प्रकार है। आप्त वाक्यों में मुझे कुछ भी संदेह नहीं है। आत्मा द्वारा यह बातें अन्त.करणमे स्थान पाचुकी है। प्रभो! आपने मुझे आत्मस्वभाव के पाने का सत्पथ समझाया है जिसमे शका करने के लिये नाम मात्र को भी गुजाइश नहीं है। कहा भी है कि—

"जो जो कारण बंध के, वही बंध का पंथ।"
"तत् कारण छेदक दशा, मोक्ष पंथ भव अन्त ॥"

यह जीव अनन्तकाल से बंध के अन्त का सेवन कर रहा है अत: इसी से वन्ध का पथ हुआ। तब अन्तर बंध के कारण का सेवन करता हुआ छूटनेका मार्ग कहां देख सकता है। छेदक दशा अज्ञान दशा, अश्रद्धा का त्याग करना ही मोक्ष का पथ है। यह मार्ग अन्तरमे ठीक तरह रुचने पर उसका अलौकिक संसार होता है। राग-द्वेष से रहित मार्ग ही उसके छूटने का पथ है। यदि इसे ऊंचा पथ समझे तो अन्तर के छोटे कारण स्वयं छूटजायें। छूटना और मोक्ष होना ठीक है परन्तु वन्ध के कारणों का सेवन करना ठीक नहीं है, जिसकी जाच अब तक अन्तर मे नहीं हुई थी। राग-द्वेप रहित आत्मा की शक्ति है परन्तु वन्ध का कारण भी तो राग-द्वेप है और राग-द्वेप का त्याग करना मोक्ष का कारण है।

इस अन्तरात्मा को यदि यह ठीक से जॅच जाय तो वह वन्ध से छूट सकता है। जैसे पाच कोस जाने का निर्णय होने के

समय तो वहाँ न पहुँच पायगा, परन्तु निर्णय होने पर उसकी सन्मुख दशा होगई है फिर भी उसके सन्मुख कदम बढ़ा कर 'चलता रहता है, उसके विमुख नहीं चलता अतः यह सिद्ध है कि छूट जाने की बातें अन्तर मे बैठ जायें और खूब गहरे प्रभाव के साथ बैठ जायें तो छूटने के पथ पर ही चलता रहेगा। चाहे अन्दर से आवाज न आती हो तो भी मुनिराज कहते है कि यह सब कुछ ठीक ही होगा। इस पर ज्ञानी का मत है कि यदि उस प्रकार वर्ताव न करे तो भविष्य मे कष्ट भोगना पड़ेगा। पर "क्या धर्म से ठीक गति पा सकता है" यदि इस आशय से कहता है तो समझलो कि छूटने के पथ पर नहीं है। क्योंकि उसके अन्तःकरण द्वारा उसे सत्य का निर्णय नहीं मिला है।

किसी विषय की गहराई मे पहुँचे बिना भले बुरे अभिप्राय का निर्णय नहीं होता, इसी कारण सामने का मार्ग न पकड़ कर उसके प्रतिकूल मार्ग का अनुसरण करने लगता है जिससे आज की घडी तक तो इच्छानुसार स्थान पर न जा सका। परन्तु प्रतीति होने पर सब से पहले सावरण केवलज्ञान अवश्य प्रगट होता है और यह एक नियम से केवलज्ञान प्रगट हो गया है। जो शक्ति अबतक श्रद्धारूप न थी वह श्रद्धाके रूपसे प्रगट होकर फलस्वरूप १३ व गुण स्थान पर कृतार्थ होगी। तथा वह यह भी जान सका है कि मेरा स्वरूप ज्ञान है। इसके भाग मे जानना ही आया है न जानना नहीं। अखिल द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव मात्र जानने के लिये है परन्तु ज्ञान मे सीमा-मर्यादा नहीं है क्योंकि वह तो असीम-अनन्त है अतः जानना आवश्यक है। इस भांति प्रतीति होने पर उसे अपनी निजी शक्ति का भान हो आता है और अब तो मात्र उस शक्ति का स्फुरण करना ही अवशेष रहा है जिसका

सारा आधार सच्ची श्रद्धा पर निर्भर है।

देवगुरु धर्मनी श्रद्धा कहो किम रहे, किम रहे शुद्धश्रद्धान आणो
शुद्धश्रद्धान विन सर्व किरिया करी, छार पर लीपणुं तेम जाणो॥

अर्थात् अन्तःकरण मे सच्ची श्रद्धा के पाये विना देव गुरु और धर्म की शुद्धि क्योंकर हो सकती है। इसके साथ ही यह भी ज्ञेय है कि आत्मा निर्मल ज्ञान स्वरूप है और अन्तःकरण में वैसी ही श्रद्धा (प्रतीति) आये विना अधिक से अधिक क्रिया करने पर भी कुछ पल्ले नहीं पडेगा वह तो खार (राख) पर लीपने जैसा व्यवहार है। शुद्ध श्रद्धा की प्रतीति होने पर तो प्राणी का अनन्त संसार एक पल मे कट जाता है।

पाप के २७ बोल

पाप २७ प्रकार से लगता है औरसच्ची श्रद्धा होने पर १८ प्रकार के पापों का त्याग हो जाता है। जैसे अज्ञान अश्रद्धा और अस्थिरता को मन वचन काय से तीन गुणा करे तो नव भंग होते हैं। इन नवों को करना कराना अनुमोदना इन तीनों से गुणा करे तो २७ भंग होते है। एक सच्ची श्रद्धा होने पर नव अज्ञान और नव अश्रद्धा इस प्रकार पाप के १८ भेद मिट जाते हैं। इस विषय को छोटे से उदाहरण द्वारा इस भांति समझें। जैसे कोई मनुष्य २५ आदमियों को अपनी कमाई खिलाता है और उसकी यह धारणा है कि इनका भरण पोषण मैं ही करता हूं। मेरे विना इनको भीख भी नहीं मिल सकती पर खाते पीते सबके सब हैं किन्तु यह उनके अपने निजी पुण्य का परिणाम है। पूर्व पुण्य की जड़ गहरी चली गई है तथा वह जड़ ही फल देती है और वह सब अग्रसर पुरुष के निमित्त से मिल रहा, है, किन्तु यह अग्रसर तो

यह कहता है कि मेरे वर्तमान वीर्य (पुरुषार्थ) के प्रयास से ही मूल के परिणमन की शक्ति को मैं ही घुमा रहा हूं। पर यह भूलता है क्योंकि जड़ वस्तु के परमाणु पड़े हुये हैं, उनमे फल देने की शक्ति परिमाण पुरःसर है तब ही वह जड़ अपना फल दे रही है जिससे कुछ का कुछ होता है तब वह तो यह समझे बैठा है कि मैं ही इन २५ आदमियों को पेट भर भोजन देता हू। अरे! वेचारा पुराण-शाल के उनके परिणमन को अपना ही परिणमन मान बैठा है अतः उसको निस्सदेह मिथ्यात्वी कहा जाता है। इसी भाँति वचन और काय द्वारा स्वयं भी करता है दूसरों से कराता है और अनुमोदन भी करता है। अतएव अज्ञान अश्रद्धा और अस्थिरता को मिला कर २७ भाँगों से पाप होता है। परन्तु जिसकी श्रद्धा सच्ची होती है उसका श्रद्धा के नौ और ज्ञान के नौ, इस प्रकार १८ भंगों से आने वाला पाप का स्राव (आना) बंद हो गया। इसके अतिरिक्त नौ भगों से जो पाप आता है वह भी आत्मा की स्थिरता का गुण प्रगट होने पर टल जाता है इसी भाव को लेकर यहां चित्त प्रधान यह कहता है कि वीतराग के भाव मे भव के पथ का अन्त करने के लिये अभिलाषा पूर्वक मेरा आत्मा सावधान होगया।

इति सप्तदशो ऽध्यायः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

जीव और अजीव ये दो शक्तियें संसार में मुख्य रूप से हैं और चित्त प्रधान को इन्हीं दो विषयों का ज्ञान हुआ है। अर्थात् आत्मा का झुकाव अनन्तकाल से हित की ओर न था, अब वह हित की ओर १६ आने झुक गया है एवं ज्ञान का माप तथा परिणाम यही निकाला जा सकता है। स्वाधीन दशा में विचरना हित का मार्ग है, तथा परशक्ति में रमण करना (बल वीर्य पराक्रम की स्फुरणा करना) अहित का पथ है। इस तत्व को समझे विना छूटने का मार्ग सूझे भी कैसे। बस चित्त ने यही समझ कर कहा कि प्रभो! मेरी यह सावधानी है। आत्मा में प्रभुत्व की सत्ता जितने अश मे प्रगट होती है उतने ही अंश में प्रभुपरायण होता है। पूर्ण अंशों मे प्रगट होने पर परमात्मा कहलाता है। इसके साथ चरित्र मे अनुलोमतया आनेवाले भी प्रभु ही कहलाते हैं।

[जहा णं देवाणुप्पिया णं अंतिए बहवे उग्ग-भोग-जाव इब्भ इब्भपुत्ता चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवण्णं, एवं धणं धण्ण बल वाहण कोस कोट्ठागारं अंतेउरं चिच्चा, विउलं धण कणग रयण मणि मोत्तिय संख सिलप्पवाल संतसारसावतेयं विच्छड्डइत्ता,

विग्गवइत्ता, दाणं दाइत्ता, परिभइत्ता, मुंडे भवित्ता, आगाराओ अणगारियं पव्वयति, नो खलु अहं तहा संचाएमि। चिच्चा हिरण्णं तं चेव जाव पव्वइत्तए। अह णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं सत्त सिक्खाव्वयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेह। तत्ते णं से चित्तसारही केसि-कुमारस्स अंतिए पंचाणुव्वतियं जाव गिहिधम्मं उवसंपजित्ताणं विहरइ,] चित्त प्रधान कह रहा है कि प्रभो! मुझ मे सावधानता तो है परन्तु वीर्य पुरुपार्थ नहीं है कि जिससे मैं भी संसार छोड़ कर त्यागी साधु वन सकूं अर्थात् इस पद को स्वीकार करने के लिये अभी मैं तैयार नहीं हूं। पाचसौ साधुओं की ओर हाथ बढ़ा कर संकेत करके कहता है कि ये साधु पुरुप जो कि सोना चांदी-धन-धान्य-राज्यलक्ष्मी सेना वर्ग निज परिवार आदि को छोड कर त्यागी होगए है- आत्मा की स्थिरता पा ली है। इस तरह आत्मस्थिरता पानेका वल मुझमे नहीं है। आत्मा स्वाधीन-दशासे हटकर पराधीन (परवस्तु)मे लक्ष्य करता है और साथ ही यह भी दृढ निश्चय है कि यह सब त्यागने योग्य है तो भी मनमे सर्वथा त्याग करनेकी स्थिरता नहीं आती। सर्व वस्तुओंका अभाव अर्थात् एक मात्र आत्मा ही चैतन्य-घन-स्वरूप आनदमय ज्ञानपिंडरूप है जिस मे राग द्वेप का अंश मात्र भी न रह पावे वही आत्मा स्वच्छ होकर केशीमुनि के पास अपने आत्माकी नमतात्मक स्वीकृति देकर कह रहा है कि प्रभो! सर्वथा त्याग की प्रतीति तो करताहूं लेकिन जहा तक सर्वथा त्याग न हो सके वहा तक यह पराधीनतासे कहां छूटने वाला है।

लोग कहते है कि हम आत्माको तो मानते हैं किन्तु मनन करने की समस्या बड़ी कठनाई मे डाल देती है लेकिन आत्मा को मानते

वाला जब तक यह न मान ले कि मुझे आत्मा के अतिरिक्त कुछ न चाहिये, आत्मा के बिना पर वस्तुसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है यह मान्यता तब तक ठीक नहीं समझनी चाहिये, अर्थात् उसमें आत्माकी स्वीकृति मान्य है'जिसने आत्माका निर्णय पालिया हो वह संसार के इन्द्र-अहमिंद्र-चक्री-वासुदेव-राजा-महाराजा आदि पदों को असार-तुच्छ जानता है। संसार का महत्व-वैभव का महत्व न होनेपर भी अंतरके भेद विज्ञान के अभिप्राय से ' आत्मा है" यह मानने वाला इतना बल लगा कर कहता है कि मुझे तो आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी न चाहिये। तब आत्मामें आत्माकी ऋद्धि प्रगट होनी चाहिये जिसे फिर परभाव की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस मान्यता को अमल में लाने के लिये वीर्यकी शक्ति खर्च करने की कितनी आवश्यकता है।

चित्त प्रधान के मन मे इस आत्मबलका ही उदय हुआ है जिस से वह कहता है कि विभो! आप का कहना सत्य है। परभाव की ऋद्धि मुझे तीन काल में तनिक भी न चाहिये। इस मान्यता का आदर करनेवाला ही आत्माको मानता है यह निस्संदेह है। आत्मा क्षमा-सत्य-सन्तोष-निर्लोभता ज्ञान और आनन्दका पिंड है। इसके अतिरिक्त 'जो विभाव और पर हैं वह आत्मा नहीं है' ऐसी धारणा होने पर कहा जा सकता है कि उस की अटल श्रद्धा ठीक ठिकाने बैठी है अब रहजाता है स्थिरता का होना, वह तो चरित्र है परन्तु पहले आत्मविश्वास (श्रद्धा) होता है जिसके उत्पन्न होनेपर पुरुषार्थ करने की इच्छा जागृत होती है × × वीर्य की स्फुरणा करनेपर चरित्र अर्थात् आत्मरमणता चित्त प्रधान भी स्वीकार करता है, विशेषमें यह भी प्रगट करता है कि भगवन्! मुझे चरित्र अंगीकार करने की अत्यन्त आवश्यकता है इसे बलपूर्वक कहताहूं कि आत्मा

देहसे भिन्न वस्तु है। ये सब सन्त इसी धारणावश संसारका त्याग करके पूर्ण पद पानेका सतत प्रयत्न कर रहे हैं। पर भगवन्! मुझमे इतनी शक्ति कहा, लोग यह नहीं कहते कि ससारिकता कम की जाय और असत्य बोलने से रुका जाय तो बस है परन्तु इतने से तो आत्मा की प्रतीति की पूर्णता नहीं होती। व्यवहार मे त्याग धर्म स्वीकार करता है तब वह यह कहता है कि प्रतिदिन दो चार सामायिक और महीने मे दो चार पोषध बस इतनी सी निवृत्ति मिलजाय तो यह क्या कुछ कम है? इस मान्यता वालेने आत्म-स्वभाव की सीमा थोड़ी सी मानी है। ऊपर से यह भी कहता है कि इतना त्याग भी बहुत है, इस कलियुगमे इतना साधन होजाय तो और क्या चाहिये। ऐसी अवस्था मे इसे सर्वत्यागरूप आत्मा की श्रेष्ठ प्रतीति नही हो पाई है जिससे वह इतने मात्रसे सन्तोष प्रगट करता है लेकिन यह भाव सामायिक मे होना आवश्यक है, 'समभावमें प्रविष्ट होकर स्थिरताका आदर्श ग्रहण करता हू, परन्तु मेरा लक्ष्य [आत्माका अतर पोषण=परभावशक्ति का त्याग द्वारा] पूर्ण पाने का है और यही मेरा उद्देश्य है। हृदगत सामायिक पोषध करते हुये आत्मा का ध्येय आत्मगुण की वृद्धि के अर्थ हो। चमड़ी उधेड़ डाली गई, उसमे क्षार चुपड़ दिया, क्षमा का इतना गुण प्रगट होने पर भी यदि आत्मा का भान न हुआ हो तो इतना कुछ साधन करने वाला भी आत्मभाव से क्या कहे? क्या यह माना जाय कि जिस वस्तुका जितना स्वभाव है वह पूर्णतया विकास पाजाय तो भी उसे अधिक नहीं कहा जाता। क्योंकि जिसका स्वरूप पूर्ण त्यागमय हो वह यदि सर्वस्व त्याग कर पूर्णपद प्राप्त करले तो भी बहुत किया नही कहलाता है।

आत्मा के स्वभाव से अधिक करने पर ही बहुत किया

कहलाता है, जहां पर सब वस्तुओं का अभाव हो और स्वरूप विशिष्ट आत्मा आनन्दघन चेतन स्वरूप में पूर्ण लक्ष्य पर हो तो समझ लो कि कुछ त्याग मार्ग की समझ आई है। इतना कुछ कहा जाय तो अस्थान नहीं समझा जा सकता परन्तु मात्र थोड़े त्याग द्वारा अधिक कहलाने वालों में आत्म दर्शन की साक्षात् प्रतीति कहाँ से आवे? अतः आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ छोडना थोड़े त्याग मे भी पूर्ण त्याग की प्राप्ति कराता है पर यह स्मरण रहे 'कि सभी कुछ त्याग देना होगा' इस लक्षण मे ओत प्रोत हुये बिना अधिक त्याग या आत्म भावकी प्रतीति वाला त्याग नहीं कहाता। आत्मा को सब वस्तुओं का त्याग करना है, उसमे सदैव वही लक्ष्य रहता है। आत्मा का सहज स्वरूप चैतन्यन स्वरूप है और इसमें अब परभाव की कल्पना न आनी चाहिये। ऐसे पूर्णता के लक्ष्य में थोड़े से त्याग का भी जहां तक आरंभ न होगा, वहां तक मेरी दशा अधूरी है। पूर्णता के उद्देश्य से रहित त्याग बिना निशाने के बाण चलाने जैसा है। जहाँ तक आत्मा में पूर्ण त्याग के स्वरूप का उदय न हो वहाँ तक अधिकाधिक दृष्टि से चाहे कितना भी त्याग क्यों न करे तब भी वह लक्ष्य रहित दिशा मे आत्मा की सन्मुखता मे नहीं है। अर्थात् आत्मा की ओर से सन्मुखता का अभाव है तब उसके त्याग का फल चाहे देवादि का सुख मिल जाय पर उसने आत्मरस कुछ भी नही पाया है। × × × चित्त प्रधान ने अधिकाँश इसी विषय को समझा है अतः जिसने पूर्ण-पद समझा है उसकी परीक्षा कर रहा है, इस भांति उसकी साधक दशा मे कितना अधिक भार है। पूर्णता के ध्येय की तह तक पहुंच गया है। साथ ही नत-मस्तक हो कर कहता है कि इन सन्त पुरुषों के त्याग करते समय का उत्साह और साहस

अब तक मुझमे नहीं आ सका है। इस त्याग को अन्तःकरण से मानने वाला उघडकर कितना ऊंचा उठ गया है। उसे आत्मा मे पूर्ण लक्ष्य तो अवश्य हुआ मगर पद की पूर्णता का निकट स्थान तो सम्पूर्ण चरित्र दशा (साधु मार्ग) ही है। इतना पक्का निर्णय मुझे मात्र एक बार के साधु सहवास से हुआ है। विशेष मे यह भी कहता हूं कि इन सन्तों ने अपनी करोडों की सम्पत् छोडदी। क्योंकि वह उन्हें आत्मा की उपयोगी वस्तु होकर न निमटी। इसी के द्वारा दुर्दशा पाने पर जिस गृहाश्रम मे आत्महित करने वाले साधन मे शून्य थे उन्हे दान मे अर्पण-किया तथा घरवालोंको घर का शेष भार सौंप कर स्वय त्यागी वैरागी होकर निधडक हो बैठे हैं, इनकी बराबरी करने के अर्थ मेरा वीर्य पुरुषार्थ उस त्याग प्रयत्न की ओर नहीं जाता परन्तु मेरे सद्गुरो! मै आपके पास पाच अणुव्रतों को स्वीकार करता हूं। सर्वथा त्याग का स्वरूप तो पहले कहा जा चुका है। अत. प्रभो! मैं मोटी हिंसा का त्याग करता हूं।

पहला अणुव्रत

त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता हूं, अपने लिये जान बूझ कर देख भाल कर किसी भी निरपराध जीव को प्राण रहित करने की बुद्धि से न मारूंगा। संसार का कार्य चलाते हुये अजान पन मे मर जाय तो अलग बात है मगर जान बूझ कर कभी न मारूंगा।

दूसरा अणुव्रत

कन्याओं के संबंध में, गाय भैंस घोड़ा आदि पशुओं के विषय में जमीन और जायदाद की बाबत, तथा धरोहर संबंधी

मोटे झूठ न बोलूंगा; संसार में सब कुछ मिथ्या ही मिथ्या है पर वह छोटे झूठ हैं। पर मोटे असत्य जैसे जमीन किसी के अधिकार मे नहीं है तो भी राज्य दर्बार मे अपनी अनेक युक्तियां लड़ा कर, प्रलोभन देकर, रिश्वत देकर छीन लेना, किसी से लालच लेकर झूठी साख भरना आदि महान असत्य हैं। प्रभो ! इन मोटे २ असत्यों को छोड़ता हूं।

तीसरा अणुव्रत

पर की चुराई हुई वस्तु का ज्ञान होने पर भी उसे रख लेना, इत्यादि बड़ी चोरियों के जीते जी के लिये त्याग करता हूं।

चौथा अणुव्रत

संसार का परिभ्रमण बंध से होता है, और बंध-का कारण पर-वस्तु की आसक्ति है, तथा वह आसक्ति सबसे पहले स्त्री जाति में उत्पन्न होती है। इसलिये अपनी स्त्री के अतिरिक्त पर स्त्रियॉ माता बहन के समान हैं। अपने से छोटी सब पुत्रियां है, समान वयस्का बहनें है। मुझसे बड़ी समस्त नारिया माता के समान है। जगत् भर की नारी समाज को कथित दृष्टि से देखूंगा। [सामायिक करने वाले बहुत से लम्पट भावसे भी सामायिक करते है। कभी कभी इस विचार के मनुष्य अयोग्य आचरण तक कर बैठते हैं। बहुत से शास्त्र पढ़ने वाले भी कुमार्ग पर चलते देखे गये है। तथापि प्रथम मूल श्रद्धा वाला दर्शन पूर्वक त्याग उस त्याग का परिणाम मूल उत्पन्न करेगा। सहज बातको कड़ा करके त्याग समझे तो वह त्याग आगे नहीं बढ़ सकता। बढ़ना अन्तर दृष्टि की वृद्धि के अधिकार मे है। इस हिसाब से निर्धन पुरुष भी यदि बढ़ना चाहे तो यथा संभव बढ़ सकता है]

पांचवां अणुव्रत

परिमाण बांध कर वस्तु की इच्छा को परिमित करना निर्ममत्व व्रत है। मर्यादा करके नीतिपूर्वक परिग्रह को कमा कर मर्यादा से बढ़ कर भी न ले, तब अनीति से तो किसी का कुछ ले ही नहीं सकता। जिसे लक्ष्मी पाने की तीव्र अभिलाषा हो वही अनीति से काले कारनामे करता है, परन्तु भगवन्! मैं ऐसे व्यवहार कभी न करूंगा। यदि कोई इतना भी न कर सके तो उसे मानव प्रकृति का मनुष्य कैसे कहा जा सकता है। चित्त प्रधान ने अपने परिग्रह की मर्यादा भी पूर्णतया की है। मर्यादा बांधने के लिये निवृत्ति का समय आ जाय और प्रवृत्ति घट गई हो तो समझो कि सत्य प्रतिज्ञा लीगई मगर जिसने सन्तोष का सम्पादन न किया हो वह निवृत्ति भाव को क्योंकर पा सकता है। यदि देखा जाय तो तृष्णा का गढ़ा किसी प्रकार से भी नहीं भर पाता, परन्तु इसे दो तरह से समझा जा सकता है, पहला वह जो कि व्यापार करते करते अपना घाटा भरले, और दूसरा वह है जो पांच लाख की स्थायी सम्पत्ति पाकर भी सन्तोष से चैन नहीं लेता। वह प्रति दिन इसी उधेड़ बुन में लगा रहता है कि मेरा अमुक संबंधी २० लाख का स्वामी है और मैं उससे १० गुना घट जाऊं तक हीन हूँ।

यदि विचार कर देखा जाय तो पांच अणुव्रत में दुनिया भर की नीति का समावेश हो जाता है। धर्मात्मा उन सब से पहले इसे ही स्वीकार करते हैं। इसका अन्तिम परिणाम सहज और स्वाभाविक [illegible] पूर्णानन्द पद की प्राप्ति है। [illegible] पाने के लिये नीतिई स्वस्थता [illegible] धर्म [illegible] हो जाता है। इसके आगे ज्ञान [illegible] में भी

वही आत्म रमणता है। दिशा का प्रमाण, व्यापार का प्रमाण, अशुभ ध्यान न आने पावे, प्रयोजन के विना निष्कारण किसी पदार्थ का कुत्सित ध्यान न किया जाय, सामायिक व्रतका आराधन-आत्मा को पूर्णतया अपने स्वभाव मे पाने के लिये प्रतिदिन अमुक समय मे सिद्ध प्रयत्न किया जाय, अमुक सीमा तक रहूंगा अगाड़ी न बढ़ूंगा यह दशवाँ व्रत है। इसी प्रकार खाने पीने की मर्यादा की गई और अमुक दिनों मे पौषधोपवास व्रत सेवन करूंगा अर्थात आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चरित्रादि गुणों की उन दिनों मे खूब ही पुष्टि करूंगा। उनकी आवश्यकतानुसार सन्तो को उत्तम और शुद्ध भाव से आहार-पानी प्रदान करूंगा, जबकि मेरा आत्मा जागृत हो गया है तो जागृत तथा धर्मी पुरुषों को यथानियम-यथाशक्ति अन्न पानी औषध आदि अवश्य दिया करूंगा।

इस प्रकार शुभ भावना द्वारा महर्षि केशी स्वामी से १२ व्रत लेकर चित्त प्रधान ने धर्मभाव मे दृढ़ता प्राप्त को।

चित्त को मुनि का संदेश

केशीमुनि बोले कि हे चित्त! ली हुई प्रतिज्ञा को अप्रमत्त हो कर पालन करना है इसमे कभी प्रमाद न आने पावे। सहज-भाव से त्याग किया जाय तो उसकी अवधि बड़ी लबी होती है और देखा देखी-शर्माशर्मी से त्याग किया हो तो उसकी अवधि बहुत कम है।

चित्त की विशेषता

[तए णं से चित्तसारही समणो वासए जाए] उस समय चित्तसारथी श्रमणोपासक हुआ, विशेष शब्दों मे कहें तो श्रावक व्रत लेकर आदर्श जैन कहलाया। ज्ञानका उपासक बन गया, जड़

पुद्गल की उपासना का त्याग कर दिया।

श्रमण क्या है?

आत्मा के स्वाभाविक गुणों को श्रमण कहते हैं, पहले उसे परभाव का मग था उसे हटाने के लिये सद्भाव प्रगट किया, उसी अवस्था को श्रमण भी कहते हैं। उसकी स्वीकृति (सेवा) करना चित्तप्रधान का प्रधान कर्तव्य है। शरीर-कीर्ति-स्त्री-पुत्र-अन्न-धनादि की उपासना उसकी दृष्टि में अब गौण ऊँचती है। मुख्यता से मुनिवर्ग की उपासना सेवा में इसकी भावना परिपक्व हो गई है।

अभिगय जीवाजीवे

आत्मा को सन्मुख रख कर जीव और अजीव के भेद को भी सम्यक्तया जान गया है। जीव और जड़ सत्ता में भेद डाल कर दोनों के स्वभाव में भेद-भिन्नता का सद्ज्ञान प्राप्त किया है। पीछे २५ मनुष्यों की बात को आप भूले न होंगे, उनकी जड़ अवस्था को वह अपनी मान बैठा है। पर पच्चीस मनुष्यों को अपना अपना पुण्य-फल अलग अलग मिल रहा है, अपने पुण्य से कोई भी किसी को नहीं खिलाता, खाने वाले अपने पुण्य का खाते हैं, अपने निमित्त की अनुकूलता प्रगट होती है [illegible] वह उनके पुण्य का कारण है। क्योंकि शुभ परमाणुओं में सौंदारन अर्थात् अनुकूल साधन सर्जन करने की स्वाभाविक शक्ति होती है लेकिन वह स्वभाव पूर्वकृत के परमाणुओं को नहीं जानता कि अनुकूलता की सामग्री देना उनका मूल स्वभाव है [illegible] निमित्त कारण है। [illegible] आत्मा की पुण्यता को दूसरा निमित्त मिल [illegible]। [illegible] के घर [illegible]

पुण्य के योग से विद्याधर के घर १६ वर्ष आनंद किया। तो भी पोषक वहक कर कहता है कि मैं ही अनुकूल साधन देता हूं। इस के अतिरिक्त भ्रमणा में पड़कर जड़ को जीव मानने की भूल कर बैठा है पर चित्त ने तो आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा को आत्मभाव से जान लिया है। 'इन्द्रियातीत ज्ञान आत्मा का ही भान है' इस भाँति उसने परभाव को त्याग कर स्वभाव का रहस्य पाने के अनन्तर जड़ और चेतन तत्व अलग अलग कर डाले।

उवलद्ध पुन्नपावे

पुण्य-पाप का ज्ञान भी अवगत किया है।

[आसव-संवर णिज्जराणं किरियाहिगरणबंधमोक्खकुसले] एक भाव के द्वारा पुण्य बंध होता है और एक भाव से आवरण (बंध) का नाश बस उसी को निर्जरा कहते हैं। जिस भावसे पूर्व संचित कर्म के आवरण झड़ जाने से फिर उस कर्म के पर्दे टूट जाते हैं उस भाव का नाम भी निर्जरा है। जैसे आत्मा रूपी कंबल है और वह अनादिकाल से कर्मरूप जल से भीगा हुआ है, उसे ज्ञान और चरित्र के कीलों का जब अवलम्बन मिलता है तो उस आत्मरूप कम्बल से कर्मरूपजल टपक कर गिरजाता (निर्झरण हो जाता) है शास्त्रकारों ने निर्जरा का इस भाँति भी स्पष्टीकरण कर बताया है। भाव यह है कि जिस भाव से जन्म जन्मान्तर के आवरण मिटते हैं उसी भाव से पुण्य का उपार्जन भी करता है।

जिस भाव द्वारा पुराने बंध से छूटता है उस भाव से नवीन बंध नहीं होता और सिद्धान्तकारों ने बंध दो प्रकार से कहा है, एक पुण्य बंध और दूसरा पाप बंध। आत्मा की इष्ट और अनिष्ट बुद्धि द्वारा शरीर में अनन्तपरमाणु प्रीति उत्पन्न और अप्रीति

करते हैं तब कर्मों के अनन्तानन्त आवरण सिमट जाते हैं और जब आत्मा का अन्तर भाव उघड़ता है तब आत्मा अपने स्वभाव को देखता है तब उसे पुण्य पाप नहीं लग पाते और वह स्वयं निर्मल रूप हो जाता है। अत एव चित्तने आत्मा और जड़ वस्तु को भिन्न भिन्न समझा। पुण्य के फल से अच्छे साधन मिलते हैं और पाप के फल से प्रतिकूल साधन परन्तु यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों ही विघ्न कारक हैं। फिर भी पुण्य तो व्यवहार में अनुकूलता देता है। आस्रव जिस भाव के द्वारा नवीन नवीन पुण्य पाप का आगमन होता है वे शुभाशुभ भाव भी आस्रव है, क्योंकि नवीन कर्म शुभाशुभ भाव से ही तो आते जाते हैं।

संवर-संवर उनसे विलक्षण अवस्था है,

संवर का लक्षण

जिस भाव से आते हुये कर्म (पुण्य पाप रूप कर्म) रुकते हैं अर्थात कर्मों को आने से बिलकुल रोक देता है उस भाव को संवर कहा है। निर्जरा का स्वरूप पहले आ ही चुका है।

क्रिया का ज्ञान

मन वचन काय तथा काम के अनन्तानन्त कर्मों से जो जो विपाके गयाही हैं जिससे उनका ज्ञान भी प्राप्त किया, यह यह भी समझ गया कि पुण्य-पाप बन्धके कारण हैं, और संवर-निर्जरा मोक्ष के कारण। पुण्य-पाप आवा-गमन के बनाने के लिये कारण-भूत भी हैं इनसे संसार में परिभ्रमण होता है और यही बंध है, पुण्य पाप से बंध ही पड़ता है और पुण्य पाप का कारण निरन्तर आस्रव है।

पुण्य के योग से विद्याधर के घर १६ वर्ष आनंद किया। तो भी पोपक वहक कर कहता है कि मै ही अनुकूल साधन देता हूं। इस के अतिरिक्त भ्रमणा मे पढकर जड़ को जीव मानने की भूल कर बैठा है पर चित्त ने तो आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा को आत्मभाव से जान लिया है। 'इन्द्रियातीत ज्ञान आत्मा का ही भान है' इस भाँति उसने परभाव को त्याग कर स्वभाव का रहस्य पाने के अनन्तर जड़ और चेतन तत्व अलग अलग कर डाले।

उवलद्ध पुन्नपावे

पुण्य-पाप का ज्ञान भी अवगत किया है।

[आसव-संवर णिज्जराणं किरियाहिगरणबंधमोक्खकुसले] एक भाव के द्वारा पुण्य बंध होता है और एक भाव से आवरण (बध) का नाश बस उसी को निर्जरा कहते है। जिस भावसे पूर्व सचित कर्म के आवरण झड़ जाने से फिर उस कर्म के पर्दे टूट जाते है उस भाव का नाम भी निर्जरा है। जैसे आत्मा रूपी कवल है और वह अनादिकाल से कर्मरूप जल से भीगा हुआ है, उसे ज्ञान और चरित्र के कीलों का जव अवलम्बन मिलता है तो उस आत्मरूप कम्पल से कर्मरूपजल टपक कर गिरजाता (निर्जरण हो जाता) है शास्त्रकारों ने निजरा का इस भाँति भी स्पष्टीकरण कर बताया है। भाव यह है कि जिस भाव से जन्म जन्मान्तर के आवरण मिटते है उसी भाव से पुण्य का उपाजेन भी करता है।

जिस भाव द्वारा पुराने बंध से छूटता है उस भाव से नवीन बंध नहीं होता और सिद्धान्तकारों ने बंध दो प्रकार से कहा है, एक पुण्य बंध और दूसरा पाप बंध। आत्मा की इष्ट और अनिष्ट बुद्धि द्वारा शरीर मे अनन्तपरमाणु प्रीति उत्पन्न और अप्रीति

करते हैं तब कर्मों के अनन्तानन्त आवरण चिमट जाते हैं और जब आत्मा का अन्तर भाव उघडता है तब आत्मा अपने स्वभाव को देखता है तब उसे पुण्य पाप नहीं लग पाते और वह स्वयं निर्मल रूप हो जाता है। अत एव चित्तने आत्मा और जड़ वस्तु को भिन्न भिन्न समझा। पुण्य के फल से अच्छे साधन मिलते हैं और पाप के फल से प्रतिकूल साधन परन्तु यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों ही विघ्न कारक है। फिर भी पुण्य तो व्यवहार मे अनुकूलता देता है। आस्रव जिस भाव के द्वारा नवीन नवीन पुण्य पाप का आगमन होता है वे शुभाशुभ भाव भी आस्रव है, क्योंकि नवीन कर्म शुभाशुभ भाव से ही तो आते जाते हैं।

संवर-संवर उनसे विलक्षण अवस्था है,

संवर का लक्षण

जिस भाव से आते हुये कर्म (पुण्य पाप रूप कर्म) रुकते हैं अर्थात् कर्मों को आने से बिल्कुल रोक देता है उस भाव को संवर कहा है। निर्जरा का स्वरूप पहले आ ही चुका है।

क्रिया का ज्ञान

मन-वचन काय तथा बाहर के अन्यान्य शस्त्रों से जो जो क्रियाएँ लगती है चित्तने उनका ज्ञान भी प्राप्त किया, वह यह भी समझ गया कि पुण्य-पाप बन्धके कारण हैं, और संवर-निर्जरा मोक्ष के कारण। पुण्य-पाप चार-गति मे रुलाने के लिये कारण-भूत भी हैं इनसे ससार मे परिभ्रमण होता है और वही बंध है, पुण्य पाप से बंध ही पड़ता है और पुण्य पाप का कारण नितान्त आस्रव है।

चित्त की दृढ़ श्रद्धा

[असहिज्ज देवे, सुरनाग-सुवएण-जक्ख-रक्खस-किपुरुस महोरग किन्नर गरुल-गंधव्वाइं एहिं देवगणे हि निग्गंथाओ पावयणातो अणतिकम्मणिज्जे] यह श्रद्धा और प्रतीति में इतना बढ़ गया है कि ऊपर के लोक से देव भी आकर सहायता करने का आश्वासन दें तब भी वह कथित साहाय्यकी वांछा नहीं करता और वह यह जानता है कि मै स्वयं देवों का देव हूं, तब किसी का आश्रय लेने की मुझे क्या पड़ी, किसीकी सहायता से मेरे आवरण नहीं कट सकते। इस के अतिरिक्त आपत्ति या संकट मे देव सहायता करने आवें तो उन्हें रोक कर कहता है कि तुम्हारी मदद से मेरे कर्मो की निर्जरा किस तरह हो सकती है, तुम्हारी मद. से कदाचित् मोक्ष भी मिले तो वह मोक्ष का कारण पराधीनता सिद्ध होगा, जिस के प्राप्त करने मे ही पराधीनता है तब वह स्वयं भी पराधीनता ही है और तब मोक्ष भी आत्मा का स्वतंत्र और सहज गुण न रहा इसी लिये यह साफ शब्दों में कहता है कि भाई! तेरी सहायता से मेरी निर्जरा होने वाली नहीं है।

कुदेव वंदनका त्याग

लोग गारे मिट्टी की शीतला बना कर लड़कों का उस बुत के सामने मस्तक टिकवा कर कहते है कि यह शक्ति है और आपत्कालमे इससे सहायता मिलेगी। अमुक देवीकी मानता मानने से वन्ध्यापन मिटेगा, लक्ष्मी मिलेगी, सुख सम्पदा बढ़ेगी इत्यादि कल्पनायें उपस्थित करता है तब वह देवों की सहायता तो चाह से लेगा, अगर संभव हो तो सब से आगे कूदकर लेगा, परन्तु इस चित्त ने चैतन्य स्वरूप की ठीक पहचान की है तब इसे आपत्ति

में यही भान होगा कि पूर्वार्जित कर्मसे ही यह कष्ट आया है, यदि इसे समभाव से सहकर इसकी निर्जरा न करूंगा तो यह कर्म का संकट ज्यों का त्यों रह जायगा, सच है परका अवलम्ब लेनेसे क्या कुछ आवरण थोड़े ही टलता है ?

ज्ञेय का परिचय

वह यह भी समझे हुये हैं कि ज्ञानी किसीकी मदद लेना नहीं चाहता, दुःखके समय प्रतीकारकी भावना भी नहीं करता, वीतराग स्वरूप आत्मा को वीतराग के मार्ग से चलित करने के लिये देवों का वृन्द भी उतर आवे तब भी अपनी श्रद्धासे डिगने वाला नहीं है

देव स्वयं दुःखित हैं

चार गति मे रुलने वाले देव किसी की क्या मदद कर सकते हैं, अपने पुण्य के उदय बिना अनुकूलता कैसे मिले ? इसके अतिरिक्त जीवात्मा स्वयं ही शक्तिशाली है, जो वीतरागपद की सत्ताका भोक्ता है भला वह राग-द्वेषके कुपेचमे क्यों पड़ने लगा।

[निग्गंथे पावयणे निस्सकिते-निकंखिते-निवितिगिच्छे] ज्ञानात्मा के विकसित होनेके कारण चित्तप्रधान मे निश्शंकता-निराकाक्षा आदि का गुण भी प्रगट होगया। अब वह किसीके आडंबर को देख कर रातजगा करके रातों जागने वाला नहीं है। चाहे किसी को करोड़ों मुख्य व्यक्ति भी क्यों न मानते हों मगर सख्या के ऊपर कुछ सत्य का प्रमाण नहीं है। सत्य का परिणाम तो मात्र न्याय के ऊपर ही अवलंबित या निर्भर है।

गतानुगतिकता

बहुत से लोग यह भी कहा करते है कि जिन्हें या जिस धर्म

को करोड़ों मनुष्य मानते हैं तब क्या वे सब के सब मूर्ख ही हैं परन्तु यदि गिनती शुरु करोगे तो अज्ञानी पुरुषों की गिनती अधिक पाओगे मगर यह भी नहीं कह सकते कि जिसे कम मानें वह ही श्रेष्ठ होता है। इसे समझने की चेष्टा करो कि कहां है वह न्याय ! त्याग क्या है, जिसका कि समझना परमावश्यक है। अधिक मानने वालों के प्रति न्यायवान् का उसका अपना मोह नहीं होता क्योंकि अब उस गृह झंझटोंमे कांक्षा तथा इच्छाका लवमात्र भी नहीं है। वह सब से बडी तत्व की यह बात भी जानता है कि आत्म मार्ग का विकास किये बिना अन्य किसी भी मार्ग से मोक्ष न मिल पायगी वह इसी भाव में निरन्तर रमण करता है। जिसे कि निराकांक्ष वृत्ति कहते हैं।

सब से बुरी शंका है

इसे अपनी क्रिया के फलमे कभी शका नहीं हुई है। "इतना कुछ करता हूं इसका फिर भी कुछ फल नहीं" इस भाँति उसे क्रिया के फलमें संशय नहीं है। मानलो कि कसाई कई पशुओं की हत्या करता है और वह सोने की कुर्सी पर बैठा रहता है लेकिन मुझसा धर्मी अत्यन्त दुःखी है, क्या यह प्रकृति के दर्बार में सरासर अन्याय नहीं है ? परन्तु अनुकूल-प्रतिकूल अच्छा-बुरा यह सब पाप पुण्य का कारण है। वर्तमान मे पाप करने वाले को उदय आने पर अब या भविष्य में दुःखरूप विपाक का फल अवश्य मिलेगा, इस समय जो अनुकूलता का उपभोग कर रहा है वह जन्मांतर के किये का फल है। वर्तमान मे धर्मके अंगों का साधन करने वाला इस समय भी बाह्य अनुकूलता का निमित्त जुटा रहा है और वर्तमान में पाप करने वाला वर्तमान काल मे

प्रतिकूलता युक्त नहीं है जिस से वह वर्तमान काल में सुखी है। चित्तप्रधान को पूर्वकृत पुण्य पापका कारण अनुकूलता-प्रतिकूलता द्वारा प्राप्त है। यह आत्मा के विवेक से ठीक निर्णय पा चुका है इसी लिये इसको अपनी क्रिया पर संदेह नहीं है। वह यही जानता है कि जैसा बीज बोया गया है वैसा ही अंकुर के रूप में निकलता है, "जैसा ऊगा वैसा लुना" वाली कहावत सब पर चरितार्थ है।

इत्यष्टादशोऽध्यायः



अथैकोनविंशतितमोऽध्यायः

यह पहले कहा जा चुका है कि आत्मा अनन्तकाल से लक्ष्य भ्रष्ट है और उसके परदेशी होनेका भी यही कारण है । पर के संयोग (परभाव के विकार) से अपनी सत्ता की उपस्थिति रख कर भी स्वयं परदेशी प्राय: है परन्तु वस्तुत: परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा का स्वरूप निर्विकार है परन्तु अब तक वह समझ के पथ पर न आ पाया ।

समझ का क्रम

सब से पहले चित्त समझता है और फिर परदेशी । अर्थात् समझ के क्षेत्र मे सबसे पहले चित्त ही आता है तदनन्तर आत्मा परले पार की बातका ज्ञान पाता है । इसके साथ ही परदेशी के समझनेमें चित्त निमित्तभूत भी है । इसी कारण पहले चित्तप्रधान ने केशीस्वामी से धर्माख्यान सुना है । अब तक जितना गृहाश्रम में निभा सके उतना ही नियम लिया है । यदि कोई यह शंका करे कि मोटी हिंसा झूठ चोरी आदि त्यागने पर छोटी हिंसा चोरी आदि कहां रह पायगी । उत्तरमे यह समझना चाहिये कि अहिंसा का पालन करने के लिये जब जीवको आवश्कता होती है तब 'अहिसा किसकी की जाय' 'दया का पालन किस भांति किया जाय' इसे

जानने के लिये जीवों के प्रकार का जानना आवश्यक है। जीवोंकी जातियाँ समझे बिना जीवरक्षाका रहस्य प्रतीत नहीं होता है और वे जीव पंचेंद्रिय चतुरिन्द्रिय त्रींद्रिय द्वीन्द्रिय एकेन्द्रिय के भेद से पांच प्रकार बताये हैं और यह भी कहा गया है कि इस प्रकार जो जीव की बाह्य इन्द्रिय ऋद्धि को जानता है वही दयाका ठीक पालन कर सकता है। ज्ञानी कहते हैं कि पहले त्याग वैराग्य के गर्भमे आ सके तो जितना त्याग वैराग्य बढ़ेगा उतना ही बाहरी आचरण मे झलक आयगा। चित्तप्रधान ने स्वयं यह आगार रख लिया है कि मेरे गृहस्थधर्म की सीमा अमुक है परन्तु मुनि ने आगार रखना नहीं कहा है बल्कि यह स्वय ही कहरहा है कि पाप का अभाव मुझ से सर्वथा न हो सकेगा क्योंकि मुझमे इतना वीर्य नहीं है। तब मुझसे संसार मे रह कर इतना कुछ हो सकता है जिसकी मान्यता यही है। लेकिन शास्त्रकार आज्ञा नहीं दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थावस्था मे सर्वथा हिंसाका त्याग भी नहीं हो सकता तथापि शास्त्रकार तो पापों से सर्वथा छूटने का उपदेश करते हैं। पापोंसे सर्वथा छूटे विना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती तथा सच्चा सुख स्वाधीनता ही है। सर्वथा स्वाधीनता पानेका उपाय सर्वथा अहिंसा है हिंसादिकसे तो निश्चय पराधीनता ही आती है। पृथ्वी पानी अग्नि वायु वनस्पतिमे एक एक इन्द्रिय है, और ये एक इंद्रिय वाले जीवों के पाच भेद बताये हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पांच इन्द्रिय वाले जीव त्रस होते हैं। एक भेद त्रसका मिलने से षट्काय के भेद वनते हैं। पहले इन पांचों इंद्रियों का दुरुपयोग किया था जिस से एकेन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुआ, जिस मे अब जीव की कल्पना तक करना कठिन है। पत्थरकी तरह ऐसा कठोर शरीर पाया है पर आत्मा कुछ पत्थर नहीं हुआ है। पूर्वोपार्जित

कर्मों को भोगने योग्य योनि मे यह आत्मा आया और गया है। कारण मनुष्यत्व का योग मिला था तब तो औरों को प्रतिकूलता देकर अपने लिये इतनी अधिक अनुकूलता जुटाता था कि अन्य के दुःख सुख की कुछ पर्वाह ही नहीं करता था। इसी हेतु से प्राणिओं की अनुकूलता का अपहरण करके उसे वृथा जिता दिया और जब ऐसी जगह पैदा हुआ कि जहां दूसरे की दया 'हांकार' द्वारा भी न जान पाया। इसी लिये 'हम भी चैतन्य हैं, हमें भी सुख दुःख होता है' ऐसी बाहर की ऋद्धि बतानेकी शक्ति भी गवां बैठे। इस प्रकार एक इंद्रिय जीवों को सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण हैं।

चार इंद्रियों को हार कर इसी कारण एकेन्द्रिय बना है कि औरों को कष्ट देते समय जरासी धीरता से भी काम न लिया गया, औरों के दुःख को पहचानने की जरा सी चेष्टा भी न की। अतः 'शरीर चिन्ह द्वारा हम जीव हैं, हम चैतन्य हैं' अब इतना भी नहीं वता सकता, जिससे चार इंद्रिय की ऋद्धि को खो बैठा।

सूयगडांग सूत्र में एक न्याय कहा है कि किसी राजा ने एक वार नगर से वाहर गोठ की तथा यह घोषणा की गई कि नगर मे पुरुष जाति बिल्कुल न रहने पावे। परन्तु खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि एक सेठ के छह लड़के किसी आवश्यक कार्यवश अंदर रह गये, अपनी आज्ञा के उल्लंघन करने का कष्ट राजा को सिर कटने से अधिक हुआ, तव राजा ने मृत्युदंड की कठोर आज्ञा दी कि इन छहों लड़कों के सिर काट डालो। यह सुनकर सब पंचोंने मिलकर राजासे विनय की कि सेठका कुल नाश होजायगा। सेठने तो रो रो कर यह भी कहा कि राजन् पांच को छोड़ दो। पांच नहीं तो चार ही छोड़े। तीन-दो के वाद अंतमे एककी विनती की गई।

राजन् ! एक के रहने से भी वंश रह सकता है । इस पर तो राजा को दया आगई और एक को छोड़ दिया इस उदाहरण में क्या पाच लड़कों पर दया का अभाव शेठ के मन द्वारा सिद्ध हो सकता है ? यह सिद्ध नही किया गया है । एकको बचाते समय क्या पांचों पर दया नहीं है ? क्यों नहीं अवश्य है । इसे इस प्रकार समझो कि काल रूप छह लड़के हैं राजा रूप गृहस्थ है, शेठ रूप सन्त और त्यागी है । शेठ रूप मुनि गृहस्थ रूपी राजा से कहते हैं कि सर्वथा हिंसा छोड़े बिना तेरा आत्मा स्वतंत्र न होगा, यदि सर्वथा पालन न कर सके तो पांचही की रक्षा कर ! एवं चार-तीन-दो पर दया न कर सके तो एक पर ही दया कर । इस प्रकार एक की दया पालने के लिये कहा जाने पर अन्य पाच के मारने का आदेश नहीं दिया है बल्कि उसका तो यह आशय है कि एक की रक्षा करे तो यही लाभ सही फिर अनुक्रमसे बढ़तेबढ़ते कभीन कभी छहोंकी रक्षा कर सकेगा इसभाति जब श्रेष्ठमुनिराज सर्वथा हिसा छोड़नेकेलिये कहते हैं तब गृहस्थ कहता है कि ससार की बातें निभानेमे छहों कायकी हिंसा से नहीं बच सकते पर आप यह कहते हैं कि अहिंसा के बिना स्वाधीनता नहीं मिल सकेगी पर पाच की हिंसा से तो किसी तरह नहीं बचा जासकता परन्तु त्रस की हिंसा न करूगा । अब-तो मात्र इतना कुछ पालन कर सकता हू । लेकिन त्रसकी हिंसा न करने मे भी तीन काल का विचार करना पड़ता है ।

काड लीवर आयल (मछली का तेल) सांडेका तेल आदि बुरी वस्तुओं का उपयोग त्रसजीव की रक्षा करने वाला कभी नही कर सकता । चित्त प्रधान यही कहता है कि प्रभो ! सर्वथा त्यागी तो नही हो सकता लेकिन त्रस जीवों की हिसा सदा के लिये छोड़ सकता हू, और त्रसजीवकी हिंसा का त्यागना मेरी इस अवस्था के

लिये सुगम भी है। परन्तु इसकी जिम्मेवरी का इतना खयाल है कि मौत का समय आने पर भी त्रसजीव की हिंसा से उत्पन्न होने वाले काड लीवर आदि का उपयोग कभी न करूंगा, ऐसी दृढ़ता होने पर ही इस प्रकार का प्रण निभा सकता है। अनेक प्रकार के त्याग और प्रत्याख्यान में बड़ी जोखम उठानी पड़ती है, कितना कुछ सहन करना पड़ता है इसकी खबर यथासमय ही लग सकती है। अहिंसा का प्रतिपालक (त्रस जीवों का रक्षक) चर्बी वाले वस्त्रों का उपयोग तथा उनका क्रय विक्रय भी नहीं करसकता। वह मोती का व्यवसाय भी नहीं कर सकेगा क्योंकि लाखों मछलियों का पेट फूटता है तब कुछ मोती हाथ आ सकते हैं। उपयोग द्वारा उसे पता लग जाय कि 'इस व्यवसाय में त्रस जीवों की हिंसा होती है' यह संदेह पड़ते ही वह उस कार्य (व्यवसाय) को तुरन्त छोड़ देता है। जैसे किसी विधवा स्त्री का एक ही पुत्र है। घर मे पांच लाख की पूंजी है। कालान्तर मे वह इकलौता लड़का बीमार होगया, डाक्टर ने कहा कि इसे शीघ्र वमन कराइये, तब इसे आराम होगा, रोग के असाध्य होनेमे कोई सन्देह नही है अतः थोडासा गुड मॅगवाइये, उस पर जल के छींटे डाल कर नरम बनाइये कुछ काल के बाद उस पर मक्खियें आकर बैठेंगी तब १०-५ मक्खिएँ पीस कर झट पिला दीजिये, इसे शीघ्र वमन होगा वर्ना मरने का अंदेशा है और इस प्रकार की घटनाये नित्यप्रति होती रहती हैं परन्तु माता कहती है कि यह जीव अनन्तवार जन्म लेकर मरा है। इस विकट परिस्थिति मे नित्य-आत्मा ने अपना नित्यत्व समझ कर तीनकाल के स्वरूप को जान कर त्याग किया हो तब ही आत्मा टिक सकता है यदि वह त्रसकी हिंसाका त्याग किये हुये है तब लड़का जीवित रहे या न रहे पर वह तो त्रस जीवकी हिंसा कदापि न होने देगी।

बहुत से लोग बंदर का खून इंजेक्सन द्वारा अपने शरीर मे पुरुष-शक्ति के लिये लेते हैं, परन्तु देह जाय तो उस की पर्वाह नही करते लेकिन वे अपने त्याग का भंग नहीं होने देते तब ही सच्चा त्यागी आदर्श त्याग का निर्वाह करने वाला समझा जाता है। इसके अतिरिक्त मेरा आत्मा नित्य है तब नित्यत्व को त्याग द्वारा अनित्य दशा के प्रेम से छुड़ा कर नित्यता को सुरक्षित रखने के लिये हिंसा के त्याग की दृढ़ता बनाये रखने पर ही सच्चा त्याग कहलाता है। जो पुरुष इतना दृढ़ हो वह भविष्य में आने वाले काल को भी ध्यान मे रखता है। विकट प्रसंग पड़ने पर भी अंडा और मछली के तेल का उपयोग कभी न करेगा। वह जानता है कि तेरा आत्मा नष्ट न होगा, जीव-जान को जोखम में डाल कर व्रत-नियम की रक्षा करना आत्मज्ञ का पहला काम है, चाहे वंश निर्वंश ही क्यों न चला जाय पर आत्मा निर्वंश जाने वाला नहीं। पुत्र-लक्ष्मी-शरीरादि चाहे मिट जायें मगर त्याग मे फर्क न पड़ने पाये। त्याग को तोड़ने में समस्त ससार की वृत्ति आ जाती है। और समय पड़ने पर छोड़ भी देता है, यों जोखम को लक्ष्य में रख कर त्यागने वाला भी पूर्णत्याग के सन्मुख चलता है। जिसे छुटना था वह तो छूट गया और जो न छुटा वह छोड़ने के भाव से कहता है कि शास्त्र ने छूट नहीं दी है तो भी गृहस्थ कहता है कि हम से नहीं छुटता। हां मुझ से मात्र त्रस जी ों का रक्षण हो सकता है। देखिये न ! काली कोठड़ी मे खड़ा रहे और दाग न लग पावे यह तीन काल मे कब संभव है। अखिल विश्व राग-द्वेष और हिंसा से भरा पड़ा है ? सम्भ्रमण और परिभ्रमण (राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले भाव) से परिपूर्ण है इसमे रहे और बे दाग बच जाय यह कब हो सकता है। यह पहले कहा जा चुका

है कि संसार की नीति को तो मनुष्य खूब पसंद करता है और अनीति को त्याज्य कहता है। यदि अनीति आदरणीय होती तो किसी क्षेत्र, किसी काल, किसी दिशा मे तो इसका ग्रहण किया जाता। आदरणीय हो तो भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो उपादेय नहीं वह आदरणीय भी नहीं और नीति को रखने जैसी बात कही जाती है जिसमें सारा संसार त्याज्य रूप है। इसप्रकार यह भाव सहज में बैठ जाता है कि नीति रखने वाला कुछ भी छोडे विना नीति का समाचरण करता हो, तब वह किस विषय में त्याज्य है। यदि अन्तर दृष्टि से देखा जाय तो वह सर्वथा त्याज्य भी है पर आदरणीय नहीं इस प्रकार बात ठीक बैठती है। नीति में कुछ त्याग का अंश भी गर्भित है अर्थात् अनीति और अधर्म का त्याग होजाता है, यदि कोई यह कहे कि संसार आदरणीय है तब उसमें से एक प्रकार भी छोड़ने जैसा न रह जायगा, परन्तु अनीति अवश्यमेव त्याज्य है तब संसार आदरणीय भी नहीं है निश्चय यह निस्सदेह है। यह और भी निर्णय द्वारा निखर जाता है कि जिस अंश में त्याज्य है वही अंश आदरणीय कहा गया है। नीति पसंद करने वाले को किसी अंश में अनीति अवश्य छोड़नी होगी। अनीति को छोड़ने वाला अनीति के त्याग में २५ लाख रुपया मिलने पर भी छोड़ देगा क्योंकि अनींत्ति करने योग्य ही नहीं। अनीति से प्राप्त लक्ष्मी आदरणीय नही है। जिसका एक भाग छोड़ने योग्य है उसके बोल में ही यह स्थिर होता है। नीति सदा काल ठीक कहलवाती है। भव्यों को प्रतिष्ठा-लक्ष्मी-काम और भोग मे अनीति करना उचित नहीं। यह निश्चित होने पर भी उस का लक्ष्य कुछ बहुत बड़ा नहीं है। "सब कुछ त्याज्य है" जहा तक इस प्रवचन को न समझा जायगा वहां तक सब कुछ अपूर्ण

है। यह समझ कर आत्मा जहां तक अपने आप मे प्रगट न हो वहां तक पूरे त्यागका मार्ग समझमे न आयगा। शास्त्रकार तो छूट नहीं देते परन्तु जो पाई की इच्छा करता हो यदि उसे गिन्नी दिखलाई जाय तो क्या उसे वह पसंद न आयगी? जब तुम अनीति की इच्छा करते हो तब ज्ञानी उस का सर्वथा त्याग करना बताते हैं वह त्याग क्यों नहीं पसद आता। हमारी सर्वथा छोड़नेकी बात का अनादर क्यों करते हो? अखिल जगत् मे देहभाव रखने जैसा नहीं है। यदि अनीति के त्याग को मानते हो तब तो सब का सब संसार त्याग देना होगा। शास्त्रकार सर्वथा यही कहते हैं। यदि दूसरे की आवश्यकता और उसकी यथोचित अनुकूल सुविधा नहीं देख सकते हो तो 'आप जीव हैं? यह जानने की ऋद्धि चली जायगी'। अपने स्वार्थ मे उत्कृष्ट आकुलता रखने वाले नरक गति में जाते हैं और मध्यम आकुलता वाले पशुगति मे जाते हैं। तथा पशुगति में आकुलता को बढ़ा कर वह पशु पत्थर मे गया, यह सिद्धान्तकार कहते हैं।

तीव्र आतुरता रखने वाले संसारके कार्यमे आकुलित हो उठने वाले, अस्थिरता वाले जीवों ने अपनी अनुकूलता के लिये "औरों को दुःख कहां होता है" इस प्रकार अन्य का दुःख न जान कर उस की आकुलता-अस्थिरता मे जैसा वेग था उसका सीधा वेग यानी पत्थर मे जाकर स्थिर होगया। × × × जिसे सर्वथा दयाका पालन करना है उसे मुनि पद अवश्य लेना योग्य है, परन्तु चित्त प्रधानने तो अपनी मर्यादा को रखकर जितना उससे बन सका उतना ही त्याग किया।

गृहस्थों को भी ज्ञानी जन जरासी छूट नहीं देते लेकिन चित्त धर्मात्मा श्रावक होगया। श्रावक के कुल मे उत्पन्न होने वाले

श्रावक का यहां ग्रहण नहीं है यहां तो उस श्रावक से संबंध है जो वीतराग के वचन को सुनकर जिसकी अन्तर सम्पत्ति अनावृत हो गई है, उसे ऐसी बात सुनने की सहसा प्यास रहती है तथा सुन कर मनन करता है, वह श्रावक श्रमणोपासक यानी सच्चा जैन है। चाहे वह किसी भी व्यवहार-प्रसिद्ध-जाति-का क्यों न हो परन्तु आत्मा के अन्तर भावों की सम्पदा के तथा वीतराग के वाक्यों को सुनकर जब आत्माकी ओर लक्ष्य करता है तब उसकी श्रावक संज्ञा बनती है और प्रेम सत्कारसे वह भव्यकुलमे आदरणीय हुई है।

मोटी हिंसा की तरह मोटे झूठको भी समझिये, जैसे अपना ही लड़का किसी का खून करके आया है और पिता ने झूठ बोलने का त्याग किया है तब उस लड़के को चाहे वह चलता कर देगा लेकिन झूठ न बोलेगा, त्याग की जोखम समझे बिना त्याग किया है यानी आत्मा की नित्यता का परिणाम नही आया। यह चित्त श्रद्धान में इतना अधिक परिपक्व है कि यदि ऊपरसे देव भी उतर आये तब वह आपत्काल मे भी पर की सहायता की वाञ्छा मन से भी करने वाला नहीं है। वह यह समझे हुये है कि संसार संबंधी प्रतिकूलता मेरे अपने कारणसे उत्पन्न होकर काले बादल की तरह उठी है। मेरे आत्मा पर कर्म का आवरणहै उसीमे से अवसर पा कर आपदा आती होतीहै अतः इन्द्र तक की सहायता भी न लूंगा।

आपत्काल आनेका कारण

आप स्वयं तो नीति को ठीक कहता है मगर नीतिका आदरमान पूर्ण मनन के साथ नहीं करता हो तब उसके परिणाम मे आपदा आती है, इस लिये उसे त्याग की इच्छा नहीं होती प्रत्युत दुःख के कार्यों की ही जिज्ञासा किया करता है जिससे पूर्वके कारणसे कष्ट

पड़ा है और यदि धर्मी हो तो यह समझेगा कि इस कष्ट को तो मैं ने जान बूझ कर आमन्त्रण द्वारा बुलाया है जोकि अब अपना रस विपाक देने के लिये ही वह आ पहुंचा है।

संसार में जली भुनी आकुलता का अपने मनमें भारी से भारी बोझ समझा जाता है परन्तु यह त्यागने जैसा है कदाचित् मनपर यह लक्ष्य आ जाय तो छोड़ने का लक्ष्य बन आयगा, अतः धर्म साधन थके मांदे जगत् के लिये विश्रामभूत है, परन्तु आजकलके समय मे जहां नाटक सिनेमा हो वहां जमघट लग जाता है, और सब लोग अपने जले दिलोंको ठंडा करने वहीं जाते हैं। विश्रामका स्थान भी उसे ही समझते हैं किन्तु विश्राम के चार स्थान तो और ही बताये हैं।

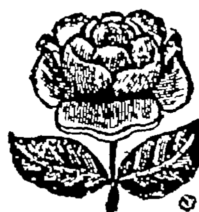
विश्रांतिके चार स्थान

दो चार घड़ी धर्म सुननेकी वृत्ति भी विश्राम है, श्रवण करके मनन करना सबसे श्रेष्ठ विश्राम है, स्थिरता का होना पूर्ण विश्राम है, अन्तिम विश्राम जन्म मरण के बंध से नितान्त छूटना है। मगर ससारी जीव तो यह मान बैठे हैं कि हमारी विश्राम भूमि सन्तान ही है। तब यह क्या कुछ विश्रातिका स्थान है? जो त्याग के मार्ग पर ले जाय वास्तव में वही सच्चा विश्राम है × × ×

चित्त.प्रधान आज वास्तविक विश्राम पाए हुए हैं अतः आपत्काल मे भी किसी देवका सहाय न चाहेगा। बल्कि इसकी तो यह धारणा है कि कष्टको आव्हान द्वारा हम ही निमन्त्रित करते है। पापका समाचरण किया था बस वह उदय बल को पाकर आमन्त्रण रूप हो गया। इसे भींचकर नष्ट कर दोगे तब ही आरोग्य लाभ होगा। नारियल फोडने पर अंदरसे गोला निकलता है इसी भाति देहरूपी

नारियल त्तय करनेसे आत्मा अलग हो जाता है परन्तु यदि कॉचली से नारियल जुदा नही किया है और भीतर चिकनाई है वह-अधिक प्रहार से कही दोनों रूप से नष्ट न हो जाय, टोपसी को जुदा करने में प्रहारका निमित्त लेना आवश्यक है, मगर सुलटे रूप से कब लिया जाय ? कॉचली से भिन्न होने पर ही न ! यदि राग-द्वेष रूपिणी चिकनाई नही है तो आत्मा उज्वल है परन्तु यदि देहरूपी जटाके साथ राग-द्वेष रूपी चिकनाईमे अनन्तकालसे चिपका हुआ है। उस चिकनाहटके अलग होनेपर आत्मारूप गोला अलग हो जाता है। प्रहार लगने से कॉचली टूटती है और फिर अपने आप दोनों जुदे जुदे हो जाते है। इसी प्रकार चित्त प्रधान राग-द्वेष रूपी चिकनाई से गोले की तरह अलग हो गया है। तब प्रहार के लगने पर कॉचली से अलग होने में क्या अब कुछ विलम्ब है ?

इत्येकोनविंशतितमोऽध्यायः



अथ विंशतितमोऽध्यायः

अजीव की ऋद्धि को भेदन करके चित्तने जीवको भले प्रकार पहचाना अर्थात् अनादिकाल से जड़ और चेतन का सांयोगिक संबन्ध है। यदि तीक्ष्ण ज्ञान द्वारा भेद विज्ञान हो तो अपने स्वरूप का भान हो उठता है और पूर्णतया निश्चय होने पर केवलज्ञान होता है। चित्त को यही ज्ञान हुआ है, साधारण बुद्धि से समझें तो जीव के ५६३ भेद हैं और अजीव के ५६० भेद होते हैं। ये भी व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य भेद हैं। यानी कर्म प्रकृतिके नियम को लेकर ये भेद बन गये हैं परन्तु अन्तर शक्ति के स्वभाव के भेद नहीं होते। स्वभाव शक्ति में सिद्ध और संसारी जीव समान हैं। तथापि बाह्य प्रकृति को समझ कर फिर मूलप्रकृति का जानना आवश्यक है परन्तु अन्तरङ्गीय अहिंसा के स्वभाव का जिसे भान है तो इसके पश्चात् बाह्य (परस्वरूप का) ज्ञान पाना चाहिये। ऐसे जीव कौन२ हैं जिनकी बाह्य ऋद्धि के जाने बिना इन्हें किस प्रकार बचाया जा सकेगा। शरीर के निर्वाह मात्र के अर्थ बाह्य क्रियाएँ की जाती हैं। यदि शरीर का रक्षण समयानुसार सयम के हेतु हो तो मैं किसी के लिये प्रतिकूल रूप न हूंगा।

प्रतिकूलता क्या है ? जीवों के लिये [जीवों की बाह्य ऋद्धि] इन्द्रियादि ज्ञान भी होना चाहिये। बाहर की क्रियाएँ न हों तो अन्तरङ्ग में चढ़ा हुआ आत्मा आगे कदापि न बढ़ सके तो भी अपनी सुविधा के समय औरों की हानि मेरे द्वारा न होने पावे इतना लक्ष्य संयमी साधु भी शरीर के निर्वाह-साधन लेते समय रखते हैं। शरीर की देख रेख यही है कि कहीं कांटा न लगजाय बिच्छु न काट जाय इत्यादि बातों का ख्याल तो रक्खा ही जाता है इसी भांति औरों को भी असुविधा न हो, इसे भी कभी न भूल जाय इस प्रकार बाहरी ध्यान न रहे तो अन्तर दया का प्रकाश कैसे होसकता है। इसी उद्देश्य से साधु भी शरीर रक्षा के निमित्त समिति अर्थात् भले प्रवर्तन से चलते फिरते हैं। तब बाहर के भेदों को इस लिये जानने की जरूरत है कि औरों को भी प्राण संबन्धी कोई कष्ट न होने पावे। किसी समय जीवों की बाहरी ऋद्धि जाने बिना भी केवलज्ञान हो सकता है तो भी बाह्य भेद का जानना अन्तरभेद (परिचय) पाने के लिये है। चित्त को यही ज्ञान हुआ है कि श्रद्धा परम दुर्लभ है। श्रद्धालु को किसी प्रकार की शंका नहीं होती। अब यह इतना आस्तिक है कि इसे किसी पौद्गलिक पदार्थ की आकाँक्षा नहीं है। इसे पूर्ण विश्वास है कि आत्मा के स्वाभाविक गुण का उद्भव हुये बिना मोक्ष नहीं होता।

उसे यह इच्छा नहीं है कि स्वाभाविक गुण के बिना भी मोक्ष होता है। पांडित्य और विद्वत्ता के चक्कर से भी यह निकल गया है। आत्मा अनादिकाल से अपने स्वभाव से निकलकर विभाव में चक्कर लगाता रहा है उस विभाव गुण को निकाल कर लघुभूत हुये बिना मन और इन्द्रिय की पंडिताईको चाहे तो प्राप्त करले मगर यह पाण्डित्य मोक्ष के लिये कारणभूत कभी नहीं होता। क्यों कि

अन्तर की जागृति के विना अथवा आत्म पथ का रहस्य समझे विना मोक्ष नहीं है। आत्मा का वीर्य गुण आत्मसुख का व्यापार है जिस का फल कदाचित् शीघ्रता मे न दीख पड़े तो भी उसे आत्मा और वीतराग के मार्ग में संदेह तो नहीं होता। इसका नाम 'निर्विचिकित्स' है यानी बिल्कुल संदेह रहित आत्मा है। इसके साथ२ शास्त्रीय ज्ञान भी इतना अधिक पाया है कि-

लट्ठ

उसे सिद्धान्त के वास्तविक प्रमाण भी प्राप्त हैं, शास्त्रकारों का मत है कि चार प्रकार के मनुष्यों को न पढ़ाया जाय। अर्थात् सीधे न्याय को चार व्यक्ति नहीं मानते। स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कहा है कि सीधा न्याय विलोम दृष्टिसे समझना चाहे तो हठधर्मी का मार्ग पकड़ लेता है। उत्तम ज्ञान उत्तम पात्र के विना किसी कुपात्र (अविनीत) को दिया जाय तो अतिचार दोष लगने की सभावना है। इसे व्यक्तिगत न देकर सभा में अर्पण किया जासकता है इस प्रकार से वह अतिचार दोष मे भी परिणत नहीं होता। सभा मे शास्त्रकार वध-बन्धन का जिक्र न करे तो व्याख्यान ही वन्द हो जाय आत्म हित का ज्ञान अपात्र, अविनीत को व्यक्तिगत देने पर दोष लगता है, और सभा-समुदाय में पात्र ही ग्रहण करता है अपात्र नहीं, वे अपात्र (दोष युक्त) चार अवगुणधारी नाम इस प्रकार हैं।

(१) जो क्रोध में लाल पीला हो रहा हो,
(२) मन मे द्वेष रखता हो, (द्वेष काल कूट विष के समान है)
(३) देश-जाति और कुटुम्ब में द्वेष फैलाता हो,
(४) सारग्राहिता का अत्यन्त अभाव हो,

इस प्रकार के अविनीत को व्यक्तिगत शास्त्र वाचन न कराये, जिस तरह सांप को दूध पिलाने से विष होता है इसी तरह कुपात्र को मीठे दूध के समान शास्त्रज्ञान विषरूप हो जाता है। वह कदाचित् शास्त्रपारंगत भी हो जाय तब भी उसमें अमुक न्याय को पकड़ कर वाद-विवाद उत्पन्न किये विना न मानेगा।

(१) क्रोध नरक की भेंट के समान है, इसके द्वारा ही जीव नरक मे जाता है, अतः क्रोधी को शास्त्रज्ञान न देना चाहिये।

(२) विकृत पदार्थ के लोभीको भी न पढ़ाया जाय कारण विकृत पदार्थ उन्माद पैदा करता है। विकारशील होकर शास्त्र को कुल्हाड़ा मारता है। उलटा अर्थ का अनर्थ करता है। विकृत पदार्थ एक प्रकार का प्रतिबंध लग जाता है। जिसे अफीम-चाय आदि का बंधन लगा हो उसका उसके विना निर्वाह नहीं चलता। उसकी रट उसका ध्यान मात्र उसका व्यसन ही रहता है। उसे यह निश्चय नहीं आता कि उस वस्तुके विना वह जीवित भी रह सकेगा या नहीं? उसे यह विश्वास होना कठिन है कि आत्मा के विना अन्य सब निरुपयोगी हैं।

चाय-अचार-पापड़ आदि के विना ग्रास कैसे उतर सकेगा यों अनेक वस्तुओं के प्रतिबध मे कितना थनथनाट चढ़ता है। 'इन्हें छोड़दें तो जीवित नहीं रह सकते' इसका पक्ष लेकर मक्खन चुपड़ने वाले जगत्मे अनेकशः व्यक्ति हैं, उन्हें फिर लोग धर्मवीर-धर्मस्तंभ कहने मे विलंब भी नहीं होने देते। आत्मा के अतिरिक्त जिसे संसार न चाहिये उसे वाचना देना श्रेष्ठ और योग्य है परन्तु प्रतिबंध वाले को तो कांपना पड़ेगा और कहता फिरेगा कि 'अमुक नहीं' 'अमुक नहीं' 'अमुक वस्तु नहीं' इत्यादि त्याग की बातें सदा ही किया करते हैं। तब क्या तुम जहां खड़े हो वहां

ही सुख है ? जैसे एक मनुष्य बीमार है उसके लिये किसी ने चिरायता बताया, किसी ने तीन तोले कड़वी कुटकी बतलाई, उनमें से किसी हितैषी सज्जन ने घी में तर सूजी का हलवा खिलाना बताया। आहा ! खाने की सलाह में हलवे की बात भला चिर रोगी को क्यों न भली मालूम देगी। तब एक कहता है कि भाई ! हलवा तो तेरी मौत का पाठ पढ़ता है। मृत्यु दूर होगी तो समीप मे आने की संभावना होगी। इसी प्रकार से दुनिया की मुंह लगी मीठी बातें लोगों को सुनते समय प्रिय और अनुकूल पड़ती हैं परन्तु ये बातें तो चार गति मे रुलाने वाली हैं, तब वीतराग ऐसी बात क्यों कहने लगे। उन्हें माखन चुपड़ने से क्या प्रयोजन है ? वे तो कटुक सत्य बोलते है। मीठी और चिकनी चुपडी बातें कहने वाले कुसाधु होते हैं। वे मौत के दूर होने पर भी समीप मे करने वाले हलुवे जैसे हैं। श्रोताओं के पास यदि वक्ता किसी वस्तु को चाह से मांगे या मात्र प्रतिष्ठा या लक्ष्मी की अभिलाषा करे तो उसे वक्ता न कह कर भिखारी कहा जा सकता है और यह निश्चय समझें कि उसके द्वारा वक्ता का पद नीचा हो गया। तथा सुनने वाला श्रोता पद मे उन्नत होकर बढ़ गया। तो भी वह वक्ता ज्ञान का दाता कहलाता है। देते हुये किसी प्रकार की इच्छा रक्खे तो उसका पद लेने वाले की दृष्टि से नीचा और देने वाले का पद ऊंचा है। प्रशंसा या मानकी अभिलाषा उत्पन्न होने पर दाता और वक्ता दोनों ही भिखारी समझे जायेंगे। कारण उनकी इच्छा मे प्रशंसा की भीख (वृत्ति) है। आहार लाने के समय दाता का पद ऊंचा माना है तथा आहार लेने वाला व्यावहारिक दृष्टि मे नीचा है परन्तु भिखारी की भांति आहार लेते समय यदि निस्पृह हैं तब तो साधु महाराज जगत् से ऊंचे है। क्योंकि जगत् के

न महत्व प्रतिष्ठा की इच्छा किये विना जिसे हित का पथ मिला है उसी की प्रभावना के प्रवन्ध से वह पात्रता चुनेगा तथा न देने वाला पायगा न लेने वाला कुछ पायगा, अतः विकृत पदार्थ खाने के रसिक को शास्त्र वाचना न दे। वीतराग अखिल विश्वके संयोगों को उखाड़ कर नष्ट कर डालने के लिये कहा करते हैं इसीलिये सिद्धान्तकार कहते हैं कि साधु मे प्रतिवन्ध न हो। मायावी वक्र-कुटिल प्रकृति का पुरुप सव कुछ उलटा ही उलटा समझता है तव उसे शास्त्र पढ़ाने से क्या लाभ मिलेगा। इसके अतिरिक्त क्रोधी-मानी-मायावी और लोभी इन चारों को भी शास्त्रका पाठ न देना चाहिये। मगर यहां कषाय रहित चित्त शास्त्रों का इस विधि से तत्व-रहस्य पा चुका है।

गहियट्ठे

शास्त्र के अर्थ का सम्यक् रीति से ग्रहण किया है। सूत्र और अर्थ दोनों का पार पा-लिया है। इन दोनों मे किसी प्रकार की शंका का (उद्भव) संकेत होने पर—

पुच्छियट्ठे

वह यह पूछेगा कि भगवन्! अविकारी और निरंजन पुरुष मे विकार क्यों कर आजाता है। तत्व विषय इस भांति युक्ति द्वारा पूछ कर निर्णय करता है।

विणीयट्ठे

तत्व का निश्चय विशेष निर्णय द्वारा किया है, हड्डीकी मींग में भी धर्मका रंग ही समाया हुआ है विशेषता पूर्वक कहा जाता है कि आत्मा के गुणों को छोड़ कर और रंग में नहीं है। ज्ञान-श्रद्धा

और चरित्र का रंग इतना अधिक है कि निरन्तर धर्म के प्रेम में अनुरक्त है। चित्तप्रधान जब कभी घरबार या राज्य के कामों से निवटता है तब घर मे भी धार्मिक बातों को छोड़ कर और कोई बात नहीं कहता। प्रसंग छिड़ने पर धर्म की बात ही आरंभ करता है और कहता है कि हे आयुष्मन्तो! प्रेमियो! जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन राग-द्वेष रहित दशा से निकलते हैं अपने लिये वे ही प्रयोजन-भूत हैं। इस प्रकार धर्म विचार धर्मगोष्ठी करता है। आत्मज्ञान आत्मदर्शन और आत्मस्वभाव के प्रकाश की बातें, सब जगत् मे वीतरागी-सिद्धान्त और वीतरागी-प्रवचन परम अर्थ रूप है। अब तक पूर्ण पुरुषार्थ प्रगट नहीं हुआ था इसी से जगत् की प्रवृत्तिओ से छुटकारा नहीं मिलता परन्तु श्रद्धा आत्मा के वीतराग भाव को पहचानने के लिये है। इस के अतिरिक्त सब जगत् अनर्थ का कारण है, वह संसार के समस्त कार्य करता अवश्य है पर आसक्ति मंद है।

बहुत से यह भी कहते है कि बनायें तो सब कुछ बनायें न बने तो थोडा सा भी न बने, मगर सर्वप्रथम भावना ही यदि न हो तो क्या बनेगा। त्याग भावना तो हुई पर वहां पूर्ण त्याग नहीं जिसमे कि मात्र एक समय लगता है। पर त्याग करते समय अब तक भावना न आई हो वहां पूर्ण त्याग क्योंकर हो सकता है अर्थात् जो यह समझता है कि सम्पूर्ण त्याग अक्रम है परन्तु त्याग का क्रम कभी पड नहीं सकता यह अज्ञान-मान्यता है। कारण त्याग के अक्रम मे त्याग की भावना त्याग का लक्ष्य और उसका सामान्य ध्येय उसी समय उड़ जाता है। अतः इसका कुछ क्रम भी अवश्य है। क्योंकि अक्रम मे साध्य का साधन उड़ जाता है। त्याग मे मीठापन (प्रेम) आए विना-उसका मूल्य और आवश्यकता जाने

विना त्याग-का अवसर प्राप्त नहीं होता। आवश्यकता और मौलिकता ये दोनों त्याग की पहली पेंडी है। तत्र त्याग दूसरी सीढ़ी है। श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही त्याग का उदय आत्मा मे होना है। संसार त्याज्य वस्तु है और आत्मा उपादेय वस्तु है एवं इस निर्णय मे भी त्याग का तत्व समाया हुआ है।

त्याग मे क्रम भी होता है और वह कितना होता है ? यह मर्यादा नही। पूर्ण त्याग की भावना अमुक अंश मे पूर्णता के सन्मुख हो कर त्यागतत्व की भावना का अनुभव करा देती है। थोड़ी सी क्रिया मे थोडा सा समय लगाकर यदि त्याग कर सके तो स्थूलक्रियाओं को भली भॉति छोड़ सकता है। इस देह के संयम के लिये थोड़ा सा समय लगाकर भी यदि धर्मसाधन कर सके तो राज्यतन्त्र के अधिकाधिक कार्यों मे भी वह हो सकता है और उस के सब कार्यों मे किसी प्रकार की वाधा भी नहीं पड़ सकती।

अणट्ठे

प्रयोजन रहित है, निस्पृह जीवन को स्थिर करने के साधन जुटाने मे निरन्तर उद्यम करता है, धर्म की सच्ची प्रभावना करता रहता है; सत्य है ज्ञानी पुरुष घर मे भी पुनः पुनः प्रभावना करते रहते है, [लेकिन अब तो लोग उपाश्रय मे आकर आपस में एक दूसरे की निन्दा करते पाए जाते है, कुछ ही उनमें ज्ञान चर्चा के अभ्यासी होते है। परन्तु जिसे ज्ञानात्मा के विकास करने का उत्साह है वह उसी प्रसंग को छेड़ेगा परनिन्दा विकथा करनेवाले घर जाते समय इस प्रकार के कलुषित विचार से आत्म लाभ नहीं ले सकते बल्कि घाटे मे ही रहेंगे, क्योंकि उनका जीवन प्रयोजन रहित नहीं है। परन्तु मुमुक्षु का लक्ष्य संसार की प्रयोजन भूत

वार्ताओं के होते हुए भी आत्मा के हित की ओर ही रहता है।] अष्टमी चतुर्दशी पाक्षिक तथा कल्याणक तिथि मे राज्य के कार्य भार से निवृत्त होकर चित्त प्रधान प्रौषधोपवास भी करता है, एक दिन रात प्रमाण काल मे आत्मा को समभाव (आत्म भाव) मे लगाने को पौषधोपवास कहते है। वह महीने मे छः उपवास करता है। अपनी दशा के जागृत काल में रागद्वेष रहित शक्ति का भान होने पर उसके पाने के प्रयास जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार है।

जघन्य सामायिक

आत्मा के पूर्ण विकास और समभाव की सबसे छोटी साधना (सयम) का नाम सामायिक है। शांति क्षमा निर्मलता आदि आत्मा के रस मय सम स्वभाव के श्रेष्ठ गुणो को उतने समय तक प्रगट करे तो उस समय मे चाहे रहने का मकान भी जल कर स्वाहा क्यों न हो जाय परन्तु समता भाव से न डिगने पावे।

मध्यम परीक्षा

जिस साधना के द्वारा जड़ और चेतन के भाव को समझा जाता है, उसके लिये जगत् मे कुछ भी बुरा या अच्छा नहीं रह जाता अर्थात उसका न कोई शत्रु है न मित्र। क्योंकि अच्छा या बुरा समता भाव की खुमारी मे ओत प्रोत हो कर दृष्टि भी किसे जाय ? इस प्रकार यह मध्यम प्रयास है।

उत्कृष्ट परीक्षा

मृत्यु के समय समाधि भाव मे अखिल विश्व के ऐश्वर्य का मोह छोड कर देह आदि भौतिक पदार्थों से अपना लक्ष्य हटा

कर आत्मा में आत्मा को आत्म भाव से समझा जाय। यह अन्तिम परीक्षा भी सब से बडी है। × × × यह राजा का प्रधान है, सात हजार ग्रामों के कार्यभार को अपने कन्धों पर संभाल रक्खा है फिर भी धार्मिक काल मे समय का सदुपयोग पूर्ण रूप से करता है। लेकिन आज कल तो साधारण मनुष्यों को थोड़े समय के लिये भी अवकाश नहीं मिलता। तथापि आत्मा मे निश्शंकता का जो स्वभाव है वह कहां जा सकता है। उसे समझने के लिये गर्म पानी का उदाहरण ठीक जॅचेगा। पानी मे आग को बुझाने की शक्ति है। अग्नि के ऊपर रहा हुआ पानी गर्म चाहे अधिकाधिक हो सकता है परन्तु आग के द्वारा पानी की शीतल शक्ति सर्वथा नाश नहीं हो सकती चाहे वह कितना भी गर्म क्यों न हो जाय, वह मात्र खौलता व चक्कर ही खाता है। इसी प्रकार संसार मे चक्कर खाना सुगम है कठिन नहीं है। × × × राजा रंक धनी निर्धन धर्म का साधन सब ही करते हैं, धर्म का किसी ने कुछ ठेका नहीं ले लिया है। जो वैरी पर प्रहार करसके उसीकी तलवार, जो भी जागृत हो सके उसीके लिये आत्म शक्ति को विकसित करने का मार्ग तैयार है। × × चित्त इसी के आधार पर सरल हुआ है, यही कारण है कि परिपूर्ण प्रौषधोपवास करता है बड़े सवेरे उठता है, संसार के अन्य किसी भी काम को नहीं छूता, सीधा प्रौषधशाला मे जाकर सामायिक करता है और कथित दिनोंमे प्रौषध करता है परन्तु आज कल के लोग तो घरके सब कामोंसे निबटकर उपाश्रय मे १० बजे आकर कहते है कि गुरु देव ! अब प्रौषध कराइये, इतना करे तब भी कोई हानि नहीं है परन्तु आगे बढ़ने के लिये प्रस्तुत रहे तब न ! यह चित्त प्रधान तो परिपूर्ण प्रौषध करने वालों मे से है।

इसका अन्तर स्फटिक रत्न के समान निर्मल है, कुटिलता की भावना नाम मात्र को भी नहीं आने देता। अपने आत्मा के आंशिक दोष का तुरन्त प्रायश्चित्त लेता है तथा अपने घर का द्वार भी खुला रखता है।

अभग्न द्वार

जिसने संसार और लक्ष्मी को त्यागने योग्य समझा हो वह सब प्रकार के अनुकूल साधनों से सदैव तैयार रहता है। किसी दुःखित का कष्ट निवारण करने के लिये अथवा प्राणी मात्र के सुख के अर्थ अपने गृह द्वारों को खुला रखता है। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह इसके घर जाकर बेधडक ले आवे। इसके अतिरिक्त एक मुख्य कारण यह भी है कि सुपात्र को दान देने के लिये वह अपने घर का प्रवेश द्वार खुला रखता है। यदि घर का द्वार बंद कर बैठा हो और भावना का आन्दोलन (विचार) करे तो क्या उसके घर में साधु सीढ़ी लगा कर आयेंगे? × अतः यह घर के द्वार खुले रखता है। द्वार खुला होगा तो उसे कुत्सित भावना बंद करने की सूझ न होगी। इसके साथ ही लोगों का इस पर विश्वास भी पूरा है।

यह बिना कहे यदि किसी के घर में घुस जाय तो भी सबको प्रतीति है, चाहे राजमहल में भी क्यों न चला जाय। पर किसी को इस पर सफेदी जितना भी वहम न होगा। इतनी प्रतीति तो बाहर से अपने सच्चरित्र द्वारा प्राप्त कर ली है, विशेष क्या कहा जाय लोग इसे साक्षात् धर्म की प्रतिमूर्ति कहने लगे हैं। कई बार रात में कोई आवश्यक कार्य पड़ जाता है जिस से

मध्यरात मे अन्तःपुर मे घूमने चला जाता है परन्तु राज-रानी तो इसकी दृष्टि से माता के समान है। राजा स्वयं इसका विश्वास रखता है। संसार के अविश्वस्त हृदयों पर जिसने इतना अधिक विश्वास पाया हो वह धर्ममूर्ति है। इसका मुँह-इसकी चाल ढाल-तथा चेष्टा देख कर औरों को प्रतीति आजाती है। यह प्रधान इतना अधिक उच्चकोटि का विश्वास पात्र है।

इति विंशतितमोऽध्यायः

इति पूर्वार्धः

अथोत्तरार्धे प्रथमोऽध्याय

गृहस्थाश्रम मे पूरा धर्मांग नही निभाया जा सकता, सर्वथा त्याग किये विना (जब तक जड की उपासना-जड़ पदर्थका संयोग है तब तक) चैतन्य की सत्ता प्रगट नहीं होती । जहा तक यह न्याय घटित न हुआ हो वहा तक चैतन्य गुणकी जागृति नही है । ममता भाव से जब तक जडके साथ संयोग है तब तक आत्मा अपनी विद्यमानतामे नहीं टिक सकता इस भांति इसका पर्यायार्थिक अर्थ होता है परन्तु आत्मा अपने लिये स्वयं तत्वरूप है अत गहरे संबध मे रहकर भी वह अपने आप निज गुणमे स्थित है। सिद्धान्तकार कहते हैं कि चित्त संसार मे रहता है, जडके सह क्षेत्र मे है, तब भी वह राग-द्वेष के भावों को मिटा कर त्याग भाव को भले प्रकार निभा रहा है । ठीक तो है वह आवरण अनित्य है यदि यह राग द्वेषका आवरण सर्वदा स्थायी रूप मे टाले रहे तो चैतन्य का अस्तित्व ही न रह पावे मगर उस का एक गुण भी सर्वथा नष्ट नही होता। न सर्वथा आवरण ही आ कर रहता, क्योंकि सर्वथा आवरण आ जाय तो विद्यमानता ही चली जायगी, पर अपनी स्वाभाविक शक्ति को निर्मल बनाकर

उस उजला रूप देनेके अर्थ क्रम से गृहाश्रम मे भी विशेपाविक तैयारी कर सकता हूं। गृहाश्रममे एकान्त मोक्ष मानने वाला मिथ्यात्वी है। थोड़े से त्याग मे सहसा मोक्ष मान लें तो वह त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। इसके संवंधमे सूयगडांग सूत्र के नववें अध्याय का दृष्टान्त दिया जाचुका है, उस न्याय से धर्मको आंशिक रूपमे पालने वाला भी किस प्रकार का होना चाहिये यह स्वयं समझा जासकता है। जहां तक मेरा गृहस्थाश्रम है वहां तक आत्मा का पूर्णस्वभाव प्रगट होना तथा केवल ज्ञानरूपी टापू का दर्शन न पाना कठिन है जिसका जीवन धर्ममय है वही सब भाँति से उसे ठीक देख सकता है। आंशिक रूपमे धर्मको पालन करने वाला तो यही जानता है कि ससार भाव मे रह कर पूर्ण स्वभाव (केवलज्ञान) को प्रगट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की मान्यता रखनेवाला ही आत्मधर्म की ओर लक्ष्य रखनेवाला माना जा सकता है।

गृहाश्रमके भावमें पूर्णपद प्रगट नहीं होता, इस तहको पहुंचने वाले वीर पुरुष क्रम पूर्वक संसारके वंधनको काटकर मुक्त होते हैं। गृहाश्रमका पापमय जीवन उन्हें अवाञ्छनीय है। वे जितनी कक्षाका त्याग करते हैं उतनेको ही धर्म कमाया जानते है। धार्मिक जीवन विताने वाले ज्ञानी जन संसारका असंयमी जीवन पसंद नही करते। संयमकी पूर्णता होने पर ही प्रगट पूर्णता मानते हैं। चित्त प्रधान ने उसी धर्म को प्राप्त किया है, उसका जीवन शरदऋतु के चाँदकी तरह सम और स्वच्छ है। उसके घरका प्रवेशद्वार भी खुला रहता है। इस प्रसंगमें यह भी निश्चय है कि उस के यहां कोई भी आकर कुछ भी ले जाय तब भी उसका व्रत भंग होने वाला नही है। अभंगका यह भी एक अर्थ है। इसके यहां दुःखी

को १ -आने आश्रय (आश्वासन) मिलता है जिसे जो आवश्यकता हो यह उसके यहां गुप्तरीतिसे भी पहुँचा देता है। इस प्रकार यह दुःखितों पर अनुकम्पा तथा सुपात्र जनोंकी भक्ति करने मे दिन रात लवलीन रहता है।

इसमे दाताके गुणोंका विकास होगयाहै। इस दृष्टिसे वह सब कुछ खुला ही रखता है। जगत् भर के कुतार्किक इसके प्राप्त मार्ग मे वाद-विवाद करने आ जायें और चर्चा या शास्त्रार्थ करे तब भी उसके द्वार खुले ही रहते हैं। ऐसों को उभय-नय पक्ष के कपपट्टक द्वारा समझाकर सत्यकी स्थापना करने के अर्थ अपने उदार विचार खुले रखता है। पौषध करते समय भी द्वारको बंद नहीं करता। सुपात्र सन्तों के आगमन के समय अधिकाश अपना प्रवेश द्वार खुला ही रखता है। इसी कारण इसकी राजालोग भी प्रतीति करते हैं। पराये घरमे प्रवेश करते समय इसपर किसीको आशका या सदेह नही होता। इसके साथ ही यह बात भी है कि यह स्वयं भी विश्वासपात्र के घर पर ही जाता है, जहां अप्रतीति की संभावना भी हो तो उसके घर फटकता तक नही।

महावीरकी आज्ञा

भगवान् महावीर प्रभु ने मुनिओं के लिये भी फर्माया है कि जिस किसी गृहस्थ (भाई) की प्रतीति नहीं है हे साधो ! उस स्थान पर गोचरी (भिक्षा) के लिये भूलकर भी न जाना। इसी प्रकार बहनोंको पुरुष सिर जानना चाहिये। जो आदमी निकृष्ट अप्रतीतिकर है अपनी जात तक न पहचान सकता हो ऐसे वेशर्म कुल मर्यादा और [illegible] से रहित के घर मे हे ब्रह्मचारिन् ! कभी प्रवेश न कर। अप्रतीतके स्थान मे न जाने का, क्या

उस उजला रूप देनेके अर्थ क्रम से गृहाश्रम मे भी विशेपाविक तैयारी कर सकता है। गृहाश्रम मे एकान्त मोक्ष मानने वाला मिथ्यात्वी है। थोड़े से त्याग मे सहसा मोक्ष मान ले तो वह त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। इसके संबंधमे सूयगडांग सूत्र के नववें अध्याय का दृष्टान्त दिया जाचुका है, उस न्याय से धर्मको आंशिक रूपमें पालने वाला भी किस प्रकार का होना चाहिये यह स्वयं समझा जासकता है। जहां तक मेरा गृहस्थाश्रम है वहां तक आत्मा का पूर्णस्वभाव प्रगट होना तथा केवल ज्ञानरूपी टापू का दर्शन न पाना कठिन है जिसका जीवन धर्ममय है वही सब भाँति से उसे ठीक देख सकता है। आंशिक रूपमे धर्मको पालन करने वाला तो यही जानता है कि ससार भाव मे रह कर पूर्ण स्वभाव (केवलज्ञान) को प्रगट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की मान्यता रखनेवाला ही आत्मधर्म की ओर लक्ष्य रखनेवाला माना जा सकता है।

गृहाश्रमके भावमें पूर्णपद प्रगट नहीं होता, इस तहको पहुंचने वाले वीर पुरुष क्रम पूर्वक संसारके बंधनको काटकर मुक्त होते हैं। गृहाश्रमका पापमय जीवन उन्हें अवाञ्छनीय है। वे जितनी कक्षाका त्याग करते हैं उतनेको ही धर्म कमाया जानते है। धार्मिक जीवन बिताने वाले ज्ञानी जन संसारका असंयमी जीवन पसंद नहीं करते। संयमकी पूर्णता होने पर ही प्रगट पूर्णता मानते हैं। चित्त प्रधान ने उसी धर्म को प्राप्त किया है, उसका जीवन शरदऋतु के चॉदकी तरह सम और स्वच्छ है। उसके घरका प्रवेशद्वार भी खुला रहता है। इस प्रसंगमें यह भी निश्चय है कि उस के यहां कोई भी आकर कुछ भी ले जाय तब भी उसका व्रत भंग होने वाला नही है। अभंगका यह भी एक अथ है। इसके यहां दुःखी

को १ -आने आश्रय (आश्वासन) मिलता है जिसे जो आवश्यकता हो यह उसके यहां गुप्तरीतिसे भी पहुँचा देता है। इस प्रकार यह दुःखितों पर अनुकम्पा तथा सुपात्र जनोंकी भक्ति करने मे दिन रात लवलीन रहता है।

इसमें दाताके गुणोंका विकास होगयाहै। इस दृष्टिसे वह सब कुछ खुला ही रखता है। जगत् भर के कुतार्किक इसके प्राप्त मार्ग मे वाद-विवाद करने आ जायें और चर्चा या शास्त्रार्थ करे तब भी उसके द्वार खुले ही रहते हैं। ऐसों को उभय-नय पक्ष के कषपट्टक द्वारा समझाकर सत्यकी स्थापना करने के अर्थ अपने उदार विचार खुले रखता है। पौषध करते समय भी द्वारको बंद नहीं करता। सुपात्र सन्तों के आगमन के समय अधिकाश अपना प्रवेश द्वार खुला ही रखता है। इसी कारण इसकी राजालोग भी प्रतीति करते हैं। पराये घरमे प्रवेश करते समय इसपर किसीको आशंका या सदेह नही होता। इसके साथ ही यह बात भी है कि यह स्वयं भी विश्वासपात्र के घर पर ही जाता है, जहां अप्रतीति की संभावना भी हो तो उसके घर फटकता तक नहीं।

महावीरकी आज्ञा

भगवान् महावीर प्रभु ने मुनिओं के लिये भी फर्माया है कि जिस किसी गृहस्था (बाई) की प्रतीति नहीं है हे साधो! उस स्त्रीके घर गोचरी (भिक्षा) के लिये भूलकर भी न जाना। इसी प्रकार बहनोंको पुरुषके लिये जानना चाहिये। जो आदमी बिल्कुल अप्रतीतिकर है अपनी खाट तक न पहचान सकता हो ऐसे बेशर्म कुल मर्यादा और धर्मसीमा से रहित के घर मे हे ब्रह्मचारिन्! कभी प्रवेश न कर। अप्रतीतके स्थान मे न जाने का क्या

अत्याचार हो जाय अथवा कोई मिथ्या कलंक ही लगादे। अतः साधु भी अविश्वस्त मनुष्य के घर नहीं जाता। इसका सरल अर्थ यह भी है कि रातके १२ बजे हों रानी के महल मे प्रवेश करना है तो भी कुंडा खोलकर उसके रनवासमे प्रवेश करता है। इतना कुछ कर गुजरने पर भी उसकी प्रतीति है क्योंकि उसके लिये खुला (अभग्न) द्वार है।

यों ऊपर वाले तीनों शब्दों का अर्थ सुगम है, उसका एक बार के साधु सहवास मे आने से इस प्रकार विवेकपूर्ण जीवन होगया है। इसका प्रतीति युक्त विचार और ध्यान औरों के लिये भी आदर्श रूप हो सकता है जिससे अपने आत्मा को भी लाभ मिलता है तथा धर्म प्रभावना का कारण तो बनता ही है। वह अच्छेर सन्तपुरुषों को अन्न-पानी-वस्त्र-पात्र-काष्ठ शय्या-औषध-भेषज-शय्या संस्तारक आदि वस्तुएँ देकर अपने को धन्य मानता है। उसकी निरन्तर यही भावना रहती है कि मेरे आत्मा का बर्ताव सदा धार्मिक ही रहे। इसके अतिरिक्त इसमे बहुत ही अच्छे आचरण पाये जाते हैं। जैसे स्वभाव तो मानो मक्खन की तरह बड़ा ही नर्म है, साधारण बालक के लिये भी असह्य नही है, बात-चीत लेन-देन-आना-जाना सब के साथ हित के कारण से रखता है। पाप की निवृत्ति करने मे सदैव तत्पर है। चित्त प्रधान सामायिक उपवास और पोषध के साधन द्वारा अपने आत्मा को समभाव में प्रविष्ट करके सहज-आनन्द में विचरता है।

वह जितशत्रु राजा के साथ राज्य-कार्य सम्बन्धी नीति के अनुसार परामर्श करता रहता है। एक बार जितशत्रु राजा ने यह कहा कि प्रधान! परदेशी राजा के लिये भेट तैयार है जिसे लेकर अपने देश को लौट जाइये, परदेशी से मेरा पिता-पुत्र का सा

संबन्ध है, हम दोनोंकी मैत्री आपसमें दूहदकी दालकी सी घुट गई है। यह भेट परदेशी को अर्पित करना और मेरा प्रणाम भी कहना × × × चित्त मे से पर्दे हटने पर ही केवलज्ञान होता है, अनादि कालीन आत्मा का स्वभाव स्पष्ट और उज्वल होता है तब चित्त के द्वारा त्याग-वैराग्य के रूप मे आकर बढ़ते बढ़ते पूरा बढ़ जाता है। जब चित्त मे त्याग और वैराग्य की भावना का उद्भव होता है तब ही आत्मा का निर्लेप भाव सहाय भूत होता है। जितशत्रु परदेशी के लिये भेट देकर सहायक भूत होता है + + + जित-शत्रु द्वारा प्राप्त भेट अपने डेरे मे रख कर केशीमुनि की सेवा मे कुछ विनती करने आया।

चित्त की प्रार्थना

गुरुदेव की सेवा मे उपस्थित होकर बोला कि प्रभो! श्वेताम्बि का नगर पधारने की कृपा करें। जितशत्रु ने मुझे वहा वापिस जाने की आज्ञा दे दी है। भगवन् मैं अब जाऊंगा। देव! यदि आप भी पधारने की कृपा करें तो क्या ही अच्छा हो! वह नगर दर्शनीय तथा मनोहर है। प्रतिविम्बित होकर चमकने वाले तो वहा के मकान हैं। अत्यन्त शोभित और सुंदर हैं। राजमार्ग (सडक) चौड़े सीधे और सरल है, विशेष क्या कहा जाय भगवन् वहा की शोभा देखते ही वनती है, गुरो! आप भी अवश्य पधारिये! + + इसने अब तक नगर की सुन्दरता का बखान किया किन्तु राजा के सवंध मे अभी कुछ नहीं कहा है, क्योंकि वह तो अधर्मी है।

इतने पर भी केशी मुनि ने उसके वचनों का उचित आदर नहीं किया और न अपने शरीर की किसी चेष्टा से ही यह प्रगट

किया कि वे उसे अच्छा भी समझते हैं।

चित्तने साहसपूर्वक दूसरी वार प्रार्थना की, तब भी मुनिराज की ओर से कोई उत्तर न मिला क्योंकि केशीस्वामी चतुर्विध ज्ञान के धारक हैं अतः इसका स्पष्ट भान है कि उन्हें वहां जाना है जिसके द्वारा परदेशी जैसे संशयाकुल को धार्मिक होना है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से वे कुछ न बोले। किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि वहां का राजा तो अधर्मी है फिर गुरुदेव ने वहां की विनती क्यों स्वीकार करली। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष व्यवहार को भी देखते हैं नहीं तो समझ गये होंगे कि थोड़े लाभ की अपेक्षा अधिक लाभ का कारण ज्ञानी न सेवें? यह कहां का विवेक है। इन्हें अन्तर में लाभ का कारण स्पष्ट जान पड़ा है।

वह कहता है कि प्रभो! हमारे लाभ के लिये पधारियेगा, उस ने यह न कहा कि प्रभो! वहां पधारें आपको लाभ होगा, ठीक भी है क्योंकि बुद्धिमान् श्रावक द्वारा यह नहीं कहा जाता। व्यवहार मे बाधा न पड़े और बुरा भी न लगे ऐसे ढंग को काम मे लेकर उसने यह भी समझा है कि राजा अधर्मी है शायद महाराज इसी कारण से नहीं बोलते। परन्तु तीसरी बार की विनती पर मुनि यह उत्तर प्रदान करते हैं कि—

हे चित्त! तुमने आमन्त्रण तो की है पर एक दृष्टान्त सुनो? "एक जंगल बहुत बड़ा है, अनेक भांतिकी वनस्पतियें फल फूलों से लदी हैं। बेल और बूटे अपूर्व शोभा दे रहे हैं, जिस की छटा देखते ही बनती है। पशु-पक्षी और मनुष्य सब उस मे आनद और किलोल करते है परन्तु चित्त! उस वनमे भील की तरह के म्लेच्छ और हिंसक-घातकी मनुष्य धनुष बाण लेकर

आ बसे हैं और अनेक जीवोंको मारते हैं, तब क्या मृग-पशु पक्षी और मनुष्यादि प्राणी उस वन मे निवास कर सकते हैं।

"प्रभो ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् आपके योग्य नहीं है, यह चित्तने कहा।

मुनि—जब दर्शनीय स्थान है तब जानेके योग्य क्यों नहीं।

चित्त—वहां जानेवाले के लिये उपसर्गका कारण है।

मुनि—यह उदाहरण उस नगर पर भी घटता है क्योंकि वहां का राजा अधर्मी और क्रूर है। यद्यपि उस नगर मे अवश्य जाना चाहिये परन्तु नगर उपद्रव रूप है, क्योंकि राजाके हाथ हर समय खूनमे सने रहते हैं, वह अधमिओं मे ध्वजा के समान है, अपनी प्रजाको भी कम सुखी रखता है, जिसपर कि उसका निर्वाह निर्भर है। जबकि वह अपनी प्रजा को भी प्रेमकी निगाहसे नहीं देखता तब श्वेताम्बिकामे जाने से हमें क्या लाभ।

चित्त प्रभो ! आपका परदेशीसे क्या प्रयोजन है, यद्यपि सन्तों को देहतक की पर्वाहभी नहीं तो भी अन्य जीवोंके हितार्थ व्यवहार का भी ध्यान रखते हैं। साथही यह बात लोग भी जानते हैं कि धर्म तत्व के रहस्यको समझानेके लिय ही मुनिओंका भ्रमण जहाँ तहाँ होता है पर अपने धर्मका पालन करने के लिये भी तो फिरते हैं। साधारण लोग यह और समझते हैं कि मुनिवर्ग धार्मिक जीवन बितानेके लिये हैं, वे विश्वका कल्याण करने के हेतु निकले हैं। साथ ही परोपकार के अनेक स्थान होते हैं तब भला वे वहां क्यों न जाये मगर उनका इस ओर विशेष ध्यान है कि किसी विपरीत देश कालमे उनका अपना धार्मिक जीवन न बदल जाय। इसके अनन्तर वे औरोंका भी हित ही करते रहते हैं। जैसे नदियाँ

जाती तो समुद्र मे है परन्तु हजारों मील दोनों किनारों की जमीन को भी सींचती जाती हैं।

अतः महाराज! नगर में बहुत से राजकुमार-माडम्बीय-कौटुम्बीय-सेठ-सेनापति आदि अनेक धार्मिक विचारके लोग रहते हैं, आप अपने इस चित्त प्रधान नामी शिष्यसे तो परिचित ही हैं और आपके द्वारा अभी ही मै धर्म का रहस्य जान पाया हूं। इस के साथ यह विचार भी होता है कि मेरे राजा को धर्मबोध देकर आत्माके निजगुण पानेका आश्रय दें? राजा आपको कुछ न कहेगा, और आपके संयम निर्वाहके लिये आवश्यकतानुसार आहार पानी बहुत मिल सकता है, क्योंकि अनेक धर्मी मनुष्य बसते हैं, वे आपका भक्तिपूर्वक बहुमान सम्मान करेंगे। वन्दना नमस्कार सेवा सुश्रूषा करने वाले अनेक प्रेमी भव्य-भक्त हैं। प्रधानने यह बल पूर्वक कहा है कि प्रभो! विश्वास रक्खें, राजा किसी प्रकारका जोर जुल्म न करेगा क्योंकि मै हूं न! और अन्य लोग भी भक्ति करेंगे। यह दूसरी स्थापना है। अब यदि केशी गुरु पधारें तो साधारण दृष्टिसे लोगों के लिये तर्क-वितर्क करनेका स्थान नहीं रहा।

बहुत से यह कहते हैं कि धर्मोपदेश सुनने जायॅ तो लड़के बिगड़ जायॅगे उनकी यह धारणा उग्ररूप धारण भी कर गई है मगर वे यह नहीं जानते कि व्याख्यान सुनकर तो लड़का चतुर और व्यवहार कुशल हो जाता है। न्याय नीति में निपुणता प्राप्त करता है। सदाचार का सम्पादन करता है अतः माता पिताओं का कर्तव्य है कि अपनी संतान को व्याख्यान के समय उपाश्रयमे अवश्य भेजे। बहुतों का यह मत भी है कि धर्म स्वतन्त्र वस्तु है लड़के अपनी इच्छा से उसमे कुछ रूचि बढ़ायें तो ठीक है, कौन

रोक टोक करता है ? मगर हम उनको धर्म का लाभ देनेके लिये प्रेरित नहीं कर सकते। इस तरह का तर्क उठाकर शास्त्र की कुछ उलटी ही टीका करते हैं, किन्तु औरों को धर्म पथ में लगाने के उदाहरण शास्त्र मे अनेकशः पाये जाते हैं। श्रावक पर परिषह आ कर पड़ा है तब उसकी गृहपत्नी उसे बोध देती है कि स्वामिन्! आपको इस स्थान पर प्रायश्चित करना उचित है, परिषह पड़ने पर वह उसे धर्म मे भी स्थिर करती है। इधर चित्त प्रधान धर्म का सस्कार पा चुका है और उसे यह विचार आया है कि मेरा राजा यदि धर्मक्षेत्रमे (धर्मभाव) मे आजाय तो मेरा बदला उतर जाय। इधर व्यवहार शुद्ध होने पर केशीमुनि बोले कि यथावसर चित्त! विचार किया जायगा। यह सुनते ही आल्हादके साथ उसे पूरा विश्वास होगया कि केशी गुरु अवश्य पधारेंगे। इसके उपरान्त प्रसन्नतासे वन्दना नमस्कार करके वह अपने निवासस्थान (डेरे) पर चला आया एवं अपने चार घोड़े वाले रथ पर आरूढ़ हो कर श्वेताम्बिका नगर की ओर प्रस्थान किया।

चित्तका प्रबन्ध

सावत्थीसे श्वेताम्बिका नगर तक मार्गके मध्यमें पड़नेवाले छोटे मोटे सब ग्रामों एवं नगरों मे जाकर वहाके अधिकारी वर्ग और प्रतिष्ठित नागरिकों तथा जागीरदारोंको यथा क्रम पहलेसे ही अच्छी तरह समझा दिया कि ५०० मुनिराजोंके परिवारके साथ श्रीगुरुदेव केशीस्वामी इस मार्गसे आनेवाले है, वे महान् त्यागी-वैराग्यवान् और सयमी पुरुप हैं। उनका दर्शन बड़ा ही पुण्य-भाग्योदयसे हो सकता है। उनके पधारने पर उन्हें स्थान-आहार-पानी आदि अमुक विधिसे देना, इसके साथ ही धर्मोपदेश भी सुनना महान्

लाभ का कारण होगा । उनकी सब विधिसे सेवा भक्ति करना उनके नाम और गोत्रका स्मरण करलेनेसे भी कल्याण होताहै,नब साक्षात्कारमें व्याख्यानादि श्रवणकरनेसे तो अनन्त कर्मोंकी निर्जरा तथा पुण्यप्राप्ति के विषयमे क्या कहा जाय सब प्रकार से लाभ लेना चूक मत जाना, यह अवसर सुनहरा तथा अद्वितीय है।××

नगर प्रवेश करने से पहले मृगवन मे डेरा किया और वहाँ के सब वनपालकों (मालियों) को वुलाया और ममता भरे शब्दों में यों बोला कि देवानुप्रिय केशीमुनि क्रमसे विचरते विचरते यहाँ पधारेंगे और वे इस उद्यान में आयॅगे उस समय तुम सब मिल कर बड़े अदब से उनकी चरण वन्दना करना तथा उनके योग्य मकान कुश-तृण पाट की निमन्त्रणा करना, उन्हें ले लेने के लिये आज्ञा करना, उनको धान्य की पुराल कुशादिक का आसन देना। इन सब बातों को याद रखना भला।

वनपालक अपने मालिक का आदेश सुनकर वड़े ही सन्तुष्ट हुये। यद्यपि गुरुदेव के आने में अभी विलंब है तथापि उन्हें पहले से ही चेतावनी करा रहा है। क्योंकि उस ने धर्म संस्कार के साथ ही भक्तितत्व को खूब ही जाना है। इस रहस्य को न जानने वाले आज भक्ति को बुरी तरह मिटा रहे हैं। साधुओं के आनेपर यह हो, वह होतो क्रिया लगेगी पाप होगा,इस प्रकार जहां तहाँ निकम्मा पाप घुसेड़ना आरंभ कर दिया 'अमुक कार्य मुझसे न होगा पाप लगता है, इस प्रकार न तो वे भक्ति को ही समझते हैं और न वे आरंभको ही जानते हैं। कारण उन के अन्तर में इस भाँति,स्वार्थ और लोभ की मात्रा समा गई है जिस से उलटे टेढ़े-अर्थ के अनर्थ बना कर भक्ति के स्वत्वको ही उड़ा दिया।

परन्तु चित्त को शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त है जिसे कि केशी महर्षि

ने स्वयं अपने शब्दों मे स्वीकार किया है। पूर्ण भक्ति का लाभ पानेके हेतु सब विधिवाद वनपालकों को समझा दिया कि देखना सब प्रकार की सेवा का अमूल्य लाभ लेना, चित्तकी समझ और उस का सम्यक्त्व कितना दूर तक काम करता है, यह है गृहाश्रम की भक्ति और उल्लास का प्रमोद इतने पर यदि कोई इसके काम मे दोष निकालदे तो इस से बढ़ कर और कौन मिथ्यात्वी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त यह ऐसा इस लिये करता है कि जिस रीति के रंग मे निकला था उसी प्रकार से प्रवेश नहीं करना है। इसे यह सिद्ध कर देना है कि अब मने उस विभाव का परिवर्तन कर दिया है। नगर प्रवेश से पहले ही यह कहता है कि मेरे गुरु महान् सामर्थ्यशाली हैं, उन्हें जिस वस्तु की आवश्यकता हो वही अर्पण करना।

वनपालक-(मन ही मन) यह क्या होगया, धर्म क्या है? कौन गुरु है? इन्हें आज प्रधान की सब बातों मे आश्चर्य प्रतीत होने लगा। क्या बात हुई एकदम रंग ही बदल गया, [यहां आज कल आरंभ २ कह कर भक्ति के भाव को निरर्थक पक्षी की तरह एक दम उड़ा रहे हैं। त्याग की अपेक्षा लडके का विवाह संबंधी प्रसंग कितना प्यारा लगता है। उसे विवाहित करा कर चार गति मे रुलने के लिये मारा२ फिरने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है जिस के आरंभ-समारंभ की कोई सीमा नहीं है परन्तु महापुरुषों की भक्ति द्वारा आरंभ हो जाने का वज्रपात के समान उसे बडा भय है। अब आप ही कहिये कि उस में विनय गुण कहा रह गया है? धर्म और धर्मगुरु की प्रतिष्ठा बढ़ाना उसे कितना उचित और आवश्यक प्रतीत होता है? इतना ही नहीं बल्कि अर्थ का अनर्थ तक कर

डालता है। लड़के के विवाह मंडप की शोभा को बढ़ाने में आरंभ समारंभ का इसे तनिक भय नहीं, उसके तो विज्ञापन तक बँटवाता है। इस प्रकार का अंधकार भरा पड़ा हो तो आधुनिक जीवों को धार्मिक विवेक और भक्ति का पता क्यों कर लग सके, विशेष में उसे धर्म पालन का अधिकार भी कहां है? विवाहित लड़के को जब कारोबार अलग करना होता है तब उसकी घरवाली उसे फुसलाने लगती है तथा उसके कान भरदेती है, उस की बोल चाल बदल देती है। यह हाल देख कर बाप कहता है कि लड़के! तू ने आज तक कभी सामना नहीं किया था, कभी सामने बोलना भी न था, अब क्या होगया? सम्प के स्थानमें कुसम्प करना हो तो यों भाषा बदलती है, भाषा बदलनेपर ही भाव बदलता है। अधर्मी से धर्मी होने पर भी भाषा बदल जाती है। तब क्या अधर्मी से धर्मी होने पर चित्त की भाषा न बदले?] + + + +

केशीस्वामी ५०० शिष्य मंडल के परिवार से पधारेंगे तब उन्हें संयम निर्वाह के सब साधन अर्पण करना, मकान पाट कुश तृण आदि सब कुछ। इससे सम्बन्धित और और बातेंभी समझाईं। वनपालकों को यह सुन सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि महाअमात्य कितना बड़ा पदाधिकारी है पर सब बातें स्वयं उठकर समझा रहा है कि आने वाले साधुओंको मकान पाट चौकी आदि सब ही दे देना। इसमें कुछ रहस्य छिपा है और वे भी कोई महान और आदर्श पुरुष ही होंगे जिन्हें ये यहां आकर भी नहीं भूले हैं, वास्तवमें वे ऐसा पुरुष ही होंगे। उन्होंने तपाकसे चित्त के मनोगत का सदा आदर किया और बोले कि आपकी सब आज्ञाओं का पालन किया जायगा। चित्त ने चलते चलते भी उसी बाग के रखवालों को समझाया कि महात्मा के पधारने पर सब

ठीक ठाक करना और उनके पधारने की सूचना सब से पहले मुझे ही देना। कोई माप लगा कर तो देखे कि धर्म के प्रेम में कितना करारा रंग चढ़गया, उत्साह और मनोमोद कितना बढ़ चला है, ये वाक्य कितने श्रद्धापूर्ण और अनुकरणीय हैं जिसमें गुरुओं के प्रति प्रेम का प्रवाह आशा से अधिक बहा दिया, सत्य है भक्ति और प्रेम आत्मा के अन्तर भाव में ही है, कहीं से मांगा या उधार नहीं मिलता।

आधुनिक अनुराग

प्रेमी अपनी प्रेयसी को आभूषण और बहुमूल्य कपड़े लत्ते बनवाकर देते हैं, मात्र वे विषयानुराग में बंधे पड़े हैं। विषय-रागके निमित्त को शृङ्गार के साधन द्वारा उत्तेजित करते हैं। जिसका वे सौंदर्य बढा रहे हैं उन्हें उस पर सच्चा प्रेम नहीं है। वे तो अपने दृष्टिराग की पुष्टि के लिये ही सब कुछ करते हैं। विषयानुरागी स्त्री के लिये क्या अपना सब कुछ नहीं सौंप देते ? बल्कि सब प्रबंध इसलिये करते हैं कि अच्छे शृङ्गार शोभा देंगे तब मेरी आँखें तृप्त होकर तथा उन्मत्त होकर नाच उठेंगीं। वह अपनी प्रेमिका को इसलिये सजाता है कि उसे देख कर विषयानुराग बढ़ कर उल्लास और विषयासक्ति पैदा करे। यह सब विषय के कारण से पोषण करता है। इस से विषयों की शृङ्खला दृढ़ होजाती है। आ ने उत्कृष्ट सुख के लिये न जाने कैसे कैसे अखाडे रचता है। उसके हित के लिये कुछ नहीं किया बल्कि इसकी ओट में उस पर प्रेम का फंदा डालता है। उसे सदा के लिये अपने अधीन रख छोड़ने के लिये वस्त्र-आभूषण का प्रलोभन देकर उसे दासीत्व के बंधन में जकड लिया है। वह मूर्खा भी इस जाल में फंस कर बिना दाम की गुलाम बन गई और पुरुष के पैर की जूती कहलाने लगी अतः यह

राजस् और तामस् प्रेम है, अवधि समाप्त होने पर इस प्रेम का विनाश होजाता है। काच की चूड़ी आखिर चूर होने के लिये ही तो है।

सच्चा प्रेम क्या है?

जिसके आत्मामें क्षमा-दया-सरलता-सत्य आदि गुणोंपर सच्चा प्रेम है वह इनके सहायक देव-गुरु-धर्म की शोभा और महत्व को बढ़ाता है जिसके द्वारा उसकी अपनी निजी शक्तिका विकास होता है। देव गुरु और शास्त्रके प्रति अत्यन्त आल्हाद-राग और प्रमोद से धर्म के सहायक समझकर उत्तम एवं निष्काम भाव से प्रभावना करने पर धर्म के प्रेमी दिन दूने रात चौगुने बढ़ते चले जाते हैं। इनमें अनुराग करनेका आशय मात्र यही है कि इनके आश्रयको पाकर भक्ति-भावको मानो जागृत कर देना है। जिसे जिस पर प्रेमानुराग हो वह उन उन साधनोंको अवश्य सुशोभित करता है तथा भक्ति के बहुमान से उन साधनों को जुटाता भी है।

चित्तको केशीमुनि पर सबसे बड़ा और प्रशस्त राग है अतः वनपालको तकसे कहगया कि उन्हें आवश्यक वस्तुएँ देनेमे किसी प्रकार न चूकना और सबसे पहले मुझेही खबर देना तब उन्हें भी आश्चर्य होता है कि वाह! यह काया-पलट एकदम कैसे होगई। साधुके पास धन माल जवाहरात आदि कुछ नहीं है पर इतना बड़ा पदाधिकारी प्रधान होकर उनका कितना आदर करताहै। यह विचार आते हुये उनके अन्तर से भी भक्तिरस का स्रोत बड़ी उत्सुकता से वह निकला और एक स्वर मे बोल उठे कि जब भिक्षुक और त्यागी के प्रति प्रधान महानुभाव इतना अनुराग पदर्शित करते हैं तो इस भक्ति का लाभ लेने म हम भी न चूकेंगे।

उन्हें सावधान करने से दो लाभ तो प्रत्यक्ष हैं, प्रथम प्रजा मे भक्तिभावका रंग लगता है दूसरे केशीमुनि को यह अनुभव होगा कि वाह! यह तो भक्तिके मुख्य स्वरूप को भी समझता है।

उपकार में क्या महत्व है?

विनय प्रधान शिष्य ज्ञान प्रधान गुरु से पूछता है कि गुरो! माता पिता गुरु और सेठ का उपकार संबंधी बदला किस प्रकार चुकाया जा सकता है?

(१) गुरु—हे शिष्य यदि पुत्र माता पिताकी सेवा दिलकी सच्ची लगन से करता है, पहले उन्हें भोजन कराकर फिर आप भोजन करता है। उनकी समुत्पन्न इच्छाओं को उसी समय पूरी करता है। उनकी आज्ञाओं को मस्तक पर उठा कर रखता है। उन्हें तनिक कष्ट होने पर उसका अपना अन्तर व्यथित हो उठता है इत्यादि सेवाएं उठाने वाला क्या मा बाप के किये हुये उपकारका बदला दे सकता है?

गुरु—कभी नहीं! क्योंकि उपकार का बदला इस प्रकार नहीं चुकाया जाता क्योंकि बदले मे ये सब लौकिक बातें हैं। यह सब जानते हैं कि बांसके दोनो सिरे समान नहीं होते। जब माता पिता ने उस पर उपकार किया था उसमें से भूतकाल का लाभ बालक की ओरसे माता पिताको कुछ भी न मिला। कदाचित् वह भविष्य के लाभ के कारण से करते हो तो भी उसमें अनेक जोखम खानी पड़ती है। कदाचित् मैं मर जाऊं या यह मेरी सेवा करने योग्य होने से पहले ही मरजाय, तब भविष्य मे इससे लाभ होने न होने का कुछ निश्चय नहीं है, फिर भी गीले स्थान से उठाकर इसे सूखे स्थानमे सुलाया जाता है। इसका मलमूत्र साफ किया जायगा,

पालन पोषण की कितनी कठिनाइएँ होती हैं, पठन पाठन का उपकार क्या कुछ कम है, हजारों रुपया विना हिसाब पानीके बहाव की तरह बहा दिया जाता है इत्यादि अनेक लाभ लड़के को उनसे मिले थे। इसके बाद लड़केको यदि कुछ अपने कर्तव्यका भान हो गया तो संभव है वह कुछ सेवा कर सके मगर लड़के की ओरसे उन्हें भूतकाल में कुछ लाभ नहीं पहुँचा, तथापि माता पिता तो सब प्रकारसे सँभाल रखते ही हैं, जिससे पुत्र को भविष्यमे पूरा पूरा लाभ मिलता है। इसके पीछे शायद वह कुछ उपकार कर सके। आगामी काल में मा बाप कितना जियेंगे? यह अनिश्चित है। इन सब निर्णयों से स्पष्ट सिद्ध है कि उस से चुकती बदला देने की आशा नहीं।

सच्चा प्रत्युपकार

बापको उसका बेटा कहता है कि पिता जी! इतना श्रम किस लिये करते हो? मैं तो इकलौता पुत्र ही हूं, मेरे निर्वाह भरकेलिये घर मे बहुत कुछ है, तब वह सामने से रोक कर कहता है कि तुझे खबर नहीं है, अभी कमाने खाने के वे हथकंडे ही कहा आये हैं। परन्तु यह तो बापको अत्यन्त सुखी बनाना चाहता है, इसी से कहता है कि मेरी आजीविका जितना मुझे मिला है अतः इसीमें सन्तोष है। तब इतनी प्रवृति किस लिये कर रहे हो? बल्कि यह समय तो आपकी निवृत्तिका लाभ लेनेका है। धर्म में लग जाओ तो कितना अच्छा हो। लड़का धर्मकी विशेषता समझ कर इतना कुछ समझाता है मगर अनादिकालके विभावके अभ्यास के कारण बाप कहता है कि यह बोझ तुझसे न उठ सकेगा। वह फिर कहता है कि आपको इसकी इतनी चिन्ता क्यों? वह तो जैसे

वैलों को गाड़ी मे जोतना हो तो पहले अभ्यास कराया जाता है जिससे फिर वह स्वयं जुये के नीचे आकर सिर झुका देता है इसी भांति लडकेके समझानेपर भी इसे तो वही संसारमे झुकनेकी टेव पड़ी है अतः वैलोंकी तरह मस्तक नीचे कर देता है ! परन्तु यदि ऐसे मा वाप को यह धर्म भाव मे लगा दे तो पूरा वदला दिया जा सकता है दुर्गतिमे जानेसे वचादे, सन्मार्ग समझादे, दुश्चरित्र से निकालकर सच्चरित्रमे लगादे तो समझो कि पोत पूरा होगया। अर्थात् जो धर्म को प्रथम स्वयं प्राप्त कर फिर उन्हें भी धर्म के शरण मे ले आता है तब तो वदला चुका दिया गया। धर्मका रंग लडकेके अंग से प्रगट होकर निकल पड़े तो माता पिता प्रभावित होकर समझेंगे कि हम स्वय गधा पचीसीमे या ४०-५० वर्ष विषयासक्तिमे ही फॅस रहे, उस समय दीन और दुनिया का कोई हिसाव न रक्खा, अपना या पराया कुछ भी नहीं सूझता था। लेकिन इसेभी तो देखिये अभी इस की उमर ही क्या है ? खेलने खानेके दिन हैं फिर भी इस युवावस्था मे धर्मकी साधमे इसका कितना अधिक मन लगा है। इसे धन्यवाद दिये विना नहीं रहा जाता, कितने उच्च आदर्श का कार्य कर रहा है, इनकी वृत्ति धीरे धीरे सारी ही वदल गई। अधिक क्या कहें इस ने हमको भी सुधार दिया वरन् हम तो विषय वासनाकी काली धार मे डूबे चले थे, इसने हम डूवतों को थाम लिया। इत्यादि वातों का प्रभाव उनपर पड़ता है और उसका वदला भी चुक जाता है।

(२) सेठ का वदला

यहा उस नौकर की वात कहते हैं जिसे सेठकी ओरसे सव प्रकार की सहायता मिली और वह सव प्रकारसे वढा तथा सपन्न

होगया, लाखों पर क़लम चलने लगी, करोड़ोंका हिसाब बढ़गया। इसके कुछ समय बाद दैवयोगसे सेठ निर्धन होगया, दाने दानेको तरसने लगा, पास मे फूटी कौड़ी भी न रही। नौकर यह सूचना पाकर दौड़ा दौड़ा आया और विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर पैरों मे लोट गया और आंसू बहा कर बोला कि हे अन्नदाता! किसी समय मैं आप के पास नौकरी करने आया था तब आप ने परमात्मा बन कर मेरी भरसक मदद की थी। यह सब आपकी उस कृपाकाही फल है। अतः हाथ बांध कर कहता हूं कि मेरी नौकरी फिर उसी तरह बांध दो, यह लक्ष्मी-महल-बाग-बगीचे-दुकानें-आसामी और सब कारोबार वग़ैरह आपका है। इस वैभव के स्वामी आप और मैं आपका वही सेर चूनका नौकर। क्या इस उत्तम व्यवहार से सेठ का बदला चुक गया? यह प्रश्न शिष्य ने गुरुदेव से किया।

गुरुदेव—शिष्य! इस प्रत्युपकारसे उसकी पूर्ति नहीं होती, क्योंकि सेठने पहले सहायता की है। नौकर अब कर रहा है, उस समय नौकर के पास कुछ भी सुखसाधन न था। तब भूतकालका लाभ बिल्कुल न होने पर सेठ ने उसकी पूरी पूरी सहायता की। अब नौकर को अतीत काल मे उपकार मिला, अत एव अब यह सब कुछ कर सकता है। एक भूतकाल के उपकार के बिना प्रयोजन उपकार करता है तब दूसरा भूतकाल के उस बदले को चुकाने के लिये उपकार करता है अंतर की भावना को तो देखो। विचारिये कि इन मे कौन अधिक है? नौकर अपना सर्वस्व भी अर्पण करता है तो क्या हुआ, इस व्यवहार से लोगों में उसकी प्रतिष्ठा सेठ के प्रताप से ही तो बढ़ी। वर्ना उसे जानता कौन था, और वह बदला भी क्या दे सकता है? बल्कि सेठ की मदद करता है तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास लोगों मे और भी बढ़

जायगा। हजारों लाखों की हुंडियों की वसूली सेठ के हवाले कर दे तो उसका विश्वास अधिक बढ़ सकता है और अपना सब कुछ सौंपकर यदि अलग दुकान कर बैठे तो उसे बिना सही रुपये मिलेंगे, व्यापार मे खूब वृद्धि होगी उसका कोई भी काम न अटकेगा। भाव यह है कि वह व्यावहारिक प्रतिष्ठा उस सेठ को किसी मोल से भी नहीं दे सकता। इसी कारण नौकर अपना बदला पूरा न कर सकेगा।

नीति के कपडे पहने बिना धर्म का अंग कब शोभा देगा? नीति पालन करने वालों मे योग्यता की उचित क़दर होती है। यद्यपि दोनोंकी लौकिक दृष्टि है फिर भी लौकिकमे दोनों पक्ष नहीं टिक सकते पर यदि सेठ धार्मिक जीवनका मूल्य न आंक सका हो उसे आत्मा का भान तक न हो और धर्म तत्व मे कुछ भी न समझता हो तब ऐसी अवस्था मे वह नौकर उन्हें धर्म में लगाकर स्थिर करदे तो सब बदेला उतर गया। बाक़ी लौकिक बातें सब फिसल जाती हैं। मात्र धर्म के अहसान का ही क़रारा रंग होता है।

गुरुका प्रत्युपकार

(३) शिष्य—भगवन्! गुरु का बदला कैसे चुकाया जाय? शिष्य ने गुरु के पास एक भी मर्मस्पर्शी वचन सुना है तथा उसकी विचार धारा धार्मिक प्रवाह मे बदल गई है और वह देव-पद प्राप्त कर चुका है परन्तु किसी समय गुरु रोगी होगया है तब वह देव अपनी शक्ति से उनका रोग मिटा देता है तो क्या उसने गुरु के उपकार का बदला अदा कर दिया?

गुरु—बिल्कुल नहीं, क्योंकि गुरु ने तो इनका जन्म और मृत्यु का रोग मिटाया है, इस ने तो मात्र देह का रोग शान्त

किया है। बतलाइए प्रत्युपकार किस प्रकार चुकाया गया जिसमें गुरु ने तो अनन्त संसार का रोग मिटाया है।

अटवीसे उद्धार

गुरु अटवी मे चलते चलते मार्ग भूल गये हैं उस समय यदि वह देव सीधा राह बता दे तो क्या बदला चुक गया? नहीं कदापि नहीं। क्योंकि इस ने तो व्यावहारिक या लौकिक मार्ग बताया है परन्तु गुरु ने तो अनन्तकाल का भूला हुआ आत्मिक-पथ बताया है और उसे साक्षात् मोक्षमार्ग पर लगाकर वहां पहुँचा देना है अतः वह रास्ता बता कर भी प्रतिफल न दे सका।

दुर्भिक्षसे उद्धार

गुरुको दुर्भिक्ष देशसे उठाकर यदि वह देव अच्छे और सुभिक्ष देश को प्राप्त करा देता है जहां आहार पानी के दुःख भोगने से गुरु को बचा कर सुखपूर्वक भिक्षा मिलने वाले प्रदेश मे पहुँचा दिया तब भी क्या गुरु का बदला न चुकाया जायगा?

गुरु—नहीं, क्योंकि इसने तो मात्र रोटी खिलाने का प्रबन्ध किया है परन्तु गुरु ने तो अनन्तानन्त सागर का सांसारिक दुःख मिटा कर अनन्त सुखमय खुराक बख्शी है तब बदला कहां चुक सका। रोग को हटाकर, मार्ग भूले को राह बता कर, क्षुधित अवस्था मे खाने का प्रबन्ध करने पर भी गुरु के उपकार का बदला न उतर सका परन्तु जन्म-जरा-और मरण की नीरोगता [भाव मार्ग] और अनन्तसुख के साधन को लेकर उसके द्वारा अलबत्ता बदला चुकाया जा सकता है।

शायद गुरु कभी धर्ममार्ग से पतित हो जायँ और शिष्य को पता लगे कि गुरु जी ने आत्म-तत्त्व का भान भुला दिया है

तब वह आकर धर्म का धार्मिक बोध देने लगे जिससे वे धर्म में स्थिर होजाते हैं। बस इसके अतिरिक्त और कोई प्रत्युपकार का उपाय नहीं है। जहां तक अप्रतिहत घायक भाव न हो वहां तक अनादिकाल का रोग समझा जाता है। उस रोगी का तिरस्कार न करते हुए उसे धर्म क्रियामें दृढ़ करो पर नीचे पड़तेहुये की पीठपर लात कभी न मारो प्रत्युत उसकी यथाशक्ति (यथा योग्य) सहायता करो। × × × चित्त प्रधान को राजा का उपकार मानना चाहिये और अब तो स्वयं धर्म प्राप्त कर चुका है अत. अपने राजा को धार्मिक बनाकर बदला देना चाहता है। सावत्थी में केशी मुनि से यह कहा था कि मेरे राजाको धर्म बोध देनेको पधारें तो अच्छा हो परन्तु श्वेताम्बिका नगर भी दर्शनीय है अतः अवश्य पधारिये और पधार कर मेरे राजा को धर्म संस्करण में ओतप्रोत करिये।

चित्त ने माली लोगों से कहा कि महाराजश्री पधारें तब मुझे बधाई देने आवें। यह कह कर नगर में प्रवेश करता है और जित शत्रु की भेंट परदेशी राजा के सन्मुख रखकर नमस्कार करता है और सब वृतान्त कहकर सतुष्ट करता है फिर आज्ञा लेकर अपने घर चला जाता है। वहां पाच इन्द्रिय जन्य सुखों का उपभोग करता हुआ आनन्द पूर्वक समय व्यतीत करता है।

इत्युत्तरार्धे प्रथमोऽध्यायः

अथोत्तरार्धे द्वितीयोऽध्यायः

केशीमुनिका आगमन

कैकेयी देशान्तर्गत श्वेताम्बिका नगरी में मृगवन के उपवन मे केशी मुनि पांचसौ मुनिओं के परिवारसे पधार गये हैं। उनके आने की चर्चा सब नगरिकों मे इस तरह फैल गई कि वे बचपन में राजकुमार थे, युवावस्था मे वैराग्य पाकर संसार त्याग किया अब समय लेकर भव्य जनोंका कल्याण करते हुये ५०० मुनिओंके परिवार से यहां पधारे हैं। ये वही हैं और मृगवन मे ठहरे हैं। बहुत बड़ी परिषद् इनकी चरण वंदना करने जारही है इस ऊहापोह में वनपालकों को भी स्मरण हो आया कि जिनके विषय मे प्रधान जी कहते थे, ये वे महात्मा तो नहीं आगये, यही विचारते हुये सब ने तुरन्त एकत्र होकर कहा कि प्रभो! मकान-पाट-चौकी आदि जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हो वही आप ग्रहण करें, विशेतया हमारी खुली आज्ञा है। इसके अनन्तर आपसम यह विचारने लगे कि ये कैसे साधु हैं? बड़े निष्काम है प्रधानने जैसा कहा था वैसे ही त्यागी है तो भी ठीक निर्णय करलें तो क्या हानि है शायद कोई और न हों।

अनुभव करने पर यह निश्चय हो गया कि बस ये वे ही है। प्रधान जी तो इनके ही दर्शनों को तड़पते हैं। इन के दर्शन की उन्हें पूर्ण अभिलाषा है। इनके तो नाम और गोत्र का नाम सुनते ही पाप के बंधन कटते हैं। बस पूरा विश्वास हो गया है कि ये वे ही केशीकुमार-मुनि हैं। चित्त प्रधान ने इनसे ही धर्मरत्न पाया है, परन्तु वनपालकों के अन्तर मे भी पवित्र धर्म का गहरा और पक्का रंग प्रवेश कर गया अब इन्होंने यह सोचा कि इनके पधारने की बधाई प्रधान को देने से हमे भी कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा। इसी कारण वनपालकों मे बड़ा आनन्द छा गया। मन में रह रह कर यह सोचने लगे कि इनके आने की सूचना पाकर प्रधान बड़े प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगे प्रधान जी इन्हें अपना धमगुरु मानते हैं चित्तके सर्वस्व ये ही है। जिसे धर्म पर उत्कृष्ट प्रेम है उस चितके पास सबके सब वनपालक मिल कर बधाई देने जाते हैं। ××× महा-अमात्य साहेब! आपकी जय हो विजय हो, आप भाग्यशाली हैं, पिछला किया हुआ धर्मध्यान आज सफल हो गया, हम आपको प्रसन्न होने की सूचना देने आये है। आपको प्राणों से अधिक प्रिय तथा अभिलषणीय बातें सुनाने आये हैं जिसे सुनकर चित्त सागर मे आनन्द की लहरें उठने लगेंगी। देव! वल्लभ! देवों को! मनुष्य जन्म अत्यन्त प्रिय है, वे नरभव को चाह की दृष्टि से देखते हुये स्वर्ग से अधिक प्यारी वस्तु मानते है इसी लिये कि मनुष्य के देह से ही मोक्ष होता है। देव जन्म (पर्याय) से सीधा मोक्ष नहीं पासकता। इसी हेतु देवों को मनुष्य पर्याय अति प्रिय होता है। देव! इसे आपने पाया है आपके शिर इसका कितना उत्तर-दायित्व है। बात बात मे देवानुप्रिय या देव वल्लभ शब्द के प्रयोग

करने का यही कारण है कि सदैव मनुष्यत्वकी दुर्लभता का स्मरण रहा करे।

देव! देव बल्लभ! जिन मुनिओं मे आत्म ज्ञान का साक्षात्कार हो चुका है वे समर्थ मुनि मृग वन में पधारे हैं। जिन के नाम और गोत्र का स्मरण होने पर भी आत्मा अध्यात्म पथ का पथिक बनने के लिये भाग्यशाली बनता है। वे पार्श्वनाथ प्रभु के सान्तानिक शिष्य हैं, जिनके दर्शन करने की अभिलाषा आपको सदा बनी रहती है। जिन के विषय मे आपने हमें बहुत पहले कहा भी था कि सब से पहले मुझको ही खबर देना। वे ही केशीकुमार-मुनिराज नगर के बाहर मृगवन मे पधारे हैं।

चित्तकी अपार प्रसन्नता

चित्त यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और सोनेकी कुर्सी से एक दम उतर गया, पैरों में पहना हुआ जड़ाऊ जूता भी उसी दम निकाल दूर किया। गले के उत्तरासंग वस्त्र को मुख पर ढककर हाथ की दशों उंगलिएँ एकत्र कीं। ईशान कोणमें जाकर मृगवनकी तरफ सात आठ कदम आगे बढ़ कर पवित्र और उत्कृष्ट निष्काम भक्ति के आवेश से उल्लसित होकर "नमो त्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं" इत्यादि नमोऽस्तु पाठ सिद्धपरमात्मा के लिये पढ़कर नमस्कार किया और दूसरा पाठ अर्हन् देव को पढ़ कर फिर अपने धर्मके आचार्य धर्मगुरु केशीकुमारमुनिके बहुमान मे नमस्कार के रूपमें उसे पढ़ा। अपने महलसे वन्दना नमस्कार करनेवाला जीव अन्यान्य पुद्गलादि का विश्वास और मोह भला कभी करसकता है? वह परलोक तथा आत्मतत्वकी बातें अतिशीघ्र

गति से पा सकता है। [मगर आज कल के समय अपने से अधिक त्यागी वैराग्यवान्-ब्रह्मचारी-संयमी के ऊपर भी जिन्हें विश्वास न बैठे तो ये अपने आत्माराम को कब समझा सकते हैं? और न उन्हें कभी समझने के लिये अवकाश मिलेगा। परदेशी को यदि किसी का विश्वास न होता तो उसे धर्म पाने का अवसर क्यों कर मिल सकता था? उसे भी चित्त के प्रति पूर्ण विश्वास था। वह यह समझता था कि चित्त मेरे अहित मे नहीं है बल्कि सदैव कल्याण की कामना प्रगट करता है। अधिक क्या कहा जाय उसे सबसे अधिक प्रतीति थी। जिसे अपनी अक्ल का गुमान है कि मैं चतुर और सर्व-विषयज्ञ हूं; ऐसी मान्यता वाला त्यागी-वैराग्यवान संयमी और ज्ञानी का कभी विश्वास न कर सकेगा? आप ही कहिये कि उसे आगे बढ़ने का अवकाश क्योंकर मिल सकता है।

परदेशी अधर्मी है अधर्म को उत्तेजना भी देता है तथापि चित्त प्रधान का उसे पूरा विश्वास है। यह गुण क्या कम है? इसके आधार पर ही वह धर्म तत्व को पायगा। राग-द्वेष-विषय-विकार आदि सांसारिक भावनायें विकारमय हैं। वे पर होकर भी अपना पूर्ण प्रभाव जमाये बैठी हैं। परमार्थ दृष्टि से आत्म-स्वभाव मे ये गर्भित नहीं हैं। क्योंकि आत्म-पदार्थ का स्वभाव विकार जन्य नहीं है। वह तो पर पदार्थ के संबन्ध से अनादि काल के विकार भाव को प्राप्त होकर आत्मा के नाम से कहाने लगा है परन्तु वस्तुतः अपने स्वभाव की अपेक्षा से तो वह स्फटिक रत्नवत् निर्मल-शुद्ध और चैतन्य-शक्तिरूप है, लेकिन विकार जाल मे पड़कर उसके द्वारा चारगतिरूप संसार वन मे

परिभ्रमण करता रहा है। पर मूलदृष्टि से स्वरूप और स्वभाव की अपेक्षा आत्मा में नाम मात्र को भी विकार नहीं है। सबसे पहले चित्त ने इसी गूढ़ तत्व को समझा है, अब तो मात्र उसे परका परिहार करना शेष रह गया है। कहा भी है कि—

जेम निर्मलतारे स्फटिक तणी, तेमज जीव स्वभाव।
श्री जिनवरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबल अकषाय स्वभाव॥

जिस प्रकार स्फटिक रत्न कलंक रहित और सम्पूर्णतया अखंड होता है इसी भाँति परमार्थरूप से आत्मा भी अमल और स्वभावगुण में सम्पूर्णतायुक्त है परन्तु अनादि परपदार्थ संयोग-संबंध से चौरासी लाख जीवयोनि में परिभ्रमण कर रहा है यह समर्क लिये होय है कि पर शक्ति को छोड़कर स्वशक्ति का प्रगट करना, इन दोनों को अन्तर से समझा जाय तो समझ लो कि उसने धर्म को १६ आने प्राप्त कर लिया। श्री वीर प्रभुने यही धर्म प्रकाशित किया है।

परन्तु लोग तो जगत की नीतिके किसी भेद या प्रकारान्तर को ही धर्म कहते हैं पर यह कोई पारमार्थिक धर्म है? असल में धर्म-स्वरूप तो पारमार्थिक दृष्टि से मोक्ष पुरुषार्थ को प्रगट करना है। यह आत्म स्वरूप की बात निराली है। नीति तो धर्म पुरुषार्थ पर चढ़ने की एक पैड़ी है। यह कुछ धर्म का अंग नहीं है। कहा भी है कि—

चेतन रूप-अनूप-अमूरत-सिद्ध समान सदा पद मेरो।
मोह महातम-आतम अंग-कियौ परसंग महातम घेरो॥
ज्ञान कला उपजी अब मोहे, कहूं गुण नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधै शिव मारग, वेग मिटे भववास बसेरो॥

पण्डित बनारसीदास कवि कहते हैं कि हे आत्मन! चेतना

जिसका मुख्य स्वरूप है, मुख्य गुणही जिसका ज्ञानदर्शन है, राग द्वेष और विषयकषाय से जो रहित है, इस प्रकार निर्मल स्वभाव आत्माका है। मूलतः उसका ज्ञान दर्शन निर्मल है। तथा जिसे किसी की भी उपमा नहीं दी जाती। यह मूर्तिमान् भी नहीं है। इन्द्रिया और मन इसे किसी सूरत मे नहीं पकड़ सकते अर्थात् इन्द्रिय और मनके अगोचर है। क्योंकि जो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और संस्थान युक्त हैं वही पदार्थ मूर्तिमान होता है और वे पदार्थ जड एवं रूपी समझे जाते हैं परन्तु आत्मा तो अमूर्त पदार्थ है। तीनों काल मे मेरा स्वरूप सिद्ध स्वरूप से तुलना रखता है अर्थात आत्मा का स्वरूप सिद्ध के समान है परन्तु मोह की भ्रान्ति मे पड़कर अपना स्वरूप उलटा समझता है, अज्ञान मे घिरकर अपना निर्विकार-आनन्दघन-सच्चिदानन्द-चैतन्य स्वरूप भूलभुलैया मे डाल दिया है। वे फिर कहते हैं कि अनादि काल की पड़ी हुई मोह भ्रमणा के अलग होने पर अब कुछ आत्मकला प्रगट रूप से खिलने लगी है। आत्मस्वभाव के विकास को ही किरण कहते हैं। यानी ज्ञान की कला का भान मुझे कुछ कुछ होने लगा है। इसीलिये शास्त्र ज्ञान की वृद्धि-रचना रूप नाटक करता हूं। ज्ञानपथ शिवपथ कल्याणपथ का सेवन करते करते चौरासी लाख योनि रूप घरों मे अनादि काल से मोह के वश होकर मुंदा पड़ा है। यदि किसी भी प्रकार से वह टल जाय तो आनन्द-सुख मिल सके। आत्म पदार्थ का स्वरूप अरूपी और निर्मल है 'यही इसका' भान होना है। उस समय आत्मा को यह ज्ञान होगा कि यह परभाव है मेरा स्वभाव नहीं है। तब इस परभाव को पकड़ कर क्यों बैठू। परभाव का ज्ञान स्पष्ट होने पर उसे यह होगा कि परभाव मेरी निजी शक्ति नहीं है। यही समझ

कर वह सब कुछ (विभाव) छोड़ देता है । परन्तु जहां तक पूर्णतया न जानले वहां तक पुद्गल की यह सब खिचड़ी पकती ही रहेगी । मैं का हठ तब तक ही न मिट पायगा और आत्मा का स्वाभाविक गुण प्रगट होने पर मैं-मैं का नाम शेष भी न रहेगा। बस इस महान् धर्म के जानने का मुख्य अधिकारी चित्त ही है वह अब इसी धर्म का पालन करने मे दत्त-चित्त है। + +

केशी स्वामी मृग वन मे पधारे है, उनके आने की बधाई देने ये वन पालक सीधे चित्त के पास ही आये हैं। सूचना पाकर वह उसी दम सात आठ दम ईशान कोण की ओर चलता है और पहले सिद्धों को 'नमोत्थुणं' इस लिये किया कि आत्मा का यही साध्यस्थान और मेरा यही स्वरूप है। उसकी साध में लगने की मेरी सतत इच्छा है इस कारण से पहले सिद्धों को नमस्कार होता है। दूसरे अरिहन्तों को नमस्कार करने का यह प्रयोजन है कि इन्होंने मुझे साध्य का ज्ञान कराया है। तब केशी स्वामी को नमस्कार करने का आशय यह है कि इस धर्माचार्य ने मुझे चरित्र-बल ज्ञान-बल तथा त्यागभाव प्रदान किया है। धर्मी पुरुषों के द्वारा साधन करने का साध्यबिन्दु, लक्ष्यबिन्दु सिद्ध परमात्मा का स्वरूप परम और उदार है। पर अनन्तकाल से स्वरूप ऋद्धि का भान भुलाकर पर ऋद्धि के भान में घिर गया है। इसीलिये स्वयं को तो मानो भूल ही गया है ××

चित्त नमस्कार करने के अनन्वर कहता है कि मुझे अपना सिद्ध पद प्रगट करना है, वह पद (स्वरूप) भी मैं ही हूं परन्तु प्रभो ! अब तो वह आपको प्रगट हो गया है। जिसने यह तत्व समझा है वे मेरे धर्मगुरु, धर्माचार्य और धर्मोपदेशक हैं। हे भगवन् ! महिमावान् आचार्य (साधु) को भगवान क्यों कहा

गया ? कभी कोई यह पूछ बैठे तो इसका ठीक उत्तर क्या होगा ? इसका सहज उत्तर तो यही है कि जैसे निर्धन धनवान् बनने की इच्छा करता है, धनवान् राजा होने की इच्छा करता है राजा इन्द्रपद पाने की धुन मे लगा है। देव और इन्द्र ज्ञानी की इच्छा करते हैं। ६४ इन्द्र मिल कर ज्ञानी के पैरकी रज मस्तक पर चढ़ा कर अपने को धन्य मानते हैं। अपनी ऋद्धि की अपेक्षा ज्ञानरूपी वैभव के पाने का विशेष महत्व समझते हैं। इसलिये सन्तों के चरणों मे आकर अपना उत्तमाग (मस्तक) झुकाते है। अब आप ही कहिये ज्ञानी के चरणों मे १४ ब्रह्माण्ड आकर झुक गये या नहीं। निंदा करनेवाले भी अड़चन पैदा करते करते इन्ही के चरणों मे नमस्कार करके लोटने लगते हैं। क्योंकि निन्दा करने वाले सुख तो अवश्य चाहते है। यद्यपि उन्हे सन्मार्ग का भान तक भी नहीं है तो भी सुखके अभिलाषु तो हैं ही। ज्ञानी कहते है कि मैं आनन्द चाहता हूं और उस अबोध जीव को भी आनन्द ही प्रिय है। तब क्या तुझे सन्मार्ग दिखलाया जाय ? परन्तु तुझे अनित्य की दृष्टि से सुख साधन प्रिय है मगर हमारी ध्रुव दृष्टि है। वस्तु एकही है मात्र अन्तरदृष्टिका ही हेर फेर है। दृष्टि का दोष हट जाय तो सन्मार्ग सूझ पड़े। हेतु सबका एक है और वह अनादि कालीन और प्राचीन है अज्ञ जन उसकी रीति भाँति से अनजान है। ज्ञानी जन उससे विशेष परिचित है इसीसे ज्ञानी व त्यागी के भेदसे दो प्रकार है। इस प्रधानको सारा राज्य नमता है लेकिन प्रधान केशीमुनि को नमता है यद्यपि इस समय आप बाग मे विराजमान है तथापि मैं आपको यहीं से नमस्कार करता हूं। यह है चित्त का उत्तम श्रद्धान। × × ×

मेरा और आपका आत्मा समान है। हम दोनों का साध्य

भी एक है। आप आगे बढ़कर उसकी साध में लगे हों और मुझे अभी वह मार्ग पकड़ना है लेकिन साध्य मे थोड़ा सा भी प्रकारान्तर नहीं है।

बधाई देने वालों को वस्त्र अलंकार आदि बहुमूल्य वस्तुएँ पुरस्कार में दीं (संसार मे पगलेपन की बहुलता से स्त्री में अधिक प्रेम स्थापन करता है। उसके दश वर्ष बाद विदेश में समाचार मिलते हैं तब प्रसन्नताकी चरमसीमा का उल्लंघन हो जाता है, उसे अनिर्वाच्य आनन्द होता है, इसी भांति जिसे धर्म से प्रेम है उसे अपने ज्ञानी-गुरु के शुभागमन की सूचना लाने वाले से अति आनन्द प्राप्त होगा। यह प्रेम कोई अद्वितीय प्रेम है। गुण का प्रेम आत्मगुणों के साथ फूल में गंध की तरह चित्तमे बसा है, स्त्री का प्रेम कैसा होता है ? बातें करते करते विषय की पुष्टि हो जाती है। राग भाव-मोहभाव की मजबूती होती है। आठ दिन के बाद पत्र द्वारा मालूम होता है कि स्त्री मर गई मगर उस प्रेमी पर खेद होता है कि वह उत्तर मे तार द्वारा घर वालों को यह सूचना करता है कि 'दूसरा नाता शीघ्र ही तलाश करो'। अब यह विचारें कि वह प्रेम कहाँ उड़ गया ? यदि अन्तर की पूछो तो यह प्रेम आत्मा से न था ? बल्कि हाड़ चाम के कोथले से था। जिससे उसके आत्माके साथ कोई संबन्ध नही है। सुन्दर और अनुकूल समाचार पाते समय कितना प्रेम प्रदर्शन किया था और वह मात्र आठ दिन मे ही सबका सब उड़ गया। अरे तू तो कहता था कि स्त्री के प्रति अगाध प्रेम है पर न्याय की कहना कि वह प्रेम आत्मा से था या हाड़ चाम से ? अरे स्वयं तो लिखता था कि तू वहाँ है और मैं यहां, कितनी दूर परन्तु यह जीव तो तेरे ही पास है। शरीर चाहे यहां पड़ा

है मगर मन तो तेरे प्रेम के रंग मे रंग गया है तेरे वियोग में पानी के विना मछली की तरह तड़फ रहा हू। हाय वे बातें मोह की फास मे फसाने वाली और कितनी असत्य थीं। हूं? कहता था कि मेरा मन तो तेरे ही पास है। प्रत्युत वह बाहरी रूपराशि मे अपने आप फंसा हुआ सिद्ध होता है। यह निस्संदेह कहा जा सक्ता है कि संसार का प्रेम दैहिक और पौद्गलिक है। लेकिन त्यागी और ज्ञानी का प्रेम आत्मा की लगन मे तत्पर रहता है] इसी आधार पर चित्त प्रधान कहता है कि आज यहा मेरे गुरु पधारे हैं इससे बढ़कर और सुन्दर समाचार क्या हो सकते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि:—

साचुं सगपण स्वधर्मी तणुं रे, अवर सर्वे झांझघरे भविक जन,

जगत् भर मे देह के संबन्धी शरीर के छूटने पर आंसू ढुलका कर बैठ रहते है। यदि आत्मा से सम्बन्ध होता तो दूसरी प्रेयसी को न खोजता। इसी प्रकार स्त्री भी समझती है कि प्राणनाथ! मेरे भर्ता तथा प्राण वल्लभ आपही है मगर जब हड्डियें श्मसान मे जलकर भस्म हो जाती है तब बिल्कुल न चाहेंगी। पथानुगामिनी न होगी। भला वह एक को प्राणनाथ कहकर फिर दूसरे को प्राणवल्लभ किस मुह से कहेगी। न जाने दुनिया का राग और विचार किस ढंग का है जिस प्रकार बोलते और लिखते है उस प्रकार पालन करने वाले विरले ही है। भला जिन्हें संसार और देह से ही प्रेम रहता हो उन जीवों के अन्तर से आत्मा का प्रेम सतर्क होकर क्योंकर जागृत हो सकता है। जितना प्रेम उन्हें स्वधर्मियों से होता है उतना प्रेम ज्ञानियों को स्त्री और पुत्र मे नहीं होता। × × ×

ऐसे साधक प्रेमियों को स्वधर्मिओं के समाचार मिलते ही

उत्साह उमड़ आता है; अतः यहां चित्त को भी बड़ा आनन्द हुआ है उसने प्रसन्न होकर बन पालकों को वस्त्र आभूषण के अतिरिक्त इतना कुछ सत्कार और सन्मान में बड़े उदार भावों से पारितोषिक दे डाला है कि वे जहां तक जीवित रहें तब तक के लिये सुखी बना दिया है। उन्हें अब आर्थिक दृष्टि से भविष्य में किसी का मुंह ताकना न पड़ेगा। इतना दिया है कि कई पुश्त तक तो इसकी स्मृति ही बनी रहेगी। अब उन्हें अपने अगले जीवन मे किसी की दासता उठानी न पड़ेगी। क्या बन पालक इस धर्म श्रद्धालु की प्रशंसा किये बिना यों ही रहेंगे? इन्हें कितना अधिक आनन्द हुआ है? आ हा हा! धर्म काल ऐसा ही होता है। जिनके तन पर पूरे वस्त्र नहीं, रहने के लिये घर नहीं, पास मे खाने के लिये दाना नहीं, ऐसे महापुरुषों के आने के समाचार सुनकर कितनी उमंग और उत्साह पैदा हुआ है जिसका वर्णन करना जिह्वा और लेखनी से बाहर है। यह धर्म कितना सुंदर है यहां भामाशाह का दृष्टान्त कितना अच्छा लगता है। एक राजा का प्रधान अधर्मी था, उसके राज्यमें भामाशाह ने बहुत सा रुपया खर्च कर एक धर्मशाला बनवाई। साथ ही वहा सदाव्रत भी लगा दिया। यह सब कुछ प्रधान के नाम से ही किया गया। दैव वशात् वहां एक बार प्रधान आ पहुंचा और पूछा कि यह मकान किसका है? तब किसी ने कह दिया कि आपका ही तो है न! प्रधान कहता है कि मुझे तो मालूम तक नहीं! पूछ ताछ करने पर मालूम हुआ कि भामाशाह ने अपने निजी धन से प्रधान के नाम पर व्यय किया है यह कितनी बड़ी उदारता है। जिसका समाचरण करके मेरा नाम बढ़ाया है न जाने इसका क्या कारण है। भामाशाह को बुलाकर

उसका असली कारण पूछा तब ज्ञात हुआ कि धर्म की प्रभावना के लिये लाखों रुपया इसी तरह खर्च किया गया है किन्तु अपना नाम प्रसिद्ध नहीं होने देता, क्योंकि उसे नाम की भूख नहीं है। धन्य है ऐसे पुरुष विरले ही होते है।

प्रधान ने कहा कि भामाशाह! आपको जिस वस्तु की इच्छा हो वही मांगलें।

भामाशाह—गांव के बीच में स्थानक के लिये कुछ जगह की आवश्यकता है। सुनते ही प्रधान ने उसी समय प्रदान करदी। इस पर आस पास के पड़ोसियों ने उस पर आपत्ति उठाई और अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये राज न्याय का आश्रय लेकर पैरवी करना आरंभ किया। मगर भामाशाह का पक्ष समर्थन करने वाले मनुष्य संख्या मे अधिक थे। क्योंकि उसने खुले दिल से धर्म प्रभावना मे करोड़ों रुपये खुले हाथों खर्च किये थे। इसी सहारे पर प्रत्येक मनुष्य इसका गुण मुक्तकंठ से गाता था। एक नाई को इस षड्यन्त्र का पता लग गया उसने उसी समय भामाशाह को सब हाल कह सुनाया। भामाशाह ने प्रधान से मिलकर वही जगह उपाश्रय के लिये निश्चित [स्थिर] कराली। × × ×

इसमे समझने के लिये हमें इतनी सामग्री मिलती है कि वृत्ति कितनी उदार है। अपने नाम की इच्छा के बिना ही लाखों रुपयों की बलि करदी। मगर एक विलक्षण प्रकृतिके मनुष्य अधिक संख्या में ऐसे भी पाये जाते हैं जो ढिंडोरा फिरवा कर धर्म करने की इच्छा करते हैं। वे समझते हैं कि मेरा अपना धर्म पालन किया जाता है। वीतराग का नाम सुनकर यदि कोई लघु कर्मी जीव होगा तो उसका भी आत्मा उन्नत हो जायगा।

इसी भांति यह चित्त भी स्वधर्म प्रेम के उद्देश्य से औरों पर प्रभाव डालने वाले मार्ग का पथिक बना है। जितना प्रेम उसे स्वधर्म पर है उतना प्रेम अपने कुटुंब से नहीं है। अब यहां वह योग लगाकर सोचिये कि पति मरने पर दूसरे पति की इच्छा करने वाली स्त्री और स्त्री मर जाने पर दूसरी स्त्री की इच्छा वाले पुरुष के प्रेम मे तथा चित्त के प्रेम मे कितना अन्तर है? कह सकते है कि आकाश पाताल जितना है। + + वनपालकों का इन की परिस्थिति के अनुसार वार्षिक खर्च कितना है? इसका ठीक हिसाब लगाकर उनकी सारी उमर के लिये निर्वाह हो सके उतना देकर उनको खूब प्रसन्न कर दिया। लड़के के विवाह की चिट्ठी को जो व्यक्ति लायगा तब उसे भी तो कुछ न कुछ अवश्य दिया जायगा पर यदि कोई धर्म की सूचना लेकर आवे तो धर्म का सच्चा प्रेमी उसे कुछ अधिक दे तो क्या आप उसमें नवीनता समझेंगे? × × ×

इस भव मे आत्माका आदि अनन्त सम्बन्ध केशीमुनि की आत्मा के साथ हुआ है × × × वन पालक निकल कर वहां से बाहर आते हैं। इन्हें देखकर लोगों को बड़ा अचरज हुआ कि इनको ऐसे बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण कैसे मिले? किसने दिये? परन्तु दूसरे ही क्षण यह ज्ञात हो गया कि चित्त प्रधान के धर्मगुरु पधारे हैं, जिनके आने की ये बधाई लेकर गए थे वहां से यह प्रीतिदान लाए हैं। बस यही बात बिजली की तरह सारे नगर में दौड़ गई जिसके साथ ही धर्म की प्रभावना-धर्म की अपार महिमा तथा धर्म का यश भी दिगन्त व्यापी हो गया। चित्त ने धर्म और उसकी प्रभावना का लाभ उत्तम विधि से खब लिया।

प्रधान ने चार घोड़े के रथ को सजा कर मगवाया और आप तुरन्त स्नान मज्जन करके वस्त्राभूषण पहन कर केशीमुनि के दर्शन-वन्दन और श्रवण के लिये आया। वन्दना-नमस्कार करके उसकी आत्मा को पूर्ण आनन्द मिला। साथ ही परदेशी राजा को वोध दिलाने की प्रार्थना भी की कि प्रभो! मेरा राजा बड़ा अधर्मी है उसका कर्म और कर्त्तव्य भी अधार्मिक है। प्रजासे विशेष कर लेकर भी सन्तोप नहीं करता विशेषातिविशेप अवांछनीय वोझ लादता रहता है। प्रजा को सर्वथा लूट खसोट कर शोषण नीतिका उपयोग करता है। कितना निकृष्ट और तुच्छ पुण्य वाला है कि औरों के राज्य-वैभव मे से खिसका कर सब कुछ अपनी ओर सरकाना चाहता है। जब राजा पुण्य का स्वतन्त्र अधिपति होकर प्रजा का पालन करता है तब इसके प्रबल पुण्य प्रताप से पृथ्वी की उपज बढ़ती है। जब उसे पृथ्वी से ही सब कुछ मिलता है तब वह प्रजा पर क्यों अत्याचार करे? पृथ्वी से हीरे और रत्नों की खानें अचानक निकल पड़ेंगी, दूसरे के उपभोग के योग्य लक्ष्मी मे से वह विलास की सामग्री इसलिये नहीं लेता। लूट-खसोट-अन्याय आचरण से उन दीन और पीड़ितों की भोग्य-वस्तुयें उसे अवांछनीय होती है, प्रजा का सार चूसकर अन्याय करने वाला तो पापानुवंधी पुण्यवान् होता है। पहले जन्म मे पाप का उद्देश्य रख कर पुण्य वाधने के कारण उसका उपभोग-कर्त्ता ससार को लटने की 'दुर्वृत्ति' रखता है।

भगवन्! यह राजा अधर्मी है यदि यह धर्मभावके संस्कार पा जाय तो इस के धर्मी होने पर जनता मे अच्छा प्रभाव पड सकता है। फिर तो इसका अनुकरण असंख्य प्राणी करेंगे। आज कल तो मनुष्य यही समझते हैं कि कमानेसे थका है तब ही धर्म करने

लगा है। गाड़ी मे जुतने वाला बैल कामके अयोग्य हुआ कि उसे गौशाला छोड़ आये। इसी प्रकार असमर्थ बूढ़ा इंद्रियोंका आनन्द लेने से वंचित रह जाय तब उसे विवश होकर धर्मका शरण लेना पड़ा। बहुतसे युवकोंका मत यही है। इस बेसमझीने धर्मका मूल्य गिरा दिया। परन्तु धर्म करने वालेकी ६४ इन्द्र सेवा करते हैं। चक्रवर्ती भी ज्ञानी के सन्मुख मस्तक झुकाता है। ठीक तो है धर्म चतुरज्ञानी-उदार बुद्धिमान्-बलवान् तथा धनाढ्य पुरुषोंका है, पागल कृपण-ईर्षालु और मायावी का नहीं। राजा-महाराज-धनी-निर्धन रोगी-नीरोगी-ऊंच नीच सब धर्म साधन कर सकते हैं। २५ हजार के मूल्यवान् हीरे की क़ीमत घटाकर २००० रुपया आंकने वाले मनुष्य की भूल समझी जायगी तब हीरे की तो कीमत वही है। क़ीमत घटाने वाले की ही क़ीमत घटती है हीरे की नहीं।

चित्त कहता है कि मुने! हमारे राजाको तो अवश्य शिक्षा दें, यदि यह धर्महीन राजा धर्म पालन करने लगे तो इसके आत्मा को औरों के सुधारने का लाभ भी होगा। पशु पक्षी आदि की हिंसा न होने पायगी। इस दृष्टि से सब प्राणिओं को महान् लाभ पहुँचने की संभावना है। ५०००० बस्तियोंकी प्रजाको अपार लाभ पहुंचेगा। यह लाभ का कारण चार प्रकार का बताया गया है।

जिसे अज्ञानी माया कहते है उसी को ज्ञानीजन विचक्षणता कहते हैं इस दृष्टि से सीधी तरह उत्तर न देकर केशी स्वामी विलक्षणता से उत्तर देंगे। चित्त स्वयं तो आत्मिक-धर्म को पा चुका है। आत्म पदार्थ अनन्त गुण वॉछनीय होने से आत्म स्वभाव का पूर्ण अधिकारी है। इसका मुख्य गुण ज्ञान है इसकी भी पांच अवस्था हैं। उसकी उत्कृष्ट अवस्था कैवल्य प्राप्त करना है। इसके अनन्तर आत्मा को कुछ भी करना शेष

नहीं रहता। तब इससे पहली चार दशाएं हैं। उन चारों अवस्थाओं मे आत्मा अब तक बहुत घूमा है। वह तीन दशाओं से ही भ्रमण करता फिरता है। चौथी अवस्था आत्म भान होने पर होती है। केशी स्वामी ने उस अवस्था को प्राप्त किया है। चित्त इन्हीं से यह प्रार्थना करता है कि उस राजामे भी भ्रमण रहित धर्म संस्कार भर दीजिये जिससे उसे चार प्रकार का लाभ मिलता है।

साधु का निरवद्य पथ है, उसकी क्रियाएँ हिंसा रहित एवं यत्न युक्त हैं। अतः वे गृहस्थ को यह नहीं कह सकते कि तुम उसे यहां लिवा लाना। सहज स्वभाव के अकर्तृत्व पद को समीप मे रखकर जो साधना करे वही साधु है और अलग रह कर साधना करे वह गृहस्थ है साधुपदमें निवृत्ति पदकी वाणी होतीहै। संसार के किसी कार्य के विषय मे 'करो करो' आदि आदेश रूपा प्ररूपणा उनमे नहीं होती। जहां हिंसा-झूठ-चोरी-परिग्रह आदि सावद्य विषय का प्रसंग हो वहा साधु यह नहीं कहते कि तुम्हें इस प्रकार करना चाहिये। लेकिन चित्त तो राजाके सुधारने के अर्थ विनती करता है तब भी मुनि यह नहीं कहते कि अपने राजा को यहां ले आना तथापि जैसी उनकी विधि है उसके अनुसार बातें करते हैं और वह बात चित्त को ठीक भी जंच जायगी। वह माया न होकर विचक्षणता है। मगर दुनिया विवेक की उच्च कोटि को नहीं समझ रही। तब ज्ञानी के सुंदर और सरल विवेक को भी माया ठहराते हैं पर अन्तर का भेद नहीं जानते। शायद वह हिंसा के साधनों का उपयोग करके ले आवे तो। ज्ञानी अपने भावों पर और किसी की जोखम को भला क्यों लेने लगे। महावीर प्रभु के समय का एक प्रसंग आता है और वह यह है।

महर्षि संयति और गर्दभाली

गर्दभाली मुनि वन मे किसी द्राक्षा मंडप के अंदर ध्यानस्थ बैठे हैं। कंपिलपुर का राजा संयति शिकार खेलने निकला है। उसने एक वन्य मृग को बींध दिया। वह बाण खाकर भागा हुआ आया और ध्यानस्थ मुनि के आगे गिर कर तड़फड़ाने लगा, राजा अपने शिकार की खोज करता हुआ उसी ओर आ निकला। देखता क्या है कि मृग मुनि के सामने पड़ा है। इस बात को आध्यात्मिक दृष्टि से अपने ऊपर सब लोग घटा सकते हैं। वह यह कि राजा पिछले जन्म का संस्कारी पुरुष है। इस कांड को देखकर कांप उठा है। यदि किसी सामान्य व्यक्ति का अपराधी होता तो किसी माया-कपट का आश्रय पाकर छूट भी सकता था मगर ये तो सामर्थ्यशाली तरुण तपस्वी हैं। यहां सिफारिश काम न आयगी। तब इसे रह रह कर यह विचार आने लगा कि हाय! इनके अपराध से क्योंकर छूट सकूंगा, इसी विचार से वह एक दम घोड़े से नीचे उतर पड़ा और उनकी सेवा मे बिनती करने लगा कि मुने! आपके मृग को मारने का अपराध मैंने किया है। निस्संदेह मैं आपका अपराधी हूं। बार बार विनय पूर्वक आपसे यह भीख मांगता हूं [यह कुछ ही काल के अनन्तर आत्म दर्शन का साक्षात्कार पाने वाला है जिससे अब यह नम्रताकी सीढ़ियों द्वारा मानो वहीं पहुंचने का प्रयोग कर रहा है,] राजा ने यह समझा है कि मेरे पुण्य ओछे पड़ गये, मेरी धारणा पार न जा सकी, ऐसे पवित्र मुनि एवं समर्थ मुनिराज के शाप से क्यों कर छूट सकूंगा। इसे यह निश्चय है कि मुनि की ओर से मुझे शाप ही मिलेगा। नि अभी तक ध्यानस्थ

ही हैं, इन्हें किसी अकस्मात् की कुछ भी खबर नहीं है कि मुझसे कौन व्यक्ति क्या प्रार्थना करता है।

राजा बोला कि प्रभो! आप मेरी चाहे जैसी दशा बना डालें मैं सब प्रकारसे सहने को तैयार हूं। तथापि मेरी दो बात सुनल। मुनि अबतक समाधिस्थ हैं। मात्र थोड़ा सा दृष्टिपात हुआ है जिसमे राजा की आलोचनात्मक चेष्टा को देखा है। आँख से आंख मिलते ही मुनि समझ गये कि यह शिकार के लिये आया था और एक मृग का बध भी कर डाला। यह मृग मरा पड़ा है, मेरे पास ही तो है। अहा हा! ये मुनिराज बड़े विचक्षण हैं। ज्ञानी मुनि देशकाल के जानने वाले हैं, शिकार के प्रसंग से इसके मन मे भय हुआ है। यह मेरी ओर की आगामी कठोरता से डरा हुआ है परन्तु साधु-हृदय इतना कठोर नहीं होता। फिर भी यह तो दीन भाव से खड़ा है। मृग मेरा नहीं है, न ही यह कह सक्ता हूं कि मृग मेरा ही है। इन दो बातों का सुलझेड़ा होना आवश्यक है। बस यहां इसी योग्यता को देखना है कि मुनि कौनसा मध्यम मार्ग निकालने वाले हैं। राजा खड़ा खड़ा उपदेश के योग्य दीनता दिखा रहा है यदि मुनि यह कहदें कि घबरा मत! मृग मेरा नहीं है! तब यह कान दबाकर चुप चाप चला जायगा। मृग को अपना कह ही कैसे सकता हूं। तब समभाषा निकाल कर ज्ञानी उसे विचार तुला मे तोलते हैं। क्या हृदय पकड़ कर कुछ थोड़े ही बताया जा सकता है। ज्ञानी जन तो देख कर तुरन्त अनुमान लगा लेते हैं, जिसमे प्रसंग और हित के विना की वाणी को ज्ञानी पुरुष किसी दशा मे नहीं निकालते ये ताड़ गये कि मृग का शिकारी है, तथापि यह पात्र जीव अवश्य है। इसी कारण कुछ भय की बात नहीं। वर्ना कठोर और निष्ठुर

बनने में क्या विलम्ब था। वह कह सकता था कि मृग मेरी हद में था, मेरा खेत चर गया, मैं उसका अधिपति हूं, मुझे रोकनेवाला कौन! यदि इस प्रकार अहंकार आजाता तो मानका थंभा बन जाता जिससे झुकना कठिन हो जाता। क्योंकि उलटा कभी सुलटा नहीं जाता। इतना और अनुकूल है कि स्वयं नम्र तथा विनीत हो रहा है। किसी अंश में त्याग के लक्षण झलक उठे हैं इसने मुझे अपनी अपेक्षा बहुत बड़ा समझा है। मुझ भिक्षुक को देखकर बडप्पोलापन या राज्य का मद गल गया है। प्रत्युत मेरे त्याग के प्रति आदर भी करता है और प्रेम-भक्ति का बादल उमड़ आया है। स्वयं त्याग के माग में चलने के लिये बद्ध चेष्ट है। राज्यभोक्ता और विलासी जीवन पाकर भी मुझसे डर गया तथा डर जाने में मेरे ओर का धर्म प्रेम ही इस प्रसंग में निमित्त कारण है।

मुनि की आंखें ऊपर उठीं और राजा पर दृष्टि पड़ी। वे ममता भरे मनोहर शब्दों से बोले कि पार्थिव! तुझे मेरी ओर से अभय है। यद्यपि पात्र-योग्य-विनीत-निरभिमानी आदि सब गुणों से समृद्ध है तथापि इस समय मुझसे डर रहा है परन्तु मुनि का कर्तव्य कर्म-दहन करने का है। तुझे अज्ञता से यह भास रहा है कि 'यह मुनि मुझे मार डालेगा' या 'शाप देगा' मात्र यह भ्रमणा है, त्याग को न समझने के कारण यह धारणा उलटी है। मुनिने यह समझा है कि राजा इस समय मुझसे अत्यन्त भयभीत है पर इसे सरल-सोधा और स्पष्ट उपदेश करूंगा तो इसे स्वीकृत न होगा। इसी उद्देश्य से सर्व प्रथम ये शब्द निकाले कि राजन्! तुम मुझसे सर्वथा निर्भय और सुरक्षित हो जिसे सुनकर राजा को यह निश्चय हुआ कि मैंने तो मृग मारने

का अपराध किया था फिरभी यह दयालु मुनि मुझे माफ़ कर रहा है साथ ही शान्त भाव से मुझे अभय प्रदान कर रहा है। इस पर राजा को दो प्रकार का भान हुआ वह यह कि प्रथम तो भयभीत जीवन का स्वरूप जानने को मिला, अभय की ओर जाने से भयभीत पन को जान सकता है। अभय के आनन्द की तुलना से भययुक्त जीवन कैसा होता है इसको निश्चित कर लिया। भय के स्थान मे अब अभय के स्थान को देखा। सत्य है जिसे स्वयं भय रहित होना हो वह औरों को भय और त्रास क्यों कर दे सकता है। मुनि तो मृग बध की बात को छोड़कर 'मेरे अभय की बात कहता है'। आहा हा! क्षमा और शान्ति की जीवित मूर्ति है। यह कहता है कि 'मुझसे तुझ को अभय है'।

दूसरी बात यह है कि तू भी अभय दान देने वाला हो, इस प्रकार भय और भीति से मुक्त करके मानो अभय देने का उपदेश किया है। स्वयं अपनी ओर से अभय का आरंभ करने को कहता है। कितना सरस तथा आकर्षक उपदेश है। भला रुक्ष उपदेश होता तो क्या पल्ले पड़ता। × × ×

राजा के मन में यह विचार आया कि मुनि ने अभयवचन देकर मुझे पूर्ण संतुष्ट किया है, साथ ही यह भी कहता है कि औरों को भी अभयकर मृग की तो बात ही छोड़दी। यह भी न कहा कि 'मेरा मृग था' 'तूने इसे निरपराध को क्यों मारा'। दोनों बातों को छोड़ अन्दर से तीसरी बात तो निकाल कर पैदा की, फिर वह भी कितनी हितकर तथा कल्याण प्रद, इसी का नाम विचक्षणता है। मृगकी बात तक भी न छेड़ी। जिस से राजा को कभी यह न हो कि मृग इसका है। मुनि और भी कहता है कि राजन्! यह देह अस्थिर और अनित्य है। अनित्य वस्तुओं के समूह मे

शिकार खेलने के हेतु मे क्यों तत्पर है। यह देह और जगत् सब अनित्य है, खेद है कि फिर हिंसा के लिये सज्जित है। यह कह कर संसार का स्वरूप समझा दिया। उपालंभ कहो या उपदेश कहो प्रसंगोपात्त वही सारगर्भित बात ले आये। मृग मेरा है या नहीं यह कहना ही न पडा। कदाचित् आज का संसार इसे माया कहेगा मगर यह तो विचक्षणता पूर्वक सुननेवाले की जिम्मेवरी पर उत्तम उपदेश होगया। यदि मात्र छोटा प्रसंग देख कर विवेक और विचार का आश्रय लेना न आवे तो इसे कपट और माया कहा जा सकता है। नम्र और अभिमानी की भाषा चाहे एक है तथापि भाव मे बड़ा हेर फेर है। माया और विचक्षणता समान लगने पर भी आशय मे अन्तर है। राजन्! अनित्य देह-राज्य-लक्ष्मी-यशःकीर्ति कितने समय तक टिकेगी और इस अनिष्ट हिंसा के फेर मे क्यों आ पड़ा।

राजा यह भी समझ गया कि अब तो हिंसा की बात भी आ गई है कि क्या कुछ हिंसा का कार्य महत्वशाली है ? जिससे तू इसी मे तत्पर है।

प्रथम अभय अर्थात् जीवनदान अर्पण कर दिया और फिर विवेक सहित ज्ञानका सुन्दर उपदेश किया, दृढ़ और अभिमानी-उड़ाऊ और उदार, माया और विचक्षणता अज्ञान पुरुष के लिये समान है किन्तु भावकी अपेक्षा बड़ा अन्तर है। विचक्षणता को अज्ञानी जन माया मे गर्भित करते है, परन्तु ज्ञानीका यह पहला स्थान है। अगलेका हित कहा है और अहित कहां टल सकता है ? यदि इसे विचक्षणता पूर्वक न जान सके तो वह मरते समय आत्मा की वृत्ति को दबा देने का उपाय क्योंकर जान सकेगा ? ज्ञानियों को मौत के समय ज्ञान हो जाता है और

चाहे आयुष्यकी खबर पड़े या न पड़े परन्तु अन्तरकी विवेक शक्ति से जो प्रसंगको जानता है वह मृत्युके समय भाव के पलट जानेसे देख लेगा कि ज्ञानी के मनमे एक ऐसी भी श्रेणी उत्पन्न होती है। इससे ज्ञात होता है कि देहका पतन होने वाला है। इस प्रकार के सादे विवेकमें प्रवर्त रहा है। यदि वह इतना भी न जान सके तो अपने मरण के समय मृत्यु का काल जान कर समाधिभाव कैसे प्राप्त कर सकेगा, गर्दभाली मुनि ने विचक्षणता का उपयोग किया है किन्तु माया-कपट का नहीं। बस यही बात कहने की थी, इस के अनन्तर राजा तो अपना सब कुछ छोड़कर सन्त होगया तथा उसी जन्म में मोक्ष को पाया। × × × परदेशी राजा की बाबत प्रधानसे यह न कहा कि 'तुम उसे यहा ले आओ' यदि इतना कह देते तो समाज मे शोर मच जाता कि ये मुनिराज अधर्मी-विवेक हीन पापिष्ट राजा को बुलवाकर उस का करेंगे क्या ? अत एव मुनि कहते हैं कि अरे चित्त! (जीव!) चार कारणोंको पाकर यह जीव वीतराग के धर्म को सुन नहीं पाता।

(१) जिस मे अध्यात्मज्ञान की मस्ती प्रगट होगई है वही आध्यात्मिक साधु होते हैं, जिनमे ज्ञान दर्शन चरित्रादि गुण प्रकाशित हैं और इसी भावके आधार पर जो अपना जीवन बिता रहे हैं। 'मा हन, मा हन', शब्द घोषित करते हुये जो हिंसक उपदेश का भी निषेध करते हैं। इसी भांति आत्म धर्मको पाकर संसारमें बसने वाले जो भी श्रमण हैं वे सदैव अप्रतिबंध विहार करते हैं, जिनमे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी कोई प्रतिबंध (रुकावट) नहीं है। अपना जीवन निर्दोष बिताते हैं, हे चित्त! जब ऐसे मुनि वन मे पधारे हों और जो जीव उनके सन्मुख न जाय, उनकी वंदना भी न करें, सत्कार और सन्मान न करे 'आप कल्याण और मंगलके

करने वाले हैं" यह कह कर सेवा का भाव प्रदर्शन न करे, न कुछ प्रश्न-अर्थ या हेतु ही पूछ सके कि तुम्हारा नकारा अलग क्यों बजता है ? मार्ग भेदके भाव क्या क्या हैं ? इस स्वभाव का प्राणी हे प्रधान ! धर्म को नहीं पा सकता ?

(२) बजाज कपड़ेकी गांठको लेकर बेचने जाता है तब उसका कितना मूल्य घटता है ? और कितना बेचेगा ? मगर जो गाहक दुकान पर जाता है उससे तो पूरा मूल्य मिलेगा। इसी प्रकार मुनिओंको भी कुछ गरज नहीं है कि किसीके पास जा कर किसी को बुलाने जायँ। हे चित्त ! वह वन्दना करने न आवे तो धर्मको नहीं पायगा।

यदि कोई कहे कि वे कहां कितनी दूर हैं, अधिक प्रवृत्ति वाला वन में इतनी दूर क्योंकर जा सके ! पर यदि मुनि उपाश्रय में हों और वहां जाकर भी वन्दना न कर सके या सामने लेने न जाय, प्रश्न तक न पूछे वह भला धर्म का संस्कार क्योंकर पा सके। इस दूसरे बोलमें भी साधु मकानके अंदर है। शायद वहां कोई न जा सके तब !

(३) आहार के समय साधु गोचरी के लिये गया है, उस के घरमें प्रविष्ट हुआ है, अब तो मुनि उसके समीप आगये हैं, तथापि कुछ न पूछा अर्थात् इस प्रकार आहार लेनेका क्या कारण है ? आप कुछ समय के लिए यहां बैठिएगा। इस प्रकार पूछनेपर भी उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन यदि वहाँ भी वह गूंगा बन जाय और किसी अन्य से कहने लगे कि इसे कुछ दे दो। मगर यह पूछे कि तेरे और इस के जीवनमे क्या अन्तर है। पूछेगा तब ही ज्ञात होगा न ? मगर वह न तो आहार देता है न पूछता है। ××× एक दाना अन्नका या वनस्पतिका जरा सा टुकड़ा भी यदि पैर के नीचे दब जाय तो उसके घरसे वह साधु आहार नहीं लेता

बल्कि घर ही अविधि हो जाती है। यदि वह यथा समय इसका ही कारण पूछ ले तो भी उसे कुछ परिचय मिले कि हम लोग जो काले कारनामे करते हैं इन सब कुकर्मोंका आगे क्या हाल होगा? भला विचारिये कि-वंदना न करे, आदर न करे, प्रश्न न पूछे तब ज्ञान क्योंकर हो पाये।

(४) दैवयोग से साधु गोचरी के लिए जारहे हैं वह यदि मार्ग या बाजार मे किसी स्थान पर मिल जाय। उस समय बहुत से भाग्यशाली विनीत पुरुष मुनि को देखकर गली के आगे खड़े हो जाते हैं। कदाचित् मुनि यह पूछ बैठें कि भाई! उपाश्रय मे आए कितने दिन हुए! परन्तु साधु को इतना कुछ कहने से भी क्या मतलब। लेकिन जब यह स्वयं ही डर जाता है कि शायद ये मुनि यों न कह दें कि क्यों नहीं आता। हे चित्त! चौथे बोल के अनुसार वह सामने मिला हो उस समय वह कह बैठे कि, कब आए थे? तब भी धर्म का लाभ पासकता है। परन्तु मुनिको देख कर मुंह फेर ले, और आगे चलाजाय भला वह धर्मपरिचय क्योंकर पा सकता है।

इन चार बोलों के अनुसार कहीं भी भेंट न हो तब उसे धर्म सबंधी शिक्षण कैसे दिया जाय' इस प्रकार धर्म पाने के ये चार लक्षण कहे गये है।

परन्तु चार अनुकूल वर्ताव के लक्षण भी होते है और वे यों बताए हैं।

(१) मुनिओं को नगर प्रवेश करते समय सामने आता है, (२) दर्शन-वन्दना करने आता है, (३) कुछ पूछने की जिज्ञासासे आता है, (४) आहार के समय मिलता है तब यदि आंख मे शर्म हो तो धर्म शिक्षा पा सके। इसी प्रकार तुम्हारा परदेशी राजा बन

में न आता हो, न मकान में आकर मुनिओं से मिलता हो, न गोचरी के समय मिलता हो, वहां प्रश्न भी न पूछता हो, न कहीं बाजार में या मार्ग में मिलने का अवसर हो तब उसे धर्ममार्ग में क्योंकर लगाया जा सकता है ?

प्रधान—भगवन् ! मैं एक बार किसी न किसी युक्ति प्रयुक्तिसे राजा को ले तो अवश्य आऊंगा । हमारे राज्य मे कम्बोज देशके चार घोड़े उच्च जातिके आये हुये हैं, घोड़े जाति सम्पन्न है । किसी ने भेंट में दिये हैं । इसका आशय यह है कि परदेशी शब्द से आत्म-लक्ष्मी को चूकने वाला व्यक्ति है परन्तु चित्त के द्वारा उसे सुनने का संयोग होता है, लेकिन यदि मन न हो तो सुनने का सौभाग्य कैसे मिले । अनादिकालसे विषयराग द्वारा अपना अस्तित्व टिकाये रखनेकी धारणासे यही समझ बैठा है कि आहार न खाऊंगा तो मरजाऊंगा तब ! पर क्या वास्तव मे यह आत्मा मर जाता है ? नही यह तो अपने इस शरीरको 'मैं' मानता है । शरीर का न टिकसकना कहे तो किसी हद तक सही भी होता परन्तु 'मैं' मर जाऊंगा यहां आत्मस्वरूप का भान नहीं है यह स्पष्ट है । सब परदेशी आत्मा मन के उलट फेर मे पड़कर अनादिकाल से चार गति मे रुलते आ रहे है । मन और शक्तिका संयोग होने पर भी नहीं उठता, किन्तु चार गति के भ्रमण को देखकर या देखने के लिये खड़ा हो जाय तो जान सके । इसी दृष्टि से यह राजा भी देखने के लिये खड़ा होगा ।

चित्त—हां तो प्रभो ! चार घोड़े आये हैं, उन्हें रथमे जोतकर राजा को उनका वेग दिखलाऊंगा । इस बातको मैं बहुत पहले कह चुका हूं । यदि अब कहता तो शायद कुछ वहम खड़ा हो जाता, अतः पहले ही कह दिया है । इन घोड़ों के बहाने से मैं आपके पास

उपस्थित कर दूंगा । देव ! वल्लभ ! साथ ही यह भी कहे देता हूं कि आप उसे भली प्रकार धर्मोपदेश कहना । यह तो आप ने भी सुना होगा कि वह बड़ा अधर्मी है । यह मैंने सावत्थीमें भी कहा था कि मुझ से अधिक कुछ नहीं हो सकेगा पर हाँ घोड़ों के बहाने आपकी सेवामे अवश्य ला छोडूंगा, इस निमित्त साधनके अतिरिक्त और कोईउपाय नहीं परन्तु प्रवाह उलटा अवश्य है उसके उपस्थित हो जाने पर आप जैसे उचित समझें कहें । इसका ध्यान न रखना कि राजा को क्या बात अच्छी लगती है ! निधड़क आपको जैसी बात योग्य जंचे वही कहना । इतनी बडी सुपुर्दगी देने का कारण यह है कि चित्त राजाको मुनिराजों के सहवास मे अवश्य लायगा, तब सभा को विश्वास होगया कि किसी अनिष्टके होने की संभावना तो न होगी । परन्तु साधु भी यह नहीं कह रहे कि मैं राजाको इस प्रकार उपदेश करूगा । पर हां इतना अवश्य कहा है कि हे चित्त ! यथा-अवसर सब कुछ कहा जा सकता है ।

प्रधान—तब भगवन् ! कल किसी समय इसी बहाने से लाऊंगा । यह चार गति का वेग जान जाय तो अवश्य थक सके, भव भ्रमणमे भटकता हुआ भी न थके तो उसे क्या कहा जायगा। परन्तु वेगका अनुभव हो जाय तो चित्त के द्वारा इतना निश्चय अवश्य होगा कि अब तक चार गति का घूमना फिरना हुआ सो हुआ,पर अब न होने पायगा, यह कह कर चित्त जिन प्रकार चार घोड़ों के अनुपम रथ पर आया था उसी भाँति वह यथास्थान चला गया । × × × × × × ×

अगले दिन प्रातःकाल होते ही आवश्यक क्रियाओं से निवृत्ति पाकर प्रायश्चित्त और आलोचना करते हुये कायोत्सर्गादि द्वारा शुद्ध होकर परदेशी राजा के पास आया और निवेदन किया कि पृथिवी-

नाथ ! एक बार आपने शायद चार घोड़ोंका जिक्र किया था, अतः आज घोड़ों का वेग देखा जाय तो क्या ही अच्छा हो ।

राजा—तब तुम स्वयं ही घोड़ों को सजाकर रथ में जोत लाओ। चित्त को जिस विषय की पूर्ण आवश्यकता थी वह सब काकतालीय न्यायवत् बन गया। इसे सुन वह आनन्दित हो उठा। शंका—केशी मुनि ने जो कुछ कहा था उस में तो विनय और नम्रता थी साथ ही वह विचक्षणता की विधि कहलाई न कि माया की । परन्तु चित्त प्रधान ने घोड़ों का वेग देखने के लिये 'चलो' कह कर 'लाऊंगा' यह शब्द कहा तब क्या उसने माया (छल) का सेवन नही किया कहलायगा ? तथा क्यों आश्रय लिया ? कोई न कोई अवश्य कहेगा । पर इधर प्रधान समदृष्टि है, वह हेतु-न्याय और उद्देश्य को भी समझता है और देश-काल के अनुसार समाचरण भी करता है तब वह माया क्योंकर कहला सकती है।

चित्त सात हजार ग्रामों का प्रधान है तब भी वह प्रातःकालमें आवश्यक-प्रतिक्रमण करने के हेतु अवकाश लेता है । 'जहां चाह वहां राह' की उक्ति के अनुसार जिसे जिसकी ठीक आवश्यकता प्रतीत होती है वह आवश्यक साधनाके लिये पूरा पूरा समय बचाकर उसमे पुरुपार्थ किये बिना उसे भला कब चैन पड़ने लगा । बहुतसे डाक्टर यह बचाव करते हैं कि हम उपकार करने के लिये हैं तब क्या वे उक्त उपकार बिनाही रुपया ग्रहण किये करते होंगे? अपनी इच्छा पूर्ति करने वाली वृतियों को उपकार कहने वाला पुरुप स्वार्थ से अछूता किस भाँति रह सकता है ? परन्तु इस प्रधान में स्वार्थ तो नाम मात्र को भी नहीं है और रात रात भर यही सोचता रहता है कि मेरे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तप तथा इच्छा निरोध व्रत मे कहीं

यत्न करते हुये भी सबलना तो नहीं हुई है? यही विचार कर सवेरेकी सामायिक (प्रार्थना)मे आलोचना द्वारा अपने पाप मैलको निकाल देता है, साथ ही यह भी सोचता है कि सवेरे सांझ की क्रिया में कहीं कुछ त्रुटि तो नहीं आई है। मुझे जो कुछ ज्ञान हुआ है उस में पुरुषार्थ कितना करता हूं और न्यूनता कितनी रह जाती है बस यह भी विचार और न्याय की तुला मे तोल लेता है। आवश्यक-आत्मा में पूर्व के आवरण को लेकर स्खलना कहाँ, कैसी होती है उसे देखने का न्याय भी उपयोग मे लाता है। दूसरी रीति से इसका यह अर्थ भी होता है कि आ=अर्थात् सब प्रकारसे आत्मा में रहने वाले स्व स्वभावरूप आवास (महल) में रहना है (निवास करना है), अथवा अवश्यमेव करने योग्य कार्य का नाम भी आवश्यक है। अपने में किस २ स्थल पर शिथिलता आई है इसे निरन्तर नष्ट करनेका प्रयास करना भी आवश्यक कहलाता है।

सात हज़ार ग्रामों का अतिरक्षण-कर्ता प्रधान भी निवृति को पा लेता है तब हमे धर्म की साध मे निवृत्ति क्यों नहीं होती? हां विकथा करने मे, समाचार पत्र पढ़ने में, तथा लड़कों की सगाई आदि कामों मे निवृत्ति कैसे मिल जाती है। बात स्पष्ट है कि उन कार्यों को हम लोग आवश्यक मान बैठे हैं, दुनिया अपने विचार निर्णय की अपेक्षा जिसे क़ीमती समझती है उसे समय बचाकर भी करने का उद्योग करती है परन्तु जो धर्म के मूल्य को आंकता है वह धर्म कार्य के लिये समय बचाये बिना क्योंकर रह सकता है? और जो धर्म के कार्यों के अर्थ समय बचाते हैं वे मरते समय यह नहीं कहते कि अभी तो बहुत कुछ करना बाक़ी था।

सात हज़ार ग्रामों का यह न्याय मन्त्री है, यह न्याय तुला से तोल करता है कि मेरा युक्त और अयुक्त कर्म कितना है। इस

का सब से अधिक ऋद्धिमान् होकर फिर इस ओर लगन रखना कितनी मौलिकता है। इसके समान वैभव आज शायद ही किसी के पास होगा तो भी इतना बोझ बढ़ चला है कि चित्त में अशान्ति और उद्वेग का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। फुर्सत का यह हाल है कि तेली के बैल की तरह २४ घंटे घूमता है मरने के लिये भी अवकाश नहीं तब यह चित्त बेखटके निवृत्ति एवं शान्ति का लाभ लेता है। अपनी आवश्यक ध्यान की श्रेणी मे बैठा है। अमुक पदार्थ मुझे न चाहिये, अमुक दिशा मे न जाऊंगा इस भाँति अपनी वृत्ति का संकोच करता हुआ आत्मा को जागृत करता है, सूर्योदयके समय तथा सूर्यास्तके समय अपने आवश्यक नियम का पालन करना मुख्य कर्तव्य समझता है। मगर आज कल के लोग तो यही कहते कहते मर जाते हैं कि 'हम को समय नहीं मिलता'। मगर इस प्रकार कहने वालों का बहाना कब तक चल सकेगा। खाने-पीने-सोने-विकथा करने, नहाने धोने में तथा विषय वासना की पुष्टि करने वाले नाटक-सिनेमा देखने मे कितना समय नष्ट किया जाता है जिसका कभी विचार तक नहीं आया है। तब यह स्मरण रहे कि एक आत्मा का तत्व ही रह जायगा, देह की राख होकर ढेर हो जायगी। नौकर और अधिकार सब बादल की तरह बिखर जायँगे। × × ×

सवेरे ही शान्त होकर न्याय की तुला-दृष्टि से गुण दोष का पृथक्करण करके जिसमे भी दोषों का उत्सर्जन करता हुआ वह परदेशी राजा के पास आगया।

देव! वल्लभ! आदि सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया [यह राजा अधर्मिओं का शिरोमणि है तब उसे देव वल्लभ क्यों कहता है? क्योंकि मनुष्य जन्म देवों को अति प्रिय है। यह चाहे अधर्मी

है फिर भी तेरे समान देह देवों को अत्यन्त प्रिय है। इस का स्मरण करानेकेलिये देव वल्लभ का संबोधन किया गया है] और बोला कि कम्बोज देश के चार घोड़े आये हैं जिनका वेग हमें आज अवश्य देखना है।

अनादिकाल से विना मनके भव [जन्म] मिले थे तब चार गति हैं या नहीं? इसके संबंध में कुछ भी ज्ञान न था। अब मन होते हुये भी किसी ने चार गतिओं का ज्ञान कराया है इस लिये अब उसे चार गतिओंका ज्ञानभी हुआ और वह चित्तके द्वारा हुआ है, अतः अब चित्त कहता है कि चलिये आज चार गति की गति देखिये। पहले मन रहित होकर तीन लोकको संनिहित करने का ज्ञान न था। चित्तके द्वारा सुनकर भी विचार नायक सोचता है कि अहो! मैं अब तक अनन्तकालसे चार गतिमे भ्रमण करता रहा मगर चार गतिका रहस्य नहीं समझ सका तब जरा आज इस के द्वारा इस के कथनानुसार चार गतिका स्वरूप तो देखूं! भाव में चार गतिएँ किस कारण से होती हैं। एक एक गति के पानेमें चार चार कारण हैं। उन की परीक्षा करने से यह पता चलता है कि इन कारणों को अनादिकाल से सेवन करता आ रहा है। तब अब तक बाक़ी क्या रहा है? इस प्रकार चार गति के कारणों को तथा बंधनों को परख लेने पर वास्तविक ज्ञान होने का कारण बन जाता है। × × ×

अनन्तकाल से अपनी ऋद्धि को खोकर पर-ऋद्धिको अपनाने वाले ये परदेशी अब चित्तके द्वारा शीघ्रही बोध पानेवाले है। ××

राजा ने यह स्वयं कहा है कि तुम खुद चार घोड़े वाला रथ सजाकर तथा स्वयं रथवान् बनकर आओ, चित्तको सारथी बना कर मनकी लगाम हाथमें लेकर चार गतिओं का वेग देखता है।

यह प्रत्यक्ष घटना घट चुकी है फिर भी आध्यात्मिक अर्थमें घटाने के लिये इस प्रकार से भी फिट बैठाई जा सकती है।

चित्तको विचार आया कि अब तो मन चाहा होगया। इस साध को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और तुरन्त रथ तैयार कर लाया। राजा वस्त्राभूषण पहन कर रथ मे सवार होगया। नगर के बीचों बीच होकर रथको वनमे खूब ही दौड़ाया, अनेकानेक योजन रथ और घोडोंको भगाया गया। प्रधानने इस समय यही विचारा कि यदि राजा थक जाय तब कुछ नकारमे कह डाले तो उसके कहे अनुसार रथको वापिस फिराया जायगा। गर्म हवा और धूप लगने से राजाका कंठ सूख गया, प्यास लग आई, तब चित्त ही से कहा कि बहुत थक चुका हूं अब रथ को वापिस लौटा दे। अनादिकाल से रथ के चक्र का परिभ्रमण हो रहा है परन्तु अब आकर चार गतिके निरन्तर दुःखसे नाको दम आगया तब वापिस मुडकर यथास्थान आने की जिज्ञासा हुई तब ही तो कहता है कि रथ को मोड, जहा तक हो सके जल्दी कर, विलंब न कर, यह सब बातें कितनी उत्सुकता पूर्वक हुई हैं।

अनेक विपरीत कर्म अनन्तकालसे करता आया है, यदि इस भाँति का लक्ष्य हो तो सत्यमे धीरता रख सके। इसने चार गतिमे संसार का अटन किया है जिसमे अनेकशः पाप किये हैं, अब तो आत्म-स्वरूप का भान करके सत्य मार्ग मे धैर्य रखकर चलना चाहिये। अनादिकालके प्रवाह को बदल, रथ को वापस मोड, यदि यह बदल गया तो वह आत्मस्वरूप [आत्म-ज्ञान] को पाकर ही चैन लेगा। अनादिकाल तो बीत गया किन्तु अब तक रथ को वापस नहीं मोड़ा, अधर्म और हिंसा की गाड़ियें हाँकता रहा है, परन्तु जब जीव दुःख से घबरा कर रुक जाता है तब भावना मे

ब्रह्मचर्य का प्रमुख गुण आ सकता है, विशेषमें आत्मज्ञ शास्त्रकार यह कहते हैं।

पात्र बिना वस्तु न टिके, पात्र में आत्मिक-ज्ञान।
पात्र बनो सेवा करो, ब्रह्मचर्य मतिमान॥

ब्रह्मचर्य—आत्म भाव में रमण करना परभाव से पराङ्मुख होना ब्रह्मचर्य का लक्षण है। पाँच इंद्रिय के विकारों का छोड़ना भी ब्रह्मचर्य है। यदि स्थूलभाव से समझें तो स्त्री के साथ स्पर्शेन्द्रिय से संभोग न करना भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। एक बार स्त्रियों के विषयमे कनफाड़ी शब्द कह कर उपमा दी गई जिसपर नवयुवक भड़के उठे परन्तु शास्त्रकार तो स्त्री को ६६ उपमाएँ देते हैं जिसमे वाघनी शब्दका प्रयोगभी किया है परन्तु यह उपमा भगवती सती स्त्रियों पर लागू नहीं होती। वास्तव में आत्मा क्या है? इस विषय में आत्मज्ञों का मत इस प्रकार है, जैसे—

अवधू अनुभव कलिका जागी, मति मारी आत्म स्मरण लागी।
ना हम माणस ना हम नारी, बरनन भ्रांति हमारी॥
जाति न पांति न साधक साधन, लघु न हम कुछ भारी॥

आत्मज्ञ कहता है कि मैं स्त्री पुरुष जैसा व्यक्ति नहीं, मेरी कोई वर्ण व्यवस्था नहीं है, न मैं भंगी हूं न मैं ब्राह्मण हूं, ये सब कर्म विकार हैं, पर स्वभावमे कोई भेद नहीं है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, इसमें साध्य साधक कौन है। जोभी कुछ है वह अखण्ड-चैतन्य-पिंड-निर्विकार आत्मा है, इसमें कुछ भेद नहीं, आत्मा की अंतर्दृष्टि यदि जग जाय तो उसे एक ही भाव से देखने लगे। पर जो शब्दसे ही भड़क उठे अर्थात प्रतिकूल शब्द सुनकर खेद प्रगट करे तो वह अज्ञानी पुरुष समझा जाता है। बहुत से यह भी कहते हैं कि हम शरीर को आत्मा नहीं मानते तथापि जब विरोधी

शब्द का खेद होता है वह जड शब्दका आरोप अपने ऊपर लेकर आत्मा को पराधीन बना देते हैं और जब यह शब्द के पराधीन होता है तब शब्द "बोलता हूं" इस रूप में परिणत हो गया। वह उसे मानता भी जड़ ही है, 'शब्द मेरा भला करता है या बुरा' इस प्रकार से मानने वाले व्यक्ति अज्ञानी हैं। पर ज्ञानी को वाक्य का आग्रह नहीं होता मगर जिस में आत्मज्ञान का पूर्ण निश्चय न हो उन लोगों में ही शब्द के झगड़े चलते हैं।

वाघणीकी संज्ञा स्त्रीको दी गई मगर भगवती स्त्रियोंको नहीं। उदाहरण देते समय चाहे जैसे शब्द का प्रयोग क्यों न किया जाय परन्तु भाव न बदलने पावे। यदि कोई शास्त्रकार किसी वस्तु की उपमा दे और यदि कोई व्यक्ति शब्द को ही पकड़कर रागद्वेष करे तो समझिये कि ये जड़के लक्षण हैं।

पुरुष का विषयाग्नि तृण की आगके समान है जिसे सुलगते और बूझते अधिक समय नहीं लगता। तब स्त्रीका विषय बकरे की मैंगनी के आग जैसा है। उसमे जल की चिकनाई होती है इसलिये उसे आग शीघ्रता से नहीं पकड़ती और यदि उसमे आग घुसभी जाय तो भी उसमे से एकाएक निकल कर जल्दी बुझना कठिन है।

नपुंसकका विकार नगर के दाह जैसा होता है, अत्यन्त तीव्र विषय नपुंसकमें पाया जाता है, उससे मन्द विषय स्त्री में होता है उस से भी मन्द विकार पुरुप मे होता है। जब वह मैंगनी ग्निमय होती है तब जल्दी से बुझ जाने वाली नहीं, इसी भांति यह वृत्ति भी नहीं हटती।

परमाधार्मिक जिस प्रकार नारकीय को दुःख देने के लिये वैतरणी नदी बनाते हैं, जिमका कि पार करना अति कठिन होता

है। वीर राजा सिंह जैसे पशु का कान पकड़कर भी स्त्री के सामने बकरी बन जाता है। इसी भाँति और और पराक्रमी भी स्त्री के सामने असमर्थ बन जाते हैं। यह वैतरणी का उदाहरण किसी से छुपा नहीं है।

इस मानवलोक मे स्त्री रूपी वैतरणी है, इसका पार करना भी उतना ही कठिन और दुस्तर है। परन्तु गौण दृष्टिसे बहुतसे पुरुष विकार मे इससे भी अधिक बढ़ जाते हैं। अतः इसे एकान्त दृष्टिसे भी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त स्त्रिएँ रत्न की खान भी होती हैं, तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव जैसे अद्वितीय पुरुष इसी की कुक्षि से उत्पन्न होते हैं। तीर्थंकर की माता जब उन्हें जन्म देती है तब इंद्र भी पहले तीर्थंकर को नमस्कार न करके उनकी माता को ही नमस्कार करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि हे रत्न को कुक्षिमे धारण करने वाली जननी तुझे नमस्कार है। यह दीपककी भांति विलक्षण प्रकाश देने वाला है, इंद्र कहता है कि बहुत से जीव तैयार होकर राह देख रहे हैं कि यह पुरुष बड़ा होकर उपदेश करेगा। मातः **'पहले तुझे ही नमस्कार किया है'** यह स्तुति इंद्र स्वयं करते हैं।

परन्तु जिस समय जो वात हो रही है वही कही जाती है, स्त्रिओं के हाड़ चाम के अनुरागियों के लिये तो वह वैतरणी रूप ही है। इस लिये जीव को सब से पहले ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है परन्तु उन के विषय मे क्या कहें, वे ५० ६० वर्ष के होकर भी पर स्त्री से रमे विना नहीं मानते। घर संबंधी भोगोंसे तो क्या पीछा छुटना था।

ससार के सब कँगले यही सोचते हैं कि धनवान् हो जायँ तो सेवा कौन करेगा? यह सोचकर वह बैठ न रहेगा? मगर भइया

तुम तो तैयार हो जाओ ! इसी प्रकार यदि सर्वथा ब्रह्मचर्य प्रगट न हो तो पांच इन्द्रियों के विषय तथा राग द्वेष को ही घटादो यदि यह भी न होसके तो स्त्री प्रवृत्ति संबंधी मानसिक विकार को ही घटाइये, वर्ना नरक में वैतरणीका मिलना कुछ दुर्लभ नहीं है। संसार की विकारशीला स्त्री को इसी दृष्टि से जानना योग्य है। क्योंकि दुर्बुद्धिओं के लिये इसका पार करना दुष्कर है और इस वैतरणीरूप भोग को सुबुद्धिओं के लिये त्यागना कुछ भी कठिन नहीं है।

विषय की दृष्टि से मन और देह को सारी उमर न बिगाड़ा हो तथा नव बाड़ विशुद्ध-ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह आत्म-भावी पुरुष है। ज्ञातपुत्र-भगवान् महावीर कहते हैं कि जिसने देह से भी अखंडित ब्रह्मचर्य पालन किया है उसे भी वीतरागदेव भगवान् ही कहते हैं, कितने ही विवाहित पुरुष २०-२५ वर्ष की आयु मे सब कुछ छोड़ते हैं, बहुत से पौत्र-प्रपौत्र वाले ६० वर्ष के नरपशु होकर भी विषयाशा नही छोड़ते। ऐसे व्यक्तिओं को क्या कहा जाय। मगर त्यागी जीवन बनाने वाले बहुत कम हैं उनका वृन्द नहीं होता। एक पुत्र या दो पुत्र होने पर सन्तोषपूर्वक स्वदार का त्याग करदें तब भी इस महान् त्याग से कुछ न कुछ लाभ का कारण है। यदि इस प्रकार सन्तोष वृत्ति न करके सारी उमर इसी विषय-कर्दम में नष्ट करदें तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहजाता है।

विषयरूप आवेश से, टलत ज्ञानःऔ ध्यान।
थोड़े मदिरा पान से, जैसे बढ़े अज्ञान॥

मदिरा पीकर जिस प्रकार पागल बन जाता है उसी भांति विषय रूप अंकुर फूट कर जब बाहर आता है तब विषय सेवन

करने वाले का ज्ञान ध्यान प्रगट रूप मे भी नहीं रहता, अन्तर तो मानो कोयले की तरह काला हो जाता है। इस हृदय में से आत्म ज्ञान का संबंध न ठहरने से विषयकर्दम में फिसल बैठता है। अर्थात् उस आत्मा में आत्म ज्ञान इस प्रकार नहीं ठहरता जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र विना अन्य पात्रों में नहीं रह सकता। ठीक तो कहा है कि त्रिलोकीनाथ की वाणी को टिकाने के लिए ब्रह्मचर्य रूप पात्र की आवश्यकता है। विषय सेवन के विना सारी उमर बिताई जा सकती है। विषय सेवन करने वालों से न करने वाले अच्छे देखे जाते हैं। परभवका परिवर्तन करते समय नीरोगता उत्साह यथा समय काम आते हैं। उत्साह का अवतरण सफल जीवन लेकर जाता है, इस प्रकार कहकर ब्रह्मचारी बड़े हौसले से मरता है। विषय सेवन करने वाले हाय हाय कह कातर मरण से मरते हैं। मरते समय तक भी जिसे ब्रह्मचर्य का विचार नहीं आता हो तो भगवान्‌ने उसे रौद्रध्यानी कहा है।

बहुत से यह कहा करते हैं कि 'भोगों को भोग कर फिर बिल्कुल त्याग कर देंगे परन्तु इतना मनोरथ पूरा होना असंभव न सही कठिन अवश्य है। आग में काठ को डाल कर उसे उत्तेजित करने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? प्रत्युत वह प्रदीप्त होकर क़ाबू से बाहर हो जाती है अतः अपनी प्रवृत्ति को अभी से मोड़ डालो, इच्छाओं को रोको, परिणामों को बदलो। 'ब्रह्मचर्य की अमुक स्थिति तक बड़ी आवश्यकता है' ऐसी मान्यता रक्खो। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में प्रमाद के स्थानों का वर्णन किया है जिस मे स्त्री को भी दोष का स्थान बताया है। अधिकांश स्त्री का पुतला दोषों का घर नहीं है बल्कि रागिओं की दृष्टि ही दोष का स्थान है विषयों

में सन्तोष करके स्त्री का त्याग करने वाले दो भुजाओं से स्वयम्भूरमण समुद्र को तैरने वाले तैराक कहाते हैं । तब फिर उसे छोटे २ तालाब और नदियों का पार करना तो सुगम है । अर्थात् फिर और दोषों का जीतना कुछ कठिन नहीं है । × × राजा रथ में बैठा है, चित्त प्रधान रथ का संचालक है, अब राज मार्ग पर घोड़ों का वेग कम करदिया । गर्म हवा के थपेड़े खाकर प्यास से व्याकुल होकर राजा ने कहा कि अब अपने घर लौट चलिये ।

परदेशी रूप मे आत्मा अनन्त कालसे अपने स्वरूप का भान भुला कर परभाव रागद्वेष इच्छा विकार वासना काम भोगादि में स्वायत्व मान कर मिथ्यात्व सेवन करता आ रहा है उसे परदेशी भी समझा जाता है ।

स्वदेश स्वभाव अनन्त सुख अनन्त वीर्य का लक्ष्य चूक गया है, जिसे फिर पर पदार्थ में मीठा स्वाद आता हो वह भी परदेशी है इसी रीति से रुलता हुआ जीव अपने अखंड स्वरूप का भान जहां तक न कर सके वहां तक सब परदेशी हैं । वह चारगति के चक्र मे विना मन के भी घूमता है । परन्तु चित्त के मिलते ही मन द्वारा यह माप निकालने जाता है कि चार गति मे किस प्रकार रुला हूं । इतना बोध होने पर वह सहसा थक जाता है तथा यह कहता है कि बस अब तो बहुत हुई । अनन्त काल तक बड़े दुःख सहे हैं । जन्म मरण के कष्टों का अपार अनुभव किया है जिससे व्याकुल होकर थक गया हूं । अवस्था भी बड़ी शोचनीय है इसी भाव को सब लोग आध्यात्मिक दृष्टि से व्यष्टि या समष्टि रूप से घटा सकते हैं ।

राजा कहता है कि मुझे थाक चढ़ गया है, वेग का क्या कुछ ठिकाना रहा है असीमित और बहुत है यह भाव चित्त द्वारा प्रति-

ज्ञात हो गया कि अनन्त काल से आत्मा अपने स्वभाव को भुला कर क्रोध मान आदि कषाय परिणत हो गया है।

सच पूछो तो आत्मा की पराधीनता ही दुःख का कारण या लक्षण है, विशेषतया स्वाधीन दशा सुखरूप है। स्वाधीन दशा को समझे तो दुःख क्योंकर हो परन्तु आत्मा को विभावपरिणमन में परवश होना पड़ा है, यह ही दुःख की बात है। चौरासी लाख जीवयोनि मे रुलते रुलते मन की प्राप्ति होने पर यह विचार आया कि चार गति मे इस जीव ने किस क़दर भ्रमण किया है ज़रा अब उस के वेग को देखें तो। इस वेग को मन की सुदूरदर्शिता से जब देखा तो मन भर गया। तब तुरन्त कह दिया कि अब वापस चलो। चित्त को भी यही एक चाह थी कि बिल्कुल थक जाय तो केशीमुनि जहां पर विराजित हैं वहीं कहीं उनके आस पास उतार दूं। यदि इसे साधारण श्रान्त होता तो कह देता कि बंगले चलो परन्तु इस बार तो इतना श्रान्त और क्लान्त होगया है कि शरीर मे बड़ी शिथिलता आगई। अनन्तकाल से राग द्वेषके रथ में बैठा था, वीतराग पुरुष राग-द्वेष और अज्ञानता को संसार के बंधन का कारण बताते हैं। संसार परिभ्रमण रूप रथ के दोनों पहिये राग और द्वेष ही हैं। ये दोनों भयानक चक्र हैं। वह भी इसी प्रकार के राग द्वेष मे बैठा है। विशेष रूप से निर्वेद अर्थात् संसार के विकार भाव से पीछे हटकर पुनः विचारश्रेणि मे रम कर कहता है कि अब वापस चलो। इसी कारण चित्त को कहता है कि भाई। वेग को बदल डालो। ठाणांग जी के तीसरे ठाणे मे कहा है कि शिक्षाएँ तीन प्रकार की होती हैं। वे इस भाँतिहैं।

तीन प्रकार की शिक्षाएं

(१) अपने आप को शिक्षा देता है,

(२) स्वयं-पर को शिक्षा देता है।

(३) दोनों को शिक्षा देता है।

यह अब सत्प्रवृत्ति (आत्मपरिणति) से प्रेरित हो कर कहता है कि अब तो परिणामों को बदल डालो। चित्त के द्वारा जो वेग काटा गया है उस की अब तनिक भी आवश्यकता नहीं। अमुक दुःख को देख कर वापस मुड़ गया। आचारांग सूत्र मे श्रीवीरप्रभु कहते है कि—

यदि अनन्तकालके हिंसा-चोरी-असत्य-मैथुन-परिग्रह-राग-द्वेष क्रोध आदि कषाय से यदि थक गया हो तो अब वापस लौट, तथा धीरता के उत्कृष्ट गुण को प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझ।

अपने को खुद भूल कर हैरान होगया।
फँस के माया फँद में वीरान हो गया॥

किसी ने बलपूर्वक आत्म-भाव नहीं भुलाया, बल्कि यह तो अपने आप ही राग-द्वेष-ममत्व-कषाय-अज्ञता-से भूला है। पराधीन दशा मे आनन्द मनाने वाले की दशा का क्या वर्णन करें। एक दिन २५—३० हजार कमा लिया है और फिर कहता है कि स्वादु पदार्थ परोसे तो बड़ा आनन्द पायें, मगर यह सब पराधीन दशा है, व्याकुल रूप है। परतन्त्र होने के कारण दुःख स्वरूप है। इस पर यह आत्मा ऐसे दुःखों को क्यों एकत्र करता है ?

परदेशी आत्मा दुःख के अनुताप से विकल होकर कहता है कि हे चित्त ! इस विश्व में सब कुछ पराधीन है। अनादिकालीन दुःख परवशता का है जिसे मैंने ध्यान देकर ठीक तरह जान लिया

है। शरीरादि परवस्तु को अपना मानने का प्रयास बहुत समय से करता रहा है। "मैं हूं" सदैव यही मानने का उद्यम करता है फिर भी वह परवस्तु अपनी न हो पाई। अनन्तकाल से आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर पर-भाव को अपना बनाने की प्रबल इच्छा करता है फिर भी पर पर ही रहा है वह अपना कभी न हुआ न होगा। अतः यह सब कितनी मँहगी वस्तुयें हैं। कारण तीन काल मे किसी भाव मोल लेकर अपनी नहीं बना सकते। देहादि वस्तुएँ सब जड ही तो है जिस के एक अंश को भी आत्मा अपने मे परिणमन करके न मिला सका। चैतन्यघन-आत्मा स्वयं पर को अपना बनाना चाहता है लेकिन जड़ वस्तु अपनी क्योंकर हो तो भी ज्ञान कभी जड़रूप होने वाला नहीं है।

जड़ है जड़ त्रयकाल मैं, चेतन चेतन रूप।
एक भाव नहीं पा सके, तीन काल मन रूप॥

यह शरीर और जीव अनादिकाल से भिन्न हैं। वह विभाव को अपना बनाने के लिये अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ कर रहा है तथापि अपना नहीं होता। तब भला यह इस भाँति विलोम-पुरुषार्थ क्यों कर रहा है? तीन कालमे जड़को चेतन और चेतन को जड़ कभी नहीं होना है। इस निर्णय के पश्चात् अब यह प्रश्न होता है कि इन दोनों मे किस का मिलना आसान है?

सच पूछो तो चेतन का अपने स्वभाव मे आना कठिन है, पौद्गलिक वस्तुएँ पाना बहुत ही सुगम है परन्तु यह सब जाल रूप हैं। चैतन्य-घन-माया के फंदे मे अपना लक्ष्य चूककर परपदार्थमे अटका है इसके कारण संसारकी परम्परा बढ़ती जारही है। इस वेगको रोककर थाम ले तो बस फिर वही अपने आ रही है। मगर अबतक जिस कार्य को करने के लिये रोका गया उसे ही करता है,

कहिये उस से जरा भी न रुके तो त्रिलोक-नाथ कैसे बने। अपनी सहजस्वतन्त्र-स्वभावदशाको भुलाकर पराधीनताको अपना न होने पर भी अपना मान बैठा है। स्वाधीन दशामे यह दो और दो चार जैसी स्पष्ट बात है। बालकसे बूढ़े तक समझने योग्य है, फिर भी यदि न समझ सके तो उसे क्या कहा जाय ?

आत्मा जड़ नहीं है, देहरूप नहीं है, क्रोधमय नहीं है, दुःखमय नहीं है वह तो आत्मा (ज्ञान) मय है, मन द्वारा वेग निकाल कर संसार के अनेक दुःख देखे है। इसे अन्दरसे बैठा हुआ अंतरात्मा अब पुकार पुकार कर स्पष्ट शब्दों मे कहने लगा है कि इस संसार भाव के भ्रमण से लौटो। अनंतकाल का चक्र उलटा (अनुलोम) फिरा दो। इस प्रकार कहकर अनन्तकालीन संसार का वेग रोकता है तब कहीं संसारके दुःखोंका भान करके संसारके भयसे उद्विग्न होकर जन्ममरणरूप संसार से डरता है।

इस विश्व में अधिकार-लक्ष्मी-विषयसुख काली धारमें बहाने वाली शून्य वस्तुएँ हैं। अतः अपने स्वरूपका ध्यान करो, जिसका जैसा भाव है वह सदैव साथही रहता है। आत्माका मूल शरीर ज्ञानपिंड है और यह औदारिक शरीर पुद्गल-पिंड है। परन्तु आत्पाका ज्ञान शरीर स्वयं ज्ञानपिंडहै वह जब अंदरसे तंग आकर आकुल व्याकुल होता है तब कहता कि चक्रको बदलो। परके वेग को अपने मे न लो। ध्येय और लक्ष्य का परिवर्तन करना है। अपने निराकुल स्वभावमे आकुलता क्यों आगई इसी लिये चक्रको बदलनेकी प्रेरणा करता है। अपने स्वरूपको स्वयं ही जानता है। चाहे जितने ज्ञानी कहैं पर मननेवाला तो अनन्तरात्मा ही है। अतः अपना स्वरूप भी स्वयं जानना है। लक्ष्मी-मकान-परिवार आदि काले कोयले के समान हैं। आत्मा का धन लूटनेवाले हैं,

आत्मिक आनन्द के शत्रु हैं। स्वयं आसन जमाकर बैठने से क्या जगत्का भाव फिर जायगा? कदापि नहीं, मन द्वारा अपनको फेरने की जरूरत है। चित्तने भी महीपतिके चित्तानुसार रथको मृगवन की ओर फिरा दिया है।

मृगवन उद्यान

अनादिकाल की प्रकृतिएँ मृग के समान हैं, प्रकृतिओं को भगाने के लिये सिंह के समान केशीगुरु हैं जिनकी कि आत्मज्ञान रूपी किरणें विकास को प्राप्त हैं, जहा पर विराजमान हैं उसी बाग में परदेशी को पहुंचाया गया। आत्मा यदि स्वयं जागृत हो जाय तो प्रकृतिएँ निस्सार हैं।

मृगवन में परिषद्

उस बाग मे बड़ी भारी परिषद् लगी हुई है केशी मुनि वहीं विराजमान हैं, उनका शरीर राजा के शरीर से भी अधिक सुन्दर है। उनकी मुखाकृति प्रतिभाशाली और प्रभाविक है।

मृगवनमे आनेपर चित्तप्रधान ने कहा कि राजन्! अब अपना मृगवन नामक उद्यान आगया है। अपना बाग यही है। घोड़ों की थकान यहीं उतारेंगे। चार गतिके भ्रमण के कष्ट को यहीं कम किया जायगा। जहा प्रकृतिओंको दबा दिया गया वहीं चारगतियों का थाक कम होगा। परदेशी भी इस बातको स्वीकार करता है कि हा ठीक है इस श्रम को यहीं दूर कीजिये। जो इस भाति अधिक थक जायगा वही यहां खड़ा होगा तथा श्रवण भी करेगा, परन्तु जो उछल कूद करता हो और खून खौलता हो बैठने को स्थान न हो तो वह सुननेकेलिये क्योंकर निठल्ला होगा। "कमजोर गुस्सा ज़्यादा" किसी प्रकार का व्यसन हो तो सवेरे किसी भी तरह

समय पर न आसकेगा, कारण उसमें व्यसन की चाट लगी हुई है। परन्तु यहां मीठा अमृतपान कराया जारहा है ज्ञानी पुरुष तो स्वयं अनुभव बेलन में डालकर तुरतका ताजा ज्ञानका रस बल-पूर्वक पिलाते हैं और वह सर्वोत्कृष्ट है। वीतराग का उपदेश जन्म जन्मान्तरका थाक उतारनेवाला है परन्तु इसे कौन समझने बैठा है। थाक चढे बिना समझ में क्योंकर बैठे? इस राजाको तो खूब थकान चढ़ गई है। इसे ससार का एक भव करना विष की कंकड़ खानेके समान है। देव का भव भी क़ैदखाने के सदृश है। वह भी स्वधन अर्थात् आत्माके आनन्द को लुटाकर आनन्द मानने के समान है। आशय यह है कि इस भांति भव का भय हो तो थक सके। तथा थकने पर ही अंदर से चाह पैदा होती है। लरज बिना गरज कहांसे आ पायगी। राजा ने कहा कि—

चित्त! घोड़ों की थकान इस बाग मे अवश्य उतारेंगे क्योंकि हमारा मृगवन बहुत बड़ा है। पर यह प्रश्न हुआ कि थकान किस स्थल पर उतारना चाहिये मगर यह सब तो चित्तकी इच्छा पर निर्भर है।

समीपता में

जहां केशीमुनि विराजमान हैं वहांसे न तो अधिक दूर हो न समीप ऐसे किसी स्थल पर। राजा की नजर पड़ने पर भी उसे वहम न पड़ने पावे इस प्रकार घोड़ों को रोक कर रथ खड़ा कर दिया। चित्त स्वयं उतर कर और राजा को भी विशाल भूमि पर खड़ा कर दिया, घोड़ोंको भी रथसे खोलकर उनका पसीना सुखाने के विचार में हैं।

मानो यहां तक वृत्तिको मंद कर दिया तब ही तो चित्तने कहा

कि नाथ ! ये चार घोड़े हैं इनमे से दो दो की लगाम पकड़कर हम स्वयं फिराएँ तो इनका स्वास्थ्य ठीक होगा । इनका और हमारा सबका थाक साथ ही उतर जायगा । राग द्वेषकी बहुलताके कारण इनमे (चार गतिमे) वेग की उत्तेजना आ जाती है यदि राग-द्वेष रुके तो वेग भी रुके । इसी विचार से घोड़ों को थपथपाकर उनकी लगाम पकड़कर धरती के विशाल भाग पर इधर से उधर टहलाने लगे । इधर राजाके नगर से महती सभा भी आकर मुनि के सन्मुख उपस्थित होगई ।

बस्ती मे आंदोलन करने की वनपालकों को खूब ही प्रेरणा की गई थी इसी कारण नगर भर मे वह कीर्ति फैल गई अतः जनता की बहुलता से सभा लगी है । केशी मुनि बहुत बड़ी ध्वनि से उपदेश कररहे हैं । यह शब्द राजाके कानों तक स्पष्ट और सुगमता से सुनाई पड़ रहे हैं । सुनते ही मनमे एक निराला संकल्प खड़ा होगया । अनायास दृष्टि सामने के विभाग पर जा पहुंची । यदि वह न देखता तो सुनने की इच्छा क्योंकर होती । खड़ा रहकर भी सुने तो समझने का प्रयत्न करे ।

संदेह विभाग

परदेशी राजाको रहरह कर सदेह होने लगा कि ये कैसे जड़ और मूढ इकट्ठे हो रहे हैं, [साठ वर्षकी आयु वीतनेपर बालों में सफ़ेदी दौड़ जाती है और वह उनमे कल्प लगाकर उन्हें फिर से काले करता है । पर भला नीचेके भाग मे सफ़ैदी न चमकेगी ? अरे वह जाता है काले करने वे उलटे चितकबरे बन जाते हैं । हाय ! शरीर बदल गया पर अपनेको न बदल सका । सफ़ैदी छाने पर भी कड़वा ही रहा, मीठा स्वाद ही न आ पाया, अरे ! यह तो

नीम के स्वाद से भी चार चंदे आगे बढ़ गया। प्रकृतिने इसे बूढ़ा अवश्य बनाया मगर इसे स्वयं बूढ़ा बननेकी इच्छा बिल्कुल न थी]

राजा कहता है कि ये मूर्ख यहां एकत्र होकर किस लिये बैठे हैं। खाना-पीना घूमना सैर करना मौजमजे करना मानों इनके भाग मे नही बदा है और ये सब एक बड़े जड़को घेरे बैठे हैं। एक नहीं दो नही पाचसौ जड़ों की सेवा मे प्रस्तुत हैं। न अच्छा कपड़ा पहना है न आभूषण हैं न उपभोग करनेकी चटपटी वस्तुएं हैं। हाथको उठाकर उपदेश देते हुये केशीमुनिको देखकर वह और भी बिगड़ कर बोला कि सब मूर्ख ही एकत्र हुये हैं। स्वयं मुंड है। पास मे भी मुंड ही बैठे हैं, [इसके सुन्दर केश जलकर भस्म होनेवाले हैं जिस की इसे खबर तक भी नहीं है]

हाड जलें ज्यों लकड़ियें, केश जले ज्यों घास।
दुनिया देख रुदन करे, ज्ञानी भये उदास॥

मूर्खों वाली कल्पना

परदेशी मनही मन कहता है कि ये कितने मूर्ख हैं इन्हें शरीर रक्षातकका ज्ञान भी नहीं, [शरीर-सेवक चातुर्यताके भंडार हैं मगर यह नहीं जानते कि पुण्योदय के बिना शरीर की शोभा कैसे ठहर सकती है ? परन्तु यह सब किसीके वशका नहीं है। तेरे पुरुषार्थ में शरीर की अवस्था नहीं है बल्कि यह तो पुण्य के अधीन है,]

तीन बातोंके अनन्तर

राजा कहता है कि जड़-मूर्ख-मुंड के अतिरिक्त कुछ पडित भी प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान और चातुर्य्य कुछ और ही बात होती है। इनका विज्ञान तो नीरस और सार रहित जान पड़ता है। जड़-मूर्ख

मुंड-अपंडित-अविज्ञानी होनेपर भी शरीर की कान्ति तो मुझसे भी अधिक है। मैं सवेरेसे सांझतक शरीर की मंजाई करता हूं तबभी शोभा बिगड़ जाती है परन्तु इस पुरुषकी शोभा और सौंदर्य मुझसे कई दर्जे बढ़ चढ़ कर है। मुनिकी निरोगता-सुखसमाधि-स्वास्थ्य-तेज और ब्रह्मचर्य को देखकर राजा वहीं कीलित सा रहगया।

शरीरकी पुण्यप्रकृति तो है, पुण्यभी प्रबल है-शरीर दीप्तिमान् है, परन्तु यह मुनि ऐसा कौनसा सरस आहार लेता है? किस प्रकार का जल पीता है, ये लोग इनको क्या देते होंगे? इतना पहले से समझा है कि कुछ लिये दिये बिना कितना बड़ा भाषण दे रहे हैं। यदि ये भूखे रहते तो इतना न बोलने पाते। क्या ये सुननेवाले ही इनकी सब आवश्यकताएँ पूरी करते हैं? कथा सुनानेवाले जिस प्रकार कथा के पूर्ण होनेपर चदा कराते हैं क्या इनका भी यही हाल है? जब तक आत्मा की श्रेष्ठ खुराक पर निगाह न पड़े वहा तक यही समझता है कि स्थूल शरीर की खुराक से ही टिकता होगा। परन्तु अज्ञानी जन आत्मा की खुराक को क्या जानें? ये शरीर निर्वाह के लिये निर्दोष रूखे सूखे आहार का उपयोग करते हैं जिस की खबर इस बेचारे को कहा से हो। तब तो वह यही समझे बैठा है कि सुनने वाले इसे कुछ न कुछ अवश्य देते होंगे क्योंकि इन का शरीर सुदर और सुगठित है न!

चारगतिसे थककर अपने भावमे यह बात आती है कि आत्मा मे कुछ न कुछ चमत्कार अवश्य है। खाये पिये विना किस प्रकार निर्वाह होता होगा? रुंड मुंड आत्मा की उछल कूद कहा तक है? यह कौन है? इस प्रकारके विचार आने लगते हैं। आज राजाने चित्त को आवाज देकर कहा कि ये सब यहाँ एकत्र होकर इतने बड़े जड़ की सेवा क्यों करते हैं? भाई! मेरे अतरमे जो कुछ संकल्प

विकल्प था बाहर आ गया । मैंने इनको जड़ मुंड आदि सभी कुछ कहा है । मुझे यह भी हुआ है कि ये लोग इन्हें कुछ देते भी होंगे ! देखो न शरीरकी शोभा निखरी पड़ती है, बड़े लज्जालु और खानदानी प्रतीत हो रहे हैं ।

चित्तसे परामर्श

चित्त ! ये क्या खाते हैं ? यह बाग़ हमारा है पर इन्होंने क्यों रोका है ? अपने बाग मे यथेच्छ घूम फिर भी नहीं सकते। इन्होंने कितनी अधिक जगह रोकी है। आत्मा को विचार होता है कि मेरे स्वभाव का बहुभाग परभाव या विभाव ने रोक लिया है अतः स्वभाव मे रमण किस भांति हो । उलटे भाव वाले को सीधे भावका मनुष्य ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारी अनुकूलता स्वाधीनता लूटनेवाला यह कहां से आगया है । यह तो त्यागकी बातें आरम्भ करता है। तब हमे ईर्षा होतीहै। अरे ईर्षाके बदले तुम पर दया आती है कि भाई छूटनेका रास्ता यही है । जिस प्रकार माता सर्पको लपकनेवाले बालक का हितकार्य उसे अपनी ओर खींचकर करती है तथापि बालक तो यही समझता है कि उसके खेल कूदमें एक विघ्न आगया। इसी तरह संसार में राग-द्वेष रूपी सर्पको अज्ञानी जन पकड़ने जाते हैं उसे ज्ञानीजन कृपा पूर्वक रोकते है वह उनकी करुणा नहीं तो क्या है ? वे यही भाव प्रगट करते है, कि अपना घर छोड़कर औरों के घरों मे क्यों घुसते फिरते हो ! × × × मेरी जगह रोक रक्खी है तब यह कौन है ? उत्तर मे चित्त प्रधान कहता है कि यह पार्श्वनाथ भगवान् के सान्तानिक शिष्य केशीमुनि हैं राजा ने यह नाम कहीं सुना है कि केशीमुनि बड़े सामर्थ्यशाली हैं। जाति संपन्न हैं । माता का पक्ष

ऊंचे दर्जेका है। दो सीपका मोती है। मातापिताके कुलके अंतर्गत कलंक नहीं है। इस प्रकार पहले बाहरसे प्रभाव डालकर कहा कि व्यावहारिक बातों मे तुमसे भी बढ़ा है। यह राजकुमार उच्चकोटि का ज्ञानी है। सन्तोषी और क्षमाशील है। शान्त तथा निरभिमानी है। क्रोध रहित-निर्ममत्व भी है। ये सब बातें समझाकर कहा कि ये चार ज्ञानके धर्ता हैं; अवधिज्ञानी हैं। जीवको शरीर से अलग वस्तु मानते हैं। बस मात्र एक यही बात कानोंमें डालनी आवश्यक थी, क्योंकि यह राजा तो जीव और कायाको एकही माननेवालों में से है।

अरे चित्त ! तू इसे अवधिज्ञानी कहता है ? अवधि अर्थात मर्यादा पूर्वक जानना, अपरिचितका ज्ञान करना क्या यह हमारे मनकी बातें जान सकता है ? चित्तने अबतक यह नहीं कहा था।

पूर्ण परिचय में

राजन् ! मैं कहता हूं कि जीव शरीरसे भिन्न है ये उसे इसी रीतिसे मानते हैं, तथा ज्ञान ऋद्धिमें यहांतक सफल हैं कि अब ये अवधिज्ञानी हैं, वे आंखें मींचकर आत्मा द्वारा मन की बात कहते हैं। इसी कारण ये शरीरसे जीवको अलग मानते हैं।

भाई चित्त ! क्या मुझे इन के पास जाना चाहिये ! कुछ विनय का भाव आगया। अपना ही बाग तो है तथापि नम्रता की ओर झुकाव हुआ ! तुम कहते हो कि लज्जा-कुलीनता-पुण्य प्रकृति का मालिक-शान्त सौम्य आदि सब गुणों में मुझ से अधिक हैं तो हमको इनके पास अभी चलना चाहिये।

प्रश्नों मे राजा के समान प्रश्न हैं अतः यह राजप्रश्नीय सूत्र है, देव की गति की अपेक्षा मेरा सुख स्वरूप कुछ और ही वस्तु है

अतः आत्मा के ज्ञान विषयक प्रश्नों का आरंभ यहीं से होने वाला है। 'सुन कर जो आत्मचिन्तन की ओर बढ़े वह सब से अधिक पावे' इसमे कोई भी संदेह न करे।

परदेशी ने जब से केशीस्वामी को देखा है तब से उसमें बहुत कुछ विनय और विवेक का विकास हुआ। चित्त की बात कानों में गूंज उठी है कि 'ये मन तथा इन्द्रियों के विना भी रूपी पदार्थों को जानने के लिये आन्तरिक शक्ति से सम्पन्न तथा समृद्ध हैं।' परदेशी ने श्रम दूर करने के लिये इस उद्यान मे प्रवेश किया था अब यह शरीर और मन दोनों का श्रम उतार सकेगा। संसार कान्तार मे घूमते घूमते थक कर वापस मुड़ा है तब ही निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न हुआ है। वैराग्य होने पर संसार के प्रेम से पीछा हट जाता है तथा आत्मा की ओर वेग बढ़ाता है, सिद्धान्तकार उसे संवेग कहते हैं।

संवेग क्या है ?

सांसारिक विकार स्वभाव आत्मिक मान्यता से मानता आ रहा है उसमे से पीछा हट कर आत्मा की तरफ वेग से चलना संवेग है। आत्म स्वभाव को पाने से पहले सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण बताये गये हैं जिसमे निर्वेद का नाम संसार से पीछे हटना है। अपनी तथा औरों की दया करना अनुकम्पा है। यह सोचना कि अब तो बहुत हुआ, अनन्तकाल से संसार में अनेक कार्य किये और परिभ्रमण मे भी कुछ बाकी नहीं छोड़ा है। इस प्रकार आत्मा पर तरस खाना अनुकम्पा है। × × × × ×

सम—कषाय को मन्दता के स्थान में पहुँचा कर उसे हीन करना, जिस वस्तु का स्वरूप केवलीने प्रतिपादन किया है, निज

केवल दर्शन द्वारा देखा है उसकी प्रतीति करना आस्था है। आस्था के अनन्तर मात्र अनुभव शेष रह जाता है जिसे प्रसंगानुसार फिर कहा जायगा। × × × × × राजा ने पूछा कि क्या वहां जाना चाहिये ? जिस का कषाय मंद है या मिट गया है वही इतना विनय-भाव उद्भव कर सकता है। यह राजा अपनी कचहरी मे मानवों को चीरने फाड़ने वाला था तब भी यथा समय कितना नम्र होगया। चित्त ! तुम कहते हो कि ये अवधि-ज्ञानी हैं ? शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हैं तब उसका निर्णय करने के लिये उन के पास जाना चाहिये न ?।

चित्त—राजन् ! वहां अवश्य जाइयेगा, आत्मा यदि उलटा पड़े तो उलटा और सुलटा पडे तो सुलटा, यह सब कुछ मन के झुकाने पर निर्भर है। केशीमुनि के पास लिवा ले जाने के लिये सन्मुखता कर रहा है। चित्त साग्रह कहता है कि शीघ्रता करिये। यह इस का कितना उत्तम विनय भाव है। वहां जाना योग्य है या नहीं ? सात हजार गावों के अधिपति ने इस वैकल्पिक सत्ता को निकाल बाहर किया। 'अपनी आज्ञा या अपनी सत्ता के बल से जाना चाहिये' इस गर्व को निकाल दिया। 'राज्य का स्वामी हूं' 'मुझे कौन पूछने वाला है' सुना अनसुना करने वाला तथा ज्ञात का अज्ञात करने वाला अपनी भूमि मे ही आये हुये केशीस्वामी जहां बैठे हैं वहीं जाने को तैयार हैं। अपने पास सत्ता रहने परभी निरभिमान दशा को प्राप्त है। मुंड़-जड-मूर्ख कहकर भी उनके पास जाने के लिये तत्पर है। अपनी सत्ताको छुपाकर पूछने की जिज्ञासा समुत्पन्न है। यह क्या विनय से सबंधित नहीं है ? राजा यह भी समझता है कि इसकी अनुकूलता से जाना है। देखिये पात्रता का गुण उभरकर नहीं कितना खिल उठा है। इसी आधार पर चित्तभी

कहता है कि राजन् ! अवश्य जाइये। तब राजा बोला कि चित्त ! इस महा पुरुष के पास हम अभी जायेंगे। वह आज्ञा नहीं दे रहा है कि चित्त ! चलो। नहीं यह तो अनुकूलता के वाक्य कहता है कि यदि तुम्हारा मन चाहता है तो चले चलते हैं। इसने यह कह कर चित्त का भी विनय किया कि उन के पास चलने के लिये तुम्हें अवकाश है न ? भाई मेरा तो जाने का ही विचार है। सत्य है चतुर मनुष्य तो मीठी पद्धति से ही काम लेते हैं वे यह नहीं कहते कि 'मेरा विचार तो यही है'। बल्कि अब तो यह विनय पूर्वक कहता है कि भाई ! अमुक ने अमुक अपराध किया है अतः उसे अब जाति से बाहर करने से पहले पूर्ण विचार करना चाहिये। सज्जनता के पक्ष में १०० घर निकल कर विरोध-पक्ष मे चले जायेंगे और इस ओर से १०० घर घट जायेंगे तथा उधर २०० हो जायेंगे। बतलाइए इधर १०० घरों की कमी पड़ जायगी न ? अतः अग्रेसर पुरुष चातुर्यता से काम लेते हैं। हानि-लाभ गुण-दोष को विशेषरूप से समझते हैं। विवेक का दावा भी यही है फिर चाहे संघका नायक हो या साधुओं का नायक, इन्हें यह कहने की जिज्ञासा नहीं होती कि 'हम यह कहते हैं' बल्कि सब एकत्र होकर कहते हैं कि "यदि हम सब मिल कर यह करें तो आप को मान्य है न ?" इस प्रकार सबको मिला कर बातें करते हैं। मुझे आग लगने पर यह करना पड़ेगा वह करना पड़ेगा इस प्रकार एकेला अपनी इच्छानुसार निरंकुशपनकी बातें न करे।

धर्मी पुरुष के लिये धर्म के लाभ को जाँचने के लिये जाना है अतः वह यह कहता है कि उनके पास जायेंगे, वाह कितना विवेक है। यदि इस वुद्धि के मनुष्य हों तो संघ मे क्लेश न बढ़े, यह कोई साधारण त्याग है ? अखिल विश्व के विकार का हवन करना

कितना कठिन है तब क्या जरासी बात पर गम न खा सके? भाई! "आप की बात रहे" "बात को रखने के लिये अपना आत्म विचार गवां दिया"। इस प्रकार वे हठ नहीं करते। इस राजा को देखिये संसार की भ्रमणा को छोड़ कर आया है तब यहां लड़ाई क्यों होगी। आप ही कहिये धर्म के काम में धर्म के स्थान मे झगड़ा न छोड़े तो संसार के झगड़ों से क्योंकर पीछा छूट सके। उसे राजा का पद प्राप्त था, मगर उसे जहां जाना है उस की तथा साथ मे चलने वाले की अनुकूलता को देखता है कितना अधिक विनय झलक उठा है। ऐसी ऐसी अनुकूलताएं उपस्थित होने पर क्या वहां किसी तरह प्रतिकूलता आ सकती है?

आत्मा का स्वभाव जानने का है तब उसमे अज्ञानता कैसे आ सकेगी? जानने की दृष्टिसे सबके भाव जाने जासकते हैं पर यदि किसी मनुष्य के प्रति तू विपरीत हो जायगा तब क्या वह तुझे अपनी गुप्त बातें बतायगा? उसके अनुकूल बर्ताव करे तो चाहे प्रहार करता रहे तब भी वह अपना भेद समझा देगा, अरे! सम्पूर्ण लोकको जानने का स्वभाव मेरा है मुझे यदि सब कुछ जानने की इच्छा है तो सब प्राणियों की प्रतिकूलता हटाकर उन्हें सुख देना चाहिये। किसीके साथ वैर विरोध करनेका नाम न ले, डंक मारने वालेभी शत्रु नहीं हैं, यह तीन कालमे न हुआ न होगा शत्रु तो अपना ही कृत कर्म है। धर्म अपना परम मित्र है। शत्रु और मित्र अपने अंतरका परिणाम है। इसके उपलक्ष्य मे सब जगह मैं ही बादल की तरह गरज रहा हूं। परन्तु ये परिणाम अनन्तकाल के हैं। यदि उन्हें प्रगट करूं तो यह समभाव से सब कुछ समझादेगा और यदि विरोधी मानूंगा तो गुप्त भेद बिल्कुल न सुनायगा। क्योंकि यह स्वयं तेरी निजी प्रतिकूल

वृत्तिका परिणाम है। बस इस वृत्ति को अलग कर और सब की अनुकूलता की पहचान कर, तब ज्ञान स्वभाव पर अवरोध न जमने पायेगा। अपनी शक्तिको घटाकर दूसरेके साथ वैर विरोध करने वाले तो झूंठे बनिये होते हैं।

परदेशी का मुनिकी सेवा में

चित्त कहता है कि नाथ! चलिये। वह भी राजसत्ता का मान छोड़कर चित्तप्रधान के साथ केशीमुनिके पास आता है। अब तक तो चित्तने राजा को प्रभावित किया था परन्तु अब वह राजाके साथ चल रहा है। जहां मुनिराज विराजमान थे वहीं आ पहुंचे। उनसे न अधिक दूर न अधिक समीप, किन्तु कुछ अंतर पर खड़े होगये तथा प्रश्न किया कि पूज्य! [संसारके अर्थिओं को संसार पूजनीय है और आत्मार्थिओं को धार्मिक पुरुष सेवा करने योग्य हैं] हे मुने! क्या आप मन और इंद्रियों की सहायताके बिनाही वस्तुको जानते और देखते हैं? इसके उत्तरमे मुनि सहसा कुछ कहनेवाले नहीं हैं। [एक बार किसी आत्मज्ञसे किसी ने आते ही पासमें पड़ी हुई गद्दी पर बैठ कर बीड़ी पीते हुये पूछा कि मोक्ष किस प्रकार हो सकता है? तब वे बोले कि धुएँको पेटमें उतारते जा रहे हो और मोक्षकी बातें पूछ रहे हो। बताइये इसमे विनय के लिये कोई स्थान बाकी छोड़ा है?] इसी भांति राजा ने भी प्रश्न किया कि आप अवधि-ज्ञानीहैं? इसके उत्तर में चार ज्ञानके धारक-मनकी बात जानने वाले मुनि ने राजा के मनकी कल्पना को जान कर एक उदाहरण कह सुनाया, वह यह है—

चोरसिद्धि

एक जौहरी अंक रत्न और दक्षिणायन शंखादिका क्रय विक्रय किया करता था [सुना जाता है कि दक्षिणायन शंख जिसके घर मे होता है वह दरिद्री हो तो भी सुखी हो जाता है मगर जन्मान्तर का संचित पुण्य हो तो मिले। पुण्य बिना तीन कालमें कुछ नहीं प्राप्त होता,] एक बार वह रात्निक रत्न मंजूषा लेकर बेचने निकला। परन्तु नगर मे प्रवेश करते समय नगर के सदर-द्वार पर जरा झिझका क्योंकि यहा राजा का शुल्क देना पड़ता था। इस भयसे शुल्क की चोरी करने के लिये राज मार्ग को छोड़कर खिड़कीका द्वार पूछता है। हाय! कितना बड़ा व्यापारी है फिरभी मूल रास्ता न पूछ कर भंगियों के मार्ग द्वार से नगर मे पहुंचना चाहता है इसी प्रकार राजन्! तुम भी विनय समाचरण से प्रश्न न पूछकर शुल्क चुराने की इच्छा कररहे हो।

विनय हमारा शुल्क है,अभी तुमने उसे कहां चुकाया है? [चित्त ने मुनिराज से पहले ही कह दिया था कि आप जैसे चाहें कठिन और कड़ाकेदार उपदेश करना,शंका न रखना,मैं पासमे ही उपस्थित रहूंगा] अरे! सातहजार गावोंको राजा, सत्ता प्रिय प्रकृति समन्वित होकर उस रात्निक (जौहरी) की तरह विनय भंग करनेकी इच्छा कर रहा है यह सब मुनि ने स्पष्ट शब्दोंमे कह दिया कि जिस से किसी को यह विचार न हो कि उपदेशके समय कुछ क्रूरता तो न कर बैठेगा?

[बनिया दुकान खोलकर तीन बार गद्दी और संदूकको मस्तक झुकाता है परन्तु आत्म-धन को तो साफ खोए बैठा है। उस धन को पानेके लिये कभी प्रणाम नहीं,] केशी मुनि ने अब तक यह

नहीं कहा कि मैं अवधिज्ञानी हूं। साथही चित्त से जो वात कही थी उसे भी प्रगट कर देते हैं कि राजन् ! क्या यह सत्य है कि मुझे देख कर तेरे मनमें यह विचार आया कि ये सब जड़ एकत्र होकर बड़े जड़ की सेवामें संलग्न हैं। ज्ञानीजन प्रमाण द्वारा न्याय देते हैं कि आत्मा का विकार खो या जानेपर केवल ज्ञान होता है। साधारण बातको ज्योतिषी (गणक) भी यह ज्ञात कर लेते हैं कि अमुक वर्षके अमुक दिन मे ग्रहण होने वाला है और इतना ज्ञान गणनाके नियम से होता है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा के ज्ञान की निर्मलता होने पर तीनों कालकी बातका द्योतक है। भूत और भविष्य की अमुक बातें जानते ही हैं, अमुक कार्य को करते करते जान गये कि ठीक है ! इसका परिणाम सुंदर ही आयगा। इसी भांति भावी बातें भी जानता है या अमुक बात कहते समय अमुक मनुष्य सुनेगा और मेरा आशय पकड़ बैठेगा, भविष्यमें इतना कुछ करेगा, इस प्रकार आशयको पकड़ेगा, यह भविष्यका विचार इसी को है अतः सुनाऊंगा तब वह सुनेगा, और फिर मेरी बातको पकड़ेगा। तीन मिनिटमे तीन काल एकत्र होगये। वर्तमानकी बातों में तीन कालको एकत्र करके एक एक मिनट लिया जाय तो तीन मिनट की बातें भूत-भविष्य संबंधी जानने मे आई, यदि एक एक मिनट बढ़ाया जाय तो उपयोग की विशालता करते करते तीन काल की बातें किस प्रकार न जान सकेगा?

भूत और भविष्य का विचार करने वाला जिसमें कि वर्तमान व्यतीत होरहा है वर्तमान वर्तने के समय अतरकी सब अवस्थाओं को जान लेता है। क्योंकि आत्मामे जाननेकी शक्ति है। इंद्रियोंके आवरण पड़ने परभी जानने का स्वभाव गर्भित है। आवरण होते हुये वहीं तक निमित्तको जानता है, आवरण कटने पर निमित्तरूप

इंद्रियों को तथा मन को हटा कर भी जान सकता है।

केशी मुनिने राजाके समीप मनकी बात कह डाली कि ये सब मूर्ख अपढित अज्ञानी एकत्र हो रहे हैं, साथही यह भीकहाकि क्या खाते होंगे, ये सुनने वाले इन्हें क्या देते होंगे ? इन्होंने सब जगह रोकली ! जिससे हम खुले तौरसे घूम फिरभी नहीं सकते। राजन् ! क्या ये सब बातें सत्य हैं। हाँ जी हाँ राजा यह कहकर ठंडा सा पड़ गया। इन बातों से उसे बहुत कुछ आस्था होगई। अब इतनी अनुकूलता विशेष हो गई कि इनसे कैसा वर्ताव किया जाय। विनय भी किया और पूर्ण विश्वास हुआ कि वास्तवमे आत्मा देह से भिन्न है। इतना श्रद्धा न तो एक फटकार से होगया और विशेष भी मालूम होगया। इसपर साधारण मनुष्य कहेंगे कि हम परदेशी से बहुत अच्छे हैं मगर जब कोई गाली देता है तब कहता है कि 'गाली दी है' 'मेरा तिरस्कार किया है' 'मेरा यह वह किया है' अर्थात शीघ्र ही देह भावमें अपना स्वरूप मान बैठता है। शरीर से आत्माको भिन्न माननेवाला देहकी अवस्थाको आत्माकी अवस्था नहीं मानता। मैं 'पतला होगया' 'मोटा होगया' 'रोगी हू, 'अब नीरोग हुआ हू' इस भांति शरीर की अवस्था को अपनी अवस्था नहीं मानता। मगर इस समय मे तो सब जगह मैं ही मैं देखनेमे आ रहा है। परन्तु मै तो आत्मा हू-शरीर मेरा नहीं है इस प्रकार शरीर की अवस्था को अपनी अवस्था न मानने वाला ही देह से आत्माको अलग मान सकता है यह निर्विवाद सिद्ध है मगर अज्ञानी पहला कर स्वयं देह नामसे चिपटा जाता है। कोई नामको गाली देता है तब 'मुझे ही गाली है' यह मान बैठता है मगर जब जन्म हुआ था तब नाम कहा था। तब उसे बालक ही कहते थे परन्तु नामतो और लड़कों से अलग करने के लिए रक्खा गया

है तब सन्तलाल सन्तलाल कहकर पुकारने लगे थोड़ाबहुत समझने लगा तब मालूम होने लगा कि इस तरह की झंकार कान में आने लगी है। यह मुझे देखकर कहता है अतः मैंने समझा कि मुझे ही कहता है। फिर तीन वर्षका होगया, वह सन्तलाल ही हुआ है पर आत्मा तो उस से पहले का है, जब कोई यह कहे कि सन्तलाल कौन है तब वह एक दम उछल कर कहता है कि मैं हूं मैं। इस प्रकार जन्म लेते समय यह सन्तलाल न था मगर अब होगया।

आत्मा को शरीर से अलग मानने वाला परदेशी न था, मगर फिर भी कहता है कि हम तो उससे अच्छे हैं। इस भांति मानने वाले ने शरीर से आत्मा भिन्न माना ही नहीं है। जैसे किसी ने भीत पर नाम लिख कर किसी को गाली दी (सन्तलाल को) तब भी वह कहता है कि मुझे ही गाली दी है मगर गाली आत्मा को न चिपटी, यह तो नाम को गाली दी और उसने अपने ऊपर समझ ली। विना नाम वाले का तो नाम है ही नहीं। नाम तो देह का था तब ही तो चुड़ैल की तरह चिपट गया। पचास साठ वर्ष की आयु मे २५-३० लाख का दिवाला निकाल दें तब यह समझता है कि मेरा नाक कट गया अब इस जीने से मरना अच्छा है। मेरा नाम और नाक कटनेसे जीवित रहना नीरसहै। परन्तु यह न समझा कि अधिक लंबी नाक बढ़ाई थी तबही तो कटी न? शरीरकी अवस्थाको अपना मान बैठा है उससे कितना चिपटा पड़ता है यदि कोई मान पत्र देता है तो कितना प्रसन्न होता है और बोलता है कि मेरे नाम के ऊपर कितना मान मिला है। संसार निंदा और प्रशंसा देह और नाम पर करता है और उन्हें अपना मान बैठा अब बताइये उसने शरीर और आत्मा को अलग अलग कहा माना है?

देह की अवस्था ही यदि तेरी अवस्था होती तो शरीर के मर जाने पर आत्मा को भी मर जाना चाहिये था, देह का जन्म और मेरा जन्म देह की मृत्यु और मेरी मृत्यु देह से आत्मा को अलग मानने वाले की अवस्था अलग होती है। राजा को यह प्रतीत हुआ कि मेरे मन की बात इस मुनि ने जान ली है इसने आत्मा को मुझ से अधिक खोजा है।

विचार परिवर्तन

हां नाथ! आप जो कुछ कहते हैं वह उसी प्रकार है यह मेरे मन लगती बात है। मैं विश्वास करता हूं परन्तु जितना चाहता हूं अभी उतनी प्रतीति नहीं हुई है। तब हाँ! अवश्य किये देता हूं। देखिये अब यह कोई साधारण स्वीकृति नहीं है। अबतो बदला सो बदला किन्तु 'यह' 'वह' नहीं रहा।

परदेशी कहता है कि आपको क्या ज्ञान है? कैसा ज्ञान है? कैसा दर्शन है? कि जिसके द्वारा मेरे मन की बातें जान लीं। यह अब तक उसी तरह खड़ा ही खड़ा पूछ रहा है, बैठा नही है। चित्त और राजा दोनों खड़े हैं। केशी मुनि कहते हैं कि राजन्! हम श्रमण निर्ग्रंथों मे ज्ञान की पाच अवस्थाएँ प्रगट होती हैं।

सभा मे प्रश्न पूछने वाला शुल्क न देने वाले बनिये के सदृश सीधा मार्ग न पूछ कर गली का रास्ता ही जानना चाहता है बस यह ही अविनय कहलाता है। कोई कहे कि बिल्ली सौ चूहे हजम करके अब सभ्या मे बैठी है यह भी कुछ होता होगा? परन्तु सिद्धान्तकार कहते है कि कल मांस खाने वाले पापी यदि आज योग्य होने हो तो क्या उन्होंने धर्म को न पा लिया! इस पर कोई

यह भी न मान बैठे कि अपना किया करो, समय आने पर एक क्षण में सब कुछ समझ लेंगे। कोई ८० वर्ष का बूढ़ा हो गया है शरीर की चमड़ी लटक पड़ी है, मस्तक पर चार मन बोझ है। शरत पूर्णिमा का चांद रात के १२ बजे ठीक सिर पर आ गया है। १६ कला समेत उदय होकर खिला है। उस समय उसे कोई बालक चांदके सामने देखने को कहे तो वह क्योंकर देख सकेगा। क्योंकि सिर का बोझ उतरे बिना वह ऊपर देखे भी कैसे। इसी प्रकार आत्मा पूर्ण ज्ञान स्वरूप होते हुये मनुष्य देहको पाकर यह कहे कि आत्म ज्ञान पाने का समय है परन्तु हिंसा-झूठ-चोरी-राग-द्वेष-पाप-कषाय-तृष्णा-ममता इत्यादि पाप का बोझ कम किए बिना आत्म-स्वरूप को नहीं देख सकता। तीव्र पाप का बोझ लादने वाला निष्कलंक आत्मा को समझने के लिए आंखें ऊंची नहीं कर सकता। यदि बोझ घट कर हलका (निर्मल) हो जाय तो देख सके।

बनिये को शुल्क न देने की इच्छा हो तो वह गली का रास्ता खोजता है क्योंकि राज मार्ग से जाय तो शुल्कशाला में चुंगी अदा करनी पड़ती है उधर विनय भी करना पड़े मगर यह राजा तो सत्ता प्रिय है, नम्रता और दीनता से कोसों दूर है, जिसे औरों को हीन और अपने को ऊँच समझने की टेव पड़ गई है, यदि अपनी हीनता का समय आ जाय तो जोर-जुल्म करने के लिए उद्यत हो जाता है, क्योंकि राजा सत्ता प्रिय है तथापि सबको बड़ा अचरज हो गया कि ऐसे क्रूर स्वभाव का राजा केशी मुनि की बात को कितनी नम्रता से सुन रहा है। बड़ी ही गंभीरता और शान्ति आगई है, न किसी का तिरस्कार करता है न अनादर किन्तु शान्त होकर श्रवण करता है। किसी ने यह शिकायत ही न

की कि ऐसे अधर्मी से ये क्यों माथा फोड़ी कर रहे हैं।

मुनि—राजन्! हमको देखकर तुझे यह विचार आया था न! और यह सब सत्य है न? नाथ! इस उद्यान में घुसते ही आपको देख कर जड़ मुंड मूर्ख आदि का विचार आया था। कितना विनय है कि उनके सत्य का जरा भी तिरस्कार न किया। बल्कि अचरज मे होकर बोला कि मुने! आपने मेरे मन की बात को जान लिया! इसीलिये पूछता हूं कि आपको कौन सा ज्ञान समुत्पन्न है। इसे जानने की जिज्ञासा जागृत हुई।

राजन्! मुझसे पूछता है कि कौनसा ज्ञान और दर्शन हुआ है, क्योंकि आत्मा कोई वस्तु अवश्य है, यदि वस्तु है तो उसका परम धर्म (स्वभाव) भी है, यदि इस देहसे मन वाणी को निकाल कर अलग कर दे तो मात्र आत्मा ही रह जाता है तब यह ज्ञान इसका आदिम गुण है, इसकी पाच अवस्थाएँ हैं, जिस तरह शक्कर का स्वभाव मीठा और उसका गुणभी वही है, अधिक पानी मे डालने पर कुछ कम मीठा जँचता है परन्तु ज्यों ज्यों पानी को ताप देकर जला दिया जाय त्यों त्यों मीठापन उसी रूप मे आ जाता है, तथा समस्त पानी जल जाने पर मीठे का स्वभाव पूर्ण स्वभाव रूप रह जाता है, इसी भाति आत्मा मे भी ज्ञान गुण का स्वभाव है, पर अनन्त काल से इस स्वभाव पर आवरण छा गया है जिससे ज्ञान प्रवाह का भंग हो गया है, जिस प्रकार नदी का पानी एक प्रकार का है उसमे से यदि ५० नाले निकाल दिये जावें तो उसका वेग कम हो जाता है। इसी भाँति ज्ञान स्वरूप आत्मा के प्रवाह का जोर बडे वेग से है परन्तु अनादिकाल से क्रोध मान रागद्वेष विषय कषाय चोरी झूँठ माया ममता हिंसादि अनेक नाले निकले हुए हैं, जिन से मूल प्रवाह का भंग हो

गया है. यदि ये हट जायें और एक प्रवाह बन जाय तो ज्ञान शक्ति तो पूरी है ही प्रवाह का वेग उतना ही चढ़ आवेगा, ज्ञान नामक गुण अपना पूरा काम करने लगजायगा, वीतराग प्रतिपादित पांच अवस्थाएँ फिर केवल ज्ञान के रूप मे परिणत हो जायँगी।

बहुत से यह भी कहते हैं कि सब कुछ जानने वाला कोई न तो हुआ है तथा होने वाला' भी नहीं है। तब तू 'है नहीं' यह कहने वाला अतीत काल को जान चुका है न! या तू भी झूठा सर्वज्ञ है! जो देख कर नहीं आया है तब तो भविष्य मे सर्वज्ञ नहीं है, और तू कहने वाला झूठा सिद्ध होता है।

अपूर्ण ज्ञान की चार दिशाएँ

जिसे केशीमुनि इस प्रकार बताते हैं, हम ब्राह्मण-तपस्वी-राग द्वेष से छूटे हुये, निग्रंथों के मार्ग मे अटल विश्वास रखने वाले आत्माके ज्ञानकी पांच अवस्थाएँ मानते हैं और पहली अवस्था है

मतिज्ञान

जिससे समीपवर्ती पदार्थों का बुद्धि द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता से जो आत्मा का ज्ञान होता है व मतिज्ञान है। इसके भी चार प्रकार हैं।

अवग्रह—वस्तु मे लक्ष्य का जाना।

ईहा—उसका विचार होना।

अपाय—'वह यही है' इस निश्चय पर आना।

धारणा—निर्णीत विषय पर स्मृति रखना।

धारणा मे निर्णीत विषय रख छोड़ा हो तो भविष्य में उसका स्मरण हो उठता है। सौ-सौ वर्ष तक की बातें मनुष्य धारण किये रहता है। प्रसंग आने पर सब बातें आद्योपान्त कहता है।

उसे शरीर पर भार हो गया है। खाने-पीने कमाने की उपाधि न हो और अध्ययन ही किया करता है। ज्ञान का सम्पादन करता है अब आप ही बताइए कि क्या उसको तोलने से उसमे कुछ भार बढ़ जायगा ? ज्ञान अरूपी वस्तु है इसमे बोझ कहां होता है। पढ़ना आरंभ करने पर क्रम से अक्षरों की शृंखला आती रहती है। यह स्मरण शक्ति का गुण आत्मा का है न कि जड का। पचास वर्ष पहले की बातें करता है तब क्या वह कहीं गिरी पड़ी थी ? दाईं या बाईं ओर शूल उठने पर उस प्रसंग को याद नहीं करता यदि वह स्मृति पथ मे आ जाय तो पाप करते समय आलस्य हो उठे परन्तु लडकों के विवाह की बातें स्मरण करते करते कितना घमंड करता है। अतः लोक अनुकूलता के इच्छुक हैं मगर वे अनुकूलता के भाव नहीं जानते। यदि जानता होता तो प्रतिकूलता के प्रसगों की दीवारें खडी न करता। आत्मा मे शक्ति तत्व अनन्त है जिसमे 'धारणा' तत्व बात का संग्रह कर रखती है। उसमे किसी प्रकार का बोझ नहीं होता और जब आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान प्रगट होता है तब 'मतिज्ञान' कहलाता है और आत्मा के स्वभाव का ज्ञान न रहने को 'मति अज्ञान' कहा जाता है। जड-चेतन के भेद को जानने पर मतिज्ञान का विकास होता है। इसमे मोहमग्नता का विकार 'मति अज्ञान' है। इस प्रकार परदेशी को मतिज्ञान के चार भेद कह सुनाये।

आत्म-दर्शन होने पर मतिज्ञान इतना निर्मल हो उठता है कि अपने वास्तविक स्वभाव का निर्णय पाता है। मति अज्ञान वही है जो औरों की बाते ना मानता है पर मतिज्ञानी शास्त्र के साथ मेल करा देता है और मेल खाने का निर्णय पाकर स्वयं उसे मान्य करता है।

श्रुति ज्ञान

श्रवण करने से जो ज्ञान हो वह श्रुतिज्ञान है। मनुष्य को देखकर कहता है कि कौन है? कहां का है? इसके तर्क विशेष को श्रुतिज्ञान कहते हैं। इसके भी अनेक भेद होते हैं।

परदेशी राजा को केशीमुनि ने यहीं से समझाना आरंभ किया और बता दिया कि आत्मा के ज्ञानका विकास क्यों कर होता है। इसके विरोधी मति-श्रुति अज्ञान सब को होते हैं आत्म स्वभाव का भान न होने से इनका नाम मति-श्रुति अज्ञान पड़ा है। अज्ञानी किसी भी बात की हां तो कर डालता है पर अन्तःकरण द्वारा निर्णय नहीं कर सकता। बहुत से यह भी कहते हैं कि हमारा अन्तःकरण कहे तब ही तो हम मानें न? तब नियम बाँधने की आवश्यकता कहाँ रह गई? मगर समर्थ पुरुष मति-श्रुति ज्ञान द्वारा जो कुछ कहते हैं वह आत्मा का अनुभव ठीक प्रकारसे कर सकते हैं। अपने मन से निर्णय पर जाता है, विना विचारे अन्ध बुद्धि से कभी स्वीकार न करेगा।

अवधि ज्ञान

इस ज्ञान के होने पर मति-श्रुति ज्ञान द्वारा पाँच इंद्रिय और मन की सहायता से भी वस्तु तत्व को जानता है परन्तु जिसका जैसा स्वभाव है उसकी मदद से और विना मदद से भी जानने की विशेषता इसमें है। उनकी सहायता के विना भी रूपी पदार्थों को जानने वाला अवधि ज्ञान है। यह 'भव प्रत्यय' और 'क्षायोपशमिक' के भेद से दो प्रकार का है। नरक और देवों मे भव-प्रत्यय अवधि ज्ञान है तथा मनुष्य या पशु में आत्मिक गुण

प्रगट होने पर कर्म का आवरण मिटते मिटते स्पष्टता (स्वच्छता) होने पर ऐसी निर्मल शक्ति प्रगट होती है।

मनः पर्यय ज्ञान

अवधि ज्ञान मे स्थूल मन की बातें जानता है तब मनःपर्यय ज्ञानी मन के परमाणुओं की सहायता पाकर आत्म-विचार करता है तब बहुत कुछ जानता है। वह भी ऋजुमति-विपुलमति के प्रकार से दो तरह का है।

केवल ज्ञान

यह निरावरण ज्ञान है। इन्द्रिय एवं मन के बिना ही लोका-लोक का पूर्ण ज्ञान रहता है। मात्र यह एक ज्ञान का ही पुंज है। मति-श्रुति ज्ञानमे इन्द्रियों और मनकी आवश्यकता होती है लेकिन अवधि-मनः पर्य्यव में मन या इन्द्रियकी आवश्यकता नहीं रहती।

हे राजन्! पहला मतिज्ञान मुझे है, सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान मे बड़ा अन्तर होता है, मिथ्यात्वी अन्यान्य विचार तो करता है पर आत्मा की ओर नहीं झुकता, पर पदार्थों के पाने की चेष्टा करता है उसके सम्बन्ध मे तन-तोड़ पुरुषार्थ करने का नाम मिथ्यात्व है इसका उपयोग कला-उद्योग आरंभ-परिग्रहादि के काम मे लगता है अज्ञानी के विकास का लक्ष्य परपदार्थों मे एकाकार हो जाता है, तब ज्ञानी का लक्ष्य स्व-स्वरूप मे तदाकार हो जाता है, और इसके विरुद्ध अज्ञानी की स्थिरता स्व-स्वरूप मे नहीं जमने पाती।

सम्यग्ज्ञान से स्व-आत्मा का भान मुख्यता से होता है। इस राजा को भी मतिज्ञान तो है पर अनुदाय या वास्तविकता से

अलग कहां बच सकता है। यह अखिल विषय उसके लिये ज्ञेय है। ये सब पारमार्थिक बातें होती हैं इससे व्यवहार का उत्थापन न होगा।

अज्ञानी कहता है कि भीत पर नजर पड़ी, फिर देखा तब ज्ञान हुआ बस यही तो अज्ञान है। जानने का स्वभाव जब आत्मा का है तब उसे पीछे क्यों रख छोड़ा और जानने योग्य पदार्थ को पीछे छोड़ दिया। इस प्रकार जो वस्तु साथ मे है उसे पहले ठहराया, उसे अज्ञानी के अतिरिक्त और क्या कहा जाय। जो जड़ पदार्थ को सबसे पहले माहात्म्य देता है पर जड़ को देखने से पहले मेरी (आत्मा की) उपस्थिति थी या नहीं। तब तेरी नजर पहले थी या दिवार पर नजर उठा कर देखा तब ही तो भीत दीख पड़ी न ? अज्ञानी जड़ को पहले और ज्ञान को फिर अन्त मे स्थापन करते हैं। तथा ज्ञानी जड़को अन्त में व अपने को पहले समझने की चेष्टा करते हैं वे यह भी समझे हुये हैं कि मेरी ज्ञान-शक्ति मेरे द्वारा ही विकास को पाये हुये है। इस पहलु से ज्ञानी आत्मा को और अज्ञानी जड़ को मुख्य रखते हैं। अज्ञानी कहतेहैं कि पहले अक्षरको देखा तब ज्ञान हुआ, मेरी शक्ति का विकास भीत और अक्षर देखने के अनन्तर हुआ। इनकी मान्यता का अर्थ यह निकलता है कि मेरा ज्ञातृत्व गुण जड़ से निकला है! चाहे जैसा विद्वान् हो जाय तब भी यह दृष्टि भेद कठिनता से बदला जा सकता है। मगर ज्ञानिओं का अभिप्राय बदल जाता है। ज्ञाता स्वयं ही अपने को ज्ञेय मे से जानना आरंभ करता है। पर पदार्थ के किसी अंश को लेकर नहीं जानता।

केशीमुनि कहते हैं कि मेरा आत्मा मेरेही स्वतंत्र बलसे तीनों काल मे उपस्थित है। इस तरह स्वतंत्रता का तत्व समझ सके तो

किसी की स्वतंत्रता को लूटने का अधिकार मुझे नहीं। तब मेरी स्वतंत्रता भी किसी से नहीं लुट सकती। जैसा मैं हू वैसे ही ये सब हैं यही समझा कर ज्ञानी जन स्वतंत्रता प्रगट करके फिर उस का अनुगामी होना बताते हैं। हमारी पराधीनता की दशा टल गई है जिस से हमारे स्वभाव मे स्वतंत्रता है, इसी प्रकार की दशा तुम्हारी भी है, स्वाधीन ज्ञानवाला किसी अन्य से भयभीत नहीं होता। औरोंको बताते समय निर्भयता और स्वाधीनता की ओर लक्ष्य खिचता है।

विद्वानों-बालकों वृद्धों-युवकों मे जीव की स्वाधीनता का लक्ष्य हो तो उसे लूटने की इच्छा का दुस्साहस किसी को भी न हो, यदि लूटेगा तो स्वयं लटेरा बनना पडेगा, दूसरे का मस्तक काटते समय जिस का मस्तक कट रहा हो यदि वह अशुभ भाव प्रगट न करे तो मस्तक काटने वाले का ही कटा है।

श्रेणिक राजा को अनाथि मुनि स्वतन्त्रता की व्याख्या समझाते हुये कहते हैं कि 'गला काटने वाला शत्रु भी जितना बुरा नहीं करता जितना अशुभ आत्मा उलटा पड़ कर कर देता है। सिर कटने पर भान हुआ कि यह तो ज्ञानदार ही था। मेरे स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान को कौन काट सकता है? जो परतन्त्र था वह तो गया! स्वतन्त्रताकी शक्ति को छीनने वाला तीन काल में नहीं देखा। काटने वाला अरूपी है. कोई अरूपी को काट तो ले जड़ को जड़ ने लिया तो क्या हुआ, काटने वाले ने समझा कि मैं ने अपना वैर लिया है जिस ने तू मरवाया। मस्तक को काटते समय सामने वाले को दुःख होता है जिसे न देख सका। इसमें तूने अपनी शक्ति का दान किया या उसकी शक्ति को! क्या इसका दुःख आप मुझे नहीं जान्ता है! मेरे ज्ञानमें इतनी

ऊहापोह करने के अनन्तर बोला कि पूज्य ! क्या मैं यहां बैठ सकता हूं ? कितना विनय का गुण उद्भूत हुआ। पापी का वन है उसकी अपनी जगह है फिर भी वह विनय का उपयोग करता है। + + आत्मा के कल्याण के अर्थिओं के लिये पूजनीय ! क्या मैं बैठ जाऊं। आपने जो बातें की है वे मुझे प्रभावित करती हैं अतः मैं स्वयं अपने भावसे स्थिर हुआ हूं। अब तक खड़ा था मगर अब बैठना चाहता हूं। यह राजा ७००० गावों का मालिक है। समदृष्टि चित्त भी समीपमे उपस्थित है। यह केशीमुनि से सब कुछ कह चुका है और ज्ञानी तो स्वयं ही समझते है कि इसे ज्ञान होने ही वाला है तथापि मुनि उत्तर देते है कि राजन ! उद्यान और भूमि तथा अधिकारादि सब कुछ तेरा ही तो है तुम जानो। मगर आज कल कोई साधु को वंदना करे तो साधु कदाचित् सामने भी न देखे तो वह कहेगा कि मेरा कुछ भी आदर न किया। मगर यह स्मृति मे नहीं रखता कि आदर लेने आया है या देने। यह अधिराज होकर पूछता है तब इसे मुनिराज कहते हैं कि बैठे तब अच्छा न बैठे तब अच्छा है। राजा भी यह सुन कर ताड़ गया कि 'ऐसे निस्पृह ही पार कर सकते हैं'। साधु यह भी नहीं कहते कि उपाश्रय में आइयेगा फिरभी विवेकसे कह सकते हैं कि धर्मोपदेश सुनने की आवश्यकता है ? यह तो इतनी दृढ़ और सत्य बात है जैसे दो और दो चार।

निस्पृहता न रख कर रागद्वेष की पुष्टि करने के लिए कहे कि दया पालो ! यह वाणी की माया है विशेष दंभ है, क्योंकि साधु किसी पर न तो अनुराग करते हैं और न उन्हें किसी से भेंट लेनी है। निन्दा स्तुति करने वाले पर समान दृष्टि रखते हैं। मस्तक काटने के लिये आवे तो उसे भी विरोधी नहीं कहते। कुगुरु के कहने पर मुनिको विषके मोदक देकर मारने की इच्छा करने वाले को साधु

ऊहापोह करने के अनन्तर बोला कि पूज्य ! क्या मैं यहां बैठ सकता हूं ? कितना विनय का गुण उद्भूत हुआ। पापी का वन है उसकी अपनी जगह है फिर भी वह विनय का उपयोग करता है। + + आत्मा के कल्याण के अर्थिओं के लिये पूजनीय ! क्या मैं बैठ जाऊं। आपने जो बातें की हैं वे मुझे प्रभावित करती हैं अतः मैं स्वयं अपने भावसे स्थिर हुआ हूं। अब तक खड़ा था मगर अब बैठना चाहता हूं। यह राजा ७००० गांवों का मालिक है। समदृष्टि चित्त भी समीपमें उपस्थित है। यह केशीमुनि से सब कुछ कह चुका है और ज्ञानी तो स्वयं ही समझते है कि इसे ज्ञान होने ही वाला है तथापि मुनि उत्तर देते है कि राजन ! उद्यान और भूमि तथा अधिकारादि सब कुछ तेरा ही तो है तुम जानो। मगर आज कल कोई साधु को वंदना करे तो साधु कदाचित् सामने भी न देखे तो वह कहेगा कि मेरा कुछ भी आदर न किया। मगर यह स्मृति मे नहीं रखता कि आदर लेने आया है या देने। यह अधिराज होकर पूछता है तब इसे मुनिराज कहते हैं कि बैठे तब अच्छा न बैठे तब अच्छा है। राजा भी यह सुन कर ताड़ गया कि 'ऐसे निस्पृह ही पार कर सकते हैं'। साधु यह भी नहीं कहते कि उपाश्रय में आइयेगा फिरभी विवेकसे कह सकते है कि धर्मोपदेश सुनने की आवश्यकता है ? यह तो इतनी दृढ़ और सत्य बात है जैसे दो और दो चार।

निस्पृहता न रख कर रागद्वेष की पुष्टि करने के लिए कहे कि दया पालो ! यह वाणी की माया है विशेष दंभ है, क्योंकि साधु किसी पर न तो अनुराग करते हैं और न उन्हें किसी से भेंट लेनी है। निन्दा स्तुति करने वाले पर समान दृष्टि रखते हैं। मस्तक काटने के लिये आवे तो उसे भी विरोधी नहीं कहते। कुगुरु के कहने पर मुनिको विषके मोदक देकर मारने की इच्छा करने वाले को साधु

अविधि होने के कारण आहारादि लिये विना वापस मुड़ते हुए उसकी निस्पृहता को देख कर उत्तम विचार आया और उसे बड़ा उत्ताप हुआ तव मुनि के पास प्रायश्चित लेने गया फिर भी मुनिके परिणाम न बिगड़े और निंदा स्तुति शत्रु मित्रके व्यवहार मे समान भाव ही स्थिर रहे। क्रोधी का विकल्प तक भी खड़ा न होने दिया कि इसने मेरे मारने की तैयारी की थी।

मुनि को अपने मार्ग से वाहर निकल कर धर्म वोध देने का अवकाश तक नहीं। जो पार होने के मार्ग पर स्थित है वह ही पार होता है। साधु की इस निस्पृहता पर राजा को वड़ा ही सन्तोप और रस उत्पन्न हुआ। उसे यह इच्छा हुई कि वैठ कर ही वातें करूं। पर क्या करू मुनि तो कहते हैं कि वैठना न वैठना तेरी इच्छा पर निर्भर है। ऐसे कट्टर अधर्मी को धर्म का वोध देना है और प्रधानका कहना है कि देशकालके अनुसार निर्भय रूपसे वोध देना। तव भी मुनि कहते हैं कि अवकाश नहीं है। दूसरा कोई धर्म पालन करे और उस धर्म वोध देने वाले को भी लाभ मिलता है यह न्याय तीन काल मे भी घटित नहीं है। लाख मनुष्य उपदेश सुनकर धर्म वोध पालें तव भी देने वाले को अंश मात्रका भी लाभ नहीं है। क्या लाखों जीव सुधर गये तब भी धर्म लाभ न हुआ ?

मान लो कि दो साधु हैं और वे समान उपदेश करते हैं, जिसमे एकके उपदेश से एक मनुष्य ने भी धर्मको न पाया हो तव क्या धर्म का महत्व या लाभ चला गया ? अरे अपना लाभ तो अपने पास ही है। अपनी परोपकार वृत्तिसे पुण्य उपार्जन या धर्म का लाभ जो कुछ होना है वह तो हो ही जाता है। वहुतों की यह मान्यता है कि यदि मैं अधिक लोगोंको धर्मम लगा दूं तो मुझे धर्म का अधिक लाभ होगा परन्तु वह अपना आत्मगुण खोकर वैभाविक

[illegible]

[illegible] है या अन्य से ? यदि [illegible] तो [illegible] अनुष्य धर्म पावे और उसका लाभ मुझे मिलता है यह किस प्रकार मान लिया जाय ? परोपकार [illegible] धर्म उपदेश करने पर मेरा धर्म [illegible] दूसरे पा जायँ तो वह उनके लिए लाभ का कारण होगा ऐसी भावना ही लाभ है, अन्य [illegible] तो उसे लाभ है, यदि न पावें तो अलाभ है। इस प्रकार की भावना रखता है अन्यथा नहीं।

कोई धर्मोप[illegible] न पाने पर उपदेशक को यदि खेद हो कि मेरे उपदेश के द्वारा लोग कुछ भी न पिघले, जरा भी नर्म न पड़े, मेरा उपदेश निरर्थक गया, कुछ भी फल न मिला, यदि ऐसी मान्यता हो तो उसके आत्मा की परतन्त्रता कभी न मिट सकेगी। क्योंकि उसका अभी स्वतन्त्रता की ओर लक्ष्य नहीं हुआ है।

धर्मोपदेशक औरों को समझाता है, और वे अन्य मनुष्य समझ जाएँ तब उसे हर्ष और गर्व न होना चाहिये तथा यह समझे कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। यदि उन्होंने धर्म पाया तो उनके लिये लाभ का कारण है और न पायें तो उन्हें अलाभ है मुझे उसमें खेद करने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि औरों के लाभ में

अपना लाभ सोचना परतन्त्रता है।

यदि अधिक पुरुषोंको धर्म में प्रतिबोध करूं तो मुझे मोक्षकी प्राप्ति होगी, इस मान्यतामेभी परतन्त्रता है और उसे मोक्षके लिये अधिक लंबा समय होगया तब भी आत्मा परतन्त्र होगया। इसी लिये सिद्धान्तकार कहते हैं कि सुननेका लाभ सुनने वालोंके लिये है और मेरा लाभ मेरे लिये। केशीमुनि भी यही कहते हैं कि यदि मैं उपदेश दूं और कोई प्रतिबोध पाजाय तो उसका लाभ मुझे न होना चाहिए कारण मेरी शुद्धअवस्था से मेरा धर्म प्रगट है और मेरे भाव द्वारा मेरी निर्जरा होगी।

मुनिओंका लक्ष्य

भावसे पुण्य और पाप होते हैं तब मुनि शुद्ध भाव द्वारा स्वाधीन रहते हैं। वे किसीको मक्खन चुपड़नेके लिए निठल्ले नहीं है। संसार के आरंभ मे या उसके संबध की बातों मे आरंभादि करना-कराना और अनुमोदना साधु के लिए सर्वथा वर्जित है। यदि बैठने के लिएभी कह दिया जाय तो देखे भाले बिना या प्रतिलेखनके बिना ही बैठ जायें तो जीव जन्तु के दबकर मरनेकी भी संभावना की जा सकती है। इस भांति वे हिंसाके कार्य मे मुनि इतना भी नहीं कह सकते कि बैठ! आत्मा की स्वतन्त्रताको सँभाल कर रखलिया जाय तो परतंत्रता आने की जरा सी भी संभावना न हो। वह आत्मा का धर्म और आत्मा की स्वतंत्रता जिस किसी भाव से चली जाय तो वही पराधीनता का दुःख और व्याकुलता है।

बहुत से लोग "पराधीन सुपने सुख नाहीं" की डींग भी हांकते हैं परन्तु परम धर्म को जानने की चेष्टा नहीं करते कि आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है उसमें जितनी पराधीन क्रिया आयगी, उतनी

ही परतंत्रता है, जहां पराधीनता है वहां विवेककी रखवाली कहाँ। अनादिकाल व्यतीत होने आया पुण्य और पापके मध्यका भेद भी अबतक न समझ पाया परन्तु आत्मा का अपने स्वभाव से बाहर रहनाही पापाचरण है। स्वाधीनदशासे बाहर निकलजाने पर विवेक नहीं रह पाता। अविवेकको विवेक मानना अज्ञानतासूचक है। यद्यपि कुछ अज्ञानी भी जानता है परन्तु राग-द्वेषके उपचक्षु (चश्मे)को पहन कर वे कुछ जानते हैं तब ज्ञानी लोग उसे उतारकर देखते हैं। राग-द्वेष अपना निजका स्वभाव नहीं है। वह अपना स्वभाव न होनेके कारण विभाव और उत्सूत्र है। अब तक अज्ञानतया परावलम्बिता से आनन्द और सुख चाह से मानता आरहा है, अभीतक स्वाधीनताकी गन्ध तक भी नहीं आ पाई है, मगर मुनि तो स्वाधीन दशा मे सतत जागृत रहते हैं तब ये गृहस्थों को आओ बैठो कब कह सकते हैं। इसके साथ ही संसारकी रीति भांति मुनिओं पर लागु नही होती। कारण गृहस्थोंका विवेक रागादि युक्त है तब राग द्वेष से रहित विवेक त्यागी का, बन्धकी दशा मे संसारी का विवेक होता है और यह स्वाधीन दशा को परतन्त्र करने जैसा विवेक कहाता है यानी परमार्थ दृष्टि में उसे अविवेक संदर्भित है। जो साधु अपने गुण मे स्थिर है वह राजा व रंकको समान दृष्टि से देखता है। परिग्रहकी दृष्टिसे तो उन्हें पाई पैसे की भी आवश्यकता नहीं होती। वे तो भोग के निमन्त्रण करने वाले को अज्ञानी ठहराते हैं।

राजा को मुनिने कहा कि आपकी चिद्वृत्ति (Conscience) स्वतन्त्र है परन्तु जो संसार के राग और विवेक मे ओत प्रोत हो गया हो वह उसे किसी प्रकार नही जान सकता। राग-द्वेष तथा संसार की अनुकूल अवस्था को स्वीकार करना ही प्रतिकूलता है

जैसे किसी गृहस्थ के घर यदि कोई लखपति या राजा आताहै तब वह बड़ाई बघारता है कि आज मेरा तो आंगन पवित्र होगया, सोने का सूर्य उदय हुआ, मगर यह नहीं सोचता कि क्या गुण आगया? जरा देख तो सही। यह तो पाप के भार से दुर्गति की ओर जाने वाला है। उसके पाद चिन्ह आने पर किस अपेक्षा से पवित्र हो गया? क्या राज्य और रुपया पवित्र वस्तु है? संसार की ऋद्धि को लोग इसीलिये पवित्र समझते है कि उन्हें संसार अत्यन्त प्रिय है। संसार का पुण्य प्यारा लगता है मगर संसार के फल से तो इसे नरक मे जाना पड़ रहा है। संसार की अनुकूलताएँ इसे विशेष प्रिय है। अधिक पुण्य वाले प्राणी ही अच्छे लगते हैं तब वह संसार के राग संबंधी फल मे सुख रूप प्रगट होकर आयगा या दुःख रूप। 'संसार के महान् पुण्य की अनुमोदना करना' महा पुण्य का अनुराग नहीं तो क्या है? अर्थात् अच्छे संसार का राग है। उसी रंग मे रजित है कि संसार प्रीति करने योग्य है। तब ससार के राग मे पुण्य बंध होता है या पाप। पाप के कार्य मे सुख तीन काल मे भी नहीं होगा। मगर सासारिक जन पाप के फल मे सुख मानते हैं तब क्या ज्ञानीजन अपने उत्तम नियम का परिवर्तन करदें। आत्मा के बिना संसार के सुख को सुख मानना, यह सुख अपना है या पर। कहना होगा कि यह आत्मा का सुख नहीं है बल्कि पर वस्तु द्वारा मिल रहा है तब पर सुखों को अपना मानना पराधीनता है या स्वाधीनता! और स्वाधीनता को खो बैठना सुख समझते हो या दुःख?

पुण्य और पाप आत्मासे पर-वस्तु हैं इसमे आत्मीयता मानना अपने सुख को छोड़ कर पर के सुख को मानने के समान है। पर को आत्मीयतासे अपना मानना पूरी परतन्त्रता है। स्वाधीनता

और पराधीनता को समझे बिना धर्म का रहस्य समझना कठिन है। पाप को छोड़ कर पुण्य तथा पुण्य को छोड़ कर धर्म के पाने का क्रम ही ठीक अनुक्रम है किन्तु अब तक वह पाप को भी तो नहीं छोड़ सका है। यदि पुण्य को भी छोड़ने की इच्छा हो उठे तो आत्म साधन के निमित्त के अभाव मे उसे जानने को भी क्या मिलेगा? पाप को छोड़ कर देव-गुरु-धर्म का अनुराग करने पर पुण्य उपार्जन करे और स्वाधीन दशा के पहुँचने मे लक्ष्य हो तो पुण्य आगे जाते समय धर्म मे सहायता करता है। बड़े आदमी के आंगन मे आने पर उसमें पवित्रता मानना मात्र पुण्य की महत्ता ही प्रधान स्थान प्राप्त है, इससे बढ़कर और कोई कुछ नहीं है। अच्छे साधनों का योग दिलाने में पुण्य को ही उत्तम माना है परन्तु संसार तो पाप मय है, विशेषतया वह उसके फल की अभिलाषा में लालायित है परन्तु उसकी समाप्ति मे सुख भी कहां से आ पायगा? × × ×

मुनि ने कहा कि राजन्! तेरा वन है, चाहो तो बैठ जाओ। [मगर आज के साधु तो यहां तक कह बैठते है कि हमारे उपाश्रय मे दूसरा व्यक्ति पैर तक नही रख सकता और अन्य के उपाश्रय में हमें भी क़दम नहीं धरना है पर यहां इनके मुंह से तो कुछ भी न निकला कि ख़ैर बैठ ही जा! 'तेरा वन है'! हम तो आज्ञा लेकर ठहरे हैं। जिस स्थान पर मुनि ठहरें हैं उसकी मलकियत का पक्ष मुनि नही रखते। धार्मिक न्याय मे मेरा तेरा कैसा? राजन्! तेरा वन है तू जान! संसार के हिलने-डुलने उठने बैठने की क्रिया में मुनिराज अनुमोदना कभी नहीं करते।]

'सब कुछ परवश' यह दुःख लक्षण, निज वश सुख ही सुख है,
आत्म गुण इस दृष्टि से प्रगटे, कह फिर दुःख क्या दुःख है।

अरे भाई ! संसार मे जिस प्रकार से चाहे रहे तथापि यह तो मानना पड़ेगा कि पराधीनता को स्वाधीनता मान लिया। पर यदि पराधीनता को पराधीनता मानोगे तो कभी न कभी छूटने का समय भी आ जायगा। संसार के इष्ट और अनिष्ट पदार्थों की प्रीति को छोड़ कर जितनी स्वाधीनता मिलती है उस लक्ष्य से उतना ही सुख प्रगट होगा। आक को बो कर आम कहां से खा सकेगा ? वस्तु का स्वभाव है कि वस्तु की मान्यता के अनुकूल कार्य करे तब फल को प्राप्त करता है।

बहुतसे लोगों का यह मत है कि, हमे जिस प्रकार अच्छा लगेगा उसी प्रकार करेंगे। हमारा अन्तर्नाद जैसा कहता है वही करते हैं। 'मगर स्त्री अच्छे कपड़े पहिन कर सामने आकर झुक जाय तो गर्दन तन जाय' तेरा अन्तर्नाद यही तो है कि विषयाशा न छूटने पाए और अन्तर्वृत्ति पर क़ाबू पा जाऊं ! भला यह कब हो सकता है कि अज्ञानिओं को अन्तर्वृति मे बुरी आवाज़ आती है। जब जैसा अच्छा लगे तब वैसाही कर डाले यह अपना अन्तर्नाद खूब हुआ। यदि यही सत्य है तो काले कारनामे कर लेने की इच्छा होगी और उन्हें भी कर डालोगे तब तो न्याय के अभाव मे संसार के सामने मुह दिखाने योग्य भी न रहोगे। भला जिसकी अन्तर्दशा अप्रगट हो उसके अन्तर से नाद भी क्या बजेगा ? लंपट के अन्तर मे से पर स्त्री की ही आवाज़ आयगी। वीतराग कहते है कि स्व-स्वरूप को समझे बिना अन्तर की आवाज़ का आना निकम्मा है। वीतराग ने अपने भावों द्वारा देख कर हित का मार्ग कहा है जिसमे विवेक करना आवश्यक तथा न्याय संगत मार्ग बतलाया है। वह किस उद्देश्य से क्या कुछ कहता है ? जिसे समझने की पूरी आवश्यकता है। इस तरह हमारी पुस्तकें पढ़ने

पर भी सत्य का समझना कठिन धारा है।

राजाको मुनिराज की निष्काम वृत्ति पर बहु मान और अचंभा हुआ। ऐसे प्रसंग मे ज्ञान शून्य व्यक्ति अनुकूल को प्रतिकूल मानता है परन्तु ज्ञानात्मा तो उसे ठीक मान देता है। वह समझ जाता है कि यह पुरुष निस्पृह है, धर्म का प्रतिबोध यह ही कर सकता है। इसी के ज्ञानमय संकेत कल्याण कर्ता हैं राजा के मन में यह निश्चय पूर्ण रूप से सोलह आने घर कर गया।

वह उसी समय नीचे बैठ गया और पास में चित्त प्रधान भी बैठा। जब अध्यात्म मार्ग मे प्रवेश करना हो या आत्मा के समीप में रहना हो जब आत्मा के धर्म के समीप होना है तब उस आत्म धर्म को चित्त के द्वारा ही प्राप्त करता है, उस (मन) की पूर्ण सहायता होती है। परदेशी अनन्त काल से पराधीनता का कष्ट भोगता आ रहा है वह चित्त के द्वारा धर्माधिकारी होकर नीचे बैठने के अनन्तर राजा प्रश्न करना आरंभ करता है।

आत्मा और देहकी भिन्नता का प्रश्न

भगवन् ! आपकी मान्यता, संज्ञा और आपका ज्ञान दृढ़ और सत्य है ? वह यह कि आत्मा और देह अलग अलग हैं। इस प्रकार को लेकर राजा पूछ रहा है और उससे वहुत समय पहले इसने वहुत से मनुष्यों को मारकर उनके जीव तथा कायको अलग अलग समझने का पूरा श्रम किया है। आत्मा को समझने की इसे वड़ी ही उत्कण्ठा है, जिसे समझने के लिये इसने अधिकाधिक हत्याएँ भी कर डालीं।

सभ्यता का व्यवहार

क्या आपके आत्मा को ऐसा ज्ञान है ? कि शरीर से आत्मा अलग है, बहुत से मनुष्य भी यही कहते हैं कि हम आत्मा और देह को अलग २ मानते हैं मगर इतना बड़ा मन्तव्य रखते हुए भी न मानने के उनमें अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं । जैसे चित्रसेन को यदि कोई गाली देता है तो वह खून खिजता है, निन्दा और प्रशंसा को भी अपने ऊपर घटा लेता है, मेरी निन्दा क्यों की यह कह कर लोगों से झगड़ पड़ता है, चित्रसेन के गले में जूतों का हार डालेंगे और कोयले की या तवे की स्याही से इसका कपाल और मुंह रंग देंगे तब वह सुनते ही सब अपने लिये समझने लगता है। परन्तु इनसे उसे क्या ? वह कहाँ है ? क्या वह आत्मा ही चित्रसेन है ? शान्तिकुमार बुरा कहा गया तब क्या आत्मा बुरा होता है ? यदि नहीं तो खिजने की क्या जरूरत है। सब लोग अपना स्वरूप देह और नाम में मानते हैं, देह और मान बड़ाई के लिये सब कुछ उठाने को तैयार हैं परन्तु आत्मा के लिये तनिकसा त्याग भी अखरता है। कोई मुक्का मार कर भागने लगे तो उसे पकड़ने के लिये पीछा करता है और लोगों में पुकार कर कहता है कि इसने मेरे मुंह पर मुक्का मारा है तब मैं इसके प्राण लेकर ही छोडूंगा, अगर आत्मा और अनित्य देह के लिये लोग इस प्रकार पापड़ क्यों बेलते हैं। एक पत्नी के बाद [illegible] होने पर भी यद्यपि उसके अनुकूल वर्ताव करता है, फिर भी कहता है कि मेरा अवस्था ठीक नहीं है, मेरा जीरिव (जी) अच्छा नहीं है, इस प्रकार सांसारिक [illegible] आप पाप करता रहता है ! अहा देखो यहां 'मैं और मेरा' इसी [illegible] देखा गया। इस

बातों से आत्मा अलग कहां माना गया ? यदि उनकी बातों पर जायँ तो आत्मा और देह एक ही बात ठहरती है और मान्यता की झांकी करें तो उन्हें अलग अलग सिद्ध करने के प्रमाण देकर सारा ही बल खर्च किया जा रहा है । चित्रसेन आत्मा को अलग रखकर देह को ही सर्वस्व सिद्ध करता है, मेरी काठी—देह रचना बचपन से ही पतली है, मेरा शरीर सुन्दर और सुरूप है, पर यह नहीं जानता कि तू स्वयं सुंदर है या शरीर ? आभा शरीर में है या आत्मा मे, 'मुझे और मेरे शरीर में' इस प्रकार दो भेद करता हुआ एक रूप ही मानता है । शरीर और नाम की निन्दा तथा प्रशंसा के चक्कर मे पड़कर सब कुछ अपना (देहका) मानता है। मरते मरते भी लड़के को पास बिठला कर कहता है कि बेटे बैठजा मेरे पास ! मैं तो तेरे जिये जीता हूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वयं विद्यमान ही तो है अभी या कभी उसके लिये भी मरा भी तो नहीं है । अन्त समय इतना तक कह जाता है कि एक हजार यहां देना और दो हजार वहां । मरे बाद प्रेतभोजन अवश्य करना वर्ना मैं दर्गाह (परलोक) मे तेरा पल्ला पकडूंगा, अनन्त ज्ञानी और अनन्त सुख समृद्ध आत्मा को इतना प्रतिबंधित करने की क्या जरूरत ? तेरे सुखी जीवन मे मैं सुख से मर रहा हूं मुझे तेरे सुखी देखने से मरने का खेद न होगा बेटा ? अन्त मे सब कुछ छोड़ कर यह खाली हाथ जा रहा है मगर विवशता से फिर भी असंग और अरूपी आत्म राज ममता के रस्सों मे क्यों जकड़ा हुआ है ? आत्मा मे प्रीति होती तो 'मरजाऊँ पर नाम को रखता जाऊँ' इस बेतुकी मान्यता का पक्षपाती न होता । पर जब वस्तु से छूट ही रहा है तब मैं और मेरा कहां रह जाता है जिसका अब तक भान भी नहीं हुआ है । वह ज्ञानियों के सन्मुख

भी यही कहता है कि यश तथा ख्याति से जीवित हूं और धारणा में अपने को अमर कहता है। जीवन नाश होने की पर्वाह नहीं परन्तु कीर्ति मे बट्टा लगना अच्छा नहीं। सबसे बड़ी और अच्छी बात मात्र एक यश है॥ अतः मकान-नाम-शरीर-जरा चित्रसेन आदि नाना वस्तुओं मे आत्मा को मानने के कारण आत्मा वही है इनसे अलग किसी वस्तु मे आज तक किसी ने मरना पसद किया है तो सिर्फ सुनी सुनाई बात है प्रत्यक्ष मे आत्मा का पक्ष लेने को कोई भी तयार नहीं हुआ मगर मान्यता मे परमार्थ दृष्टि मे आत्माको देह से अलग सिद्ध करते हैं क्रियात्मक रूप से नहीं। इससे मुनिराज! आत्मा और देह एक ही बात जान पड़ती है।

(१) भगवन्! आप आत्मा को अलग मानते हैं ?

(२) 'आत्मा देह से भिन्न वस्तु है' क्या यह आपको स्वीकृत है।

(३) आपकी यही प्रज्ञा है कि आत्मा देह से अलग है ?

(४, आपकी दृष्टिमे भी यही समाया हुआ है कि यह आत्मा देह से तो जुदा है ? आपकी तुलनात्मक बुद्धि की ऐसी शक्ति है ? तब क्या आपने न्याय को तौलकर आत्मा और देह अलग अलग प्रत्यक्ष करके माना है या सुनी सुनाई बातों से, [जिसने आत्मा के स्वरूप को जाना है वह आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप को भी जानता है या नहीं ? इसी उद्देश्य से वह विशेष निर्णय द्वारा जानना चाहता है]

(५) क्या आपकी दृढ़ता मे इतनी रुचि है कि आत्मा और देह अलग वस्तुएँ हैं। आपका अभिप्राय भी यही है न ? क्या इसमें कुछ परिवर्तन तो न होगा ? (अब इसमे निर्णय पाने की तीव्र अभिलाषा है)

(६) क्या आपके अभिप्राय को सिद्ध करने वाला हेतु ऐसा ही है ?

(७) इस प्रकार यह कथन आप का ही है या परम्परा से अनुभव द्वारा मानते आ रहे हो।

(८) क्या आपका उपदेश भी यही है, शायद परम्परागत मान्यता हो और उपदेश न किया जाता हो।

(९) क्या आपने विचार तुला मे इस विषयको तोल कर देखा है? देखा देखी तो नहीं है? अर्थात् परीक्षा द्वारा अंतर न्याय से तोल भी लिया है?

(१०) आत्मा नाम में तो नहीं है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदाथ मे तो स्वीकृति और निर्णीत विषय नहीं है न? शरीर के नाम से आपका ज्ञान स्खलना तो न पायगा? नाम की स्वीकृति की तरह आत्मा की स्वीकृति दोगे या परभाव की? क्या आपका विषय प्रमाणित भी है? आप ने अपने ज्ञान द्वारा आत्मा का माप तोल करके देखा है? आप के दृष्टान्त में भी यह सिद्ध है कि जिसे [सेर प्रमाण वाले] लोटे के माप का भान न हो उसे उस सेर के लोटे से माप कर दिया जाय तो वह उस दूध को प्रमाणित नहीं करता तथा उसे सन्तोष भी नहीं होता। क्योंकि उसे उस माप मे निर्णय बुद्धि नहीं है इस लिये वह यह कहता है कि जिस तोल से जाता है उसी से दे। परंतु जिसे यह भान है कि जैसा सेर वाला लोटा मेरे घर है उसी मापका यह भी है, उसको भर कर दे तो अप्रतीति को स्थान कहीं नहीं है। मगर जिसे माप का खयाल न हो उसे क्योंकर सन्तोष हो। संतोष भी वस्तु न होकर ज्ञान से होता है। यदि वस्तु मे सन्तोष होता तो पहले ही हो जाता अत: सिद्ध है कि संसार को सच्ची वस्तु में सन्तोष है जिसे प्रकृति सिद्ध बात कहना चहिए। क्योंकि ज्ञाता को सदा से ज्ञान द्वारा ही सन्तोष उत्पन्न होता रहा है जैसे स्त्री का

स्वभाव जानने पर सन्तोष भाव हो जाता है और फिर उस के विषय मे किसी प्रकार का तर्क या विकल्प नहीं हो पाता वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए जहा तक वास्तविक ज्ञान न हो वहां तक मन में गड़बड़ ही रहती है।

आत्म दृष्टि में वैकल्पिकता

आत्मा का ज्ञान और उसकी शक्ति तीनों काल में समान होती है फिर भी यदि कोई उसे एक काल मे मान कर एक काल मे न मानता हो तो उस दृष्टि ने आत्म तत्व का ज्ञान ही नहीं पाया है। जैसे क्रोध किसी समय तो पैदा हो जाता है और दूसरी बार न होने से क्रोध को अपना ही स्वभाव मानने लगे तो इस मान्यता वाले ने आत्मा को नहीं माना है। परमार्थ दृष्टि से आत्मा को मानने वाले के लक्षण अलग ही होते हैं। 'आत्माका ज्ञान अपना ही स्वरूप है' ऐसी मान्यता रखने वाला हितकी ओर झुक सकता है। यदि पर वस्तु मे भी आत्मीयता रखता हो तो अपना हित समझना अत्यन्त कठिन है। पर वस्तु मे आत्मीयता मान कर हित करने के लिये बढ़ा चले तो वह शरीरादि पर-वस्तु का हितैषी हो सकता है। इस प्रकार जो देह वृद्धि आदि पर वस्तु मे हित का ध्यान हो तो परहित की अपेक्षा स्वहित को बिल्कुल त्याग देगा।

परन्तु प्रमाण से अपने स्वरूप का भान होने पर विकल्प जाल नहीं टिक सकता। इसके अतिरिक्त लोकालोक का स्वरूप लोटे की तरह माप कर नहीं रक्खा गया है, उनको भी ज्ञान के द्वारा जानकर ही सन्तुष्ट होता है तब विकल्प मिट जाता है। इस रीति से असंतोष मिट सके तो राग-द्वेष और अज्ञान द्वारा संसार

में व्यापक विरुद्ध दशा टल सकती है। आत्मा का वास्तविक ज्ञान होने पर हित मात्र रह कर अहित का भाव जाता रहता है, क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि किसी विलक्षण या नवीन वस्तु को आंखों द्वारा न देखा गया हो वहां तक देखने की लाल॰ सा रहती है और देखने के बाद लालसा मिट जाती है। जैसे गुह्य स्थान सदैव गुप्त रहता है तब लोगों को उसके देखने की वांछा भी होती है परन्तु देखने पर वह उत्कंठा नाममात्र को भी नहीं रह पाती, संसार न जाने किस प्रकृति का है उसे सन्तोष नहीं आता। वस्तु को पाकर सन्तोष नहीं होता बल्कि वस्तु की अनु॰ कूलता या प्रतिकूलता मे से विकल्पजाल मिट जाता है। ज्ञान में वस्तु या विभाव का समावेश होने से वस्तु को नवीन रूप से जानने लगता है और उसे फिर प्राप्त करने की धुन में व्यस्त होकर अपनी सब की सब शक्ति लड़ा देता है।

आत्मा के स्वभाव में यही विशेषता है कि ज्ञेय वस्तुके जान लेने पर फिर कल्पना और चाह नहीं रहती बल्कि सन्तोष होजाता है जिस से यह फलित निकलता है कि सबसे पहले आत्मा के मुख्य स्वभाव को ही समझ लेना चाहिये। साथ ही परको जानने में फिर किसी प्रकारसे विलम्ब नहीं होता ठीक है अपनेको जानने वाला ही पर को जान सकता है।

राजा भी शायद इसी भाव को लेकर पूछता है कि मुने! आपने अपने आत्मा द्वारा आत्मा का भान (आत्मा के स्वभाव का निश्चित ज्ञान) कर लिया है न? क्योंकि जब वस्तु का ज्ञान होता है तब ही उसकी भ्रमणा अवश्य मिटती है।

'समोसरणं' का अन्तिम वाक्य

'समोसरण' यह अन्तिम वाक्य कहता है कि नाथ ! क्या यह मान्यता आप की अपनी है या आपके अनुयायियों की भी है? अर्थात् जो आत्मा के हित की ओर झुकते हैं उन सबके कल्याण का अथवा हितवृत्ति का मार्ग एक ही होता है या पृथक् रहता है? हित के पथमें किसी प्रकार का भेद तो नहीं है? इन प्रश्नों के प्रमाण के मार्ग हे पूज्य! आपकी तथा औरों की वृत्ति मे एकता है या भिन्नता? आपकी और औरों की वृत्तिमे मेल खाता है या नहीं? देह और आत्मा को मानने वालों का मत एक है या कुछ भेद है? इन प्रश्नोंमे वस्तु एक ही है परन्तु जिज्ञासा-लगन-तन्मयता अभिलाषा भावुकता की अधिकता है [इसका अंतः करण आत्मा की ओर झुका है जिस से इनका सबका एक मत है। आत्मा का सन्तोष अपने मे प्रगट करके उसे अभी ही आत्मा का साक्षात्कार पाना है] आत्मा और शरीर की भिन्नता की बात सब के सब मुनि एक मत से कहते हैं। आत्मा की प्रतीति गहराई मे जाकर बैठी है मगर जैसी निर्मल श्रद्धा होनी चाहिये अभी वैसी श्रद्धा नहीं है। भ्रान्ति स्वरूप दर्शन मोहनीय का आवरण पर्दे के रूपमे पड़ा है जिससे प्रेरित होकर नकार मे जवाब देकर कहता है कि-

महाराज! मेरे पास एक ऐसा उदाहरण है जिससे आत्मा शरीर से जुदा सिद्ध नहीं होता। अपना निर्णय करने के लिये यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। उपयोग के द्वारा ज्ञानी के उत्तर मे विचारमग्न होकर एकाग्र होता है अन्तर मे खूब सोचकर ही यह कहता है कि सभव है आप की बात सत्य हो लेकिन मुझे विश्वास नहीं आता। क्योंकि मेरी युक्ति मुझे बाध्य करती है। अर्थात् आत्मा का हित

अलग है और संसार (देह) का हित अलग है इसे अबतक नहीं समझ सका हूं। जिसका भाव अपूर्ण एवं कच्चा हो उसकी वाणी भी कच्ची होती है वह मात्र दर्शन मोह के आवरणका कारणहै। समझने के अनन्तर विघ्नभूत चरित्र मोहनीय का आवरण भ्रान्तिरूप होता है। यह प्रश्नों मे एकाग्र होकर आवरणके ऊपर काट करके अधिकार जमाता जा रहा है। जितने प्रश्न हैं सब मे विभावकी काट है। आत्मा देहसे अलग है यह इसका निश्चय नहीं है वह आत्मा से अलग वस्तु नहीं है यानी ये दोनों एक ही बात हैं। उस की धारणा भी यह ही है मगर इसे तो हेतु पूर्वक समझना है अत हेतु सहित बाते करता है।

राजाके प्रश्न मे दो न्याय हैं। प्रथम हेतु पूर्वक पूछता है और दूसरे आवरण हटाने की एकाग्रता को स्थान देता है। अतः वह पहला प्रश्न इस प्रकार पूछता है कि मुने!

पहला प्रश्न

मेरा दादा श्वेताम्बिका नगरी का स्वामी था, परन्तु परले दर्जे का अधर्मी था, अनीति और अन्याय की ओट में मुद्दत तक काले कारनामे ही करता रहा। आप की धारणा और कथनानुसार उसे नरक में उत्पन्न होना चाहिये क्योंकि अधर्म का फल आप नरक बताते हैं। महाराज! मैं उसका पौत्र हूं, पोते तो बहुतसे हो सकते हैं किन्तु मैं अपने दादा को अत्यन्त प्रिय था। वाञ्छनीय प्रेम का कारण मनके अनुकूल रहने से प्रगाढ धैर्यका कारण बन गया था। दुःखके समय जब उसके पास चला जाता तब मेरे शरीर पर हाथ फिराकर अपने दुःखको भूल जाता था, प्रत्युत यह प्रेमका रंग इतना निराला था। मै उसकी प्यारी से प्यारी वस्तु तोड़ फोड़ देता तब भी

मुझसे अप्रीति करनेवाला न था। अधिक क्या कहूं उसके अंतरात्मामे मेरे लिये अत्यन्त प्रेम था। इसकी गर्दन काटलेता तब भी प्रेम मे घाटा पड़ने वाला न था। मंजूषा के रत्न की तरह अत्यन्त वल्लभ था, जिसे सुनना और देखना दुर्लभ है अपने दादा को मैं इतना अधिक अद्वितीय प्रिय-पौत्र था।

यदि दादा नरकसे आकर कहे कि प्रिय वत्स! मैं तेरा दादा हूं तू मेरे पुत्र का प्यारा पुत्र है। मैंने पूर्व जन्म मे अनीति-अन्याय हत्या-झूठ आदि पाप किये थे जिस से मेरी नरक गति हो गई है इस लिये इतना कहने आया हूं भइया! कि अब से आगे तुम भूल कर भी पाप न करना वर्ना तुझे भी नरक मे उत्पन्न होकर अनेक नारकीय ताप सहने होंगे।

भगवन्! आप कहते हो कि अधर्मी और पापी नरक में जाते हैं तब तो मेरा दादा भी अधर्मी था और नरकमे भी अवश्य गया होगा। उसका मुझपर अत्यन्त स्नेह था, वह मुझे यह संदेश देने क्यों न आया। इस प्रकार की युक्ति के उपयोग से वह हेतु को पकड़ता है, तब तो ऐसे दलीलबाजों को समझानेमे क्या कठिनाई पड़ सकती है। कारण हेतु के साधनसे झगड़े का अन्त आ सकता है। राजा ने जिज्ञासा भाव से समझने का अवकाश पाया है। मुनिराज! वह यदि नरक से आकर समझा दे कि पाप न कर! इतना उसके मुंहसे अपने कानोंसे सुनलू तो रुचि और प्रतीति कर सकूं कि आपकी मान्यता सत्य है अर्थात् शरीर को तो हम जला आए हैं और जीव नरकमे चला गया। महाराज! यह मेरी युक्ति है। यह अभी तक सुरक्षित रह रही है तब कहिये आपकी बात क्योंकर मान ली जाय! मेरे साथी बहुत से लोग हैं और वे भी

यही कहा करते हैं कि भई ! परलोक किसने देखा है ? महाराज ! वह यदि आकर कहे कि पाप न कर और मेरी दुर्गति को देख ! इतने पर अपनी मान्यता बदलकर आपके विचारों में सहमत होनेमे मेरी क्या हानि है ? मुझे आँख मींचकर प्रतीति नहीं करना है मुझे तो प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिये फिर उसी दम मान जाऊंगा कि शरीर और आत्मा अलग अलग हैं। जहां तक वह आकर न कहे तबतक मेरी धारणा ठीक है। आप चाहे पुनः पुनः कहते रहें पर मुझे निश्चय न होगा । पूर्ण अनुभव हुये बिना क्योंकर मान जाऊ।

पहले प्रश्न का उत्तर

मुनि—राजन् । तेरी सूरीकान्ता रानी है ?

राजा—हाँ है न ! मन ही मन यह मुनि मेरी रानी का नाम भी जानता है ?

मुनि—तेरी वह रानी स्नान करने के अनन्तर अलंकार पहन कर शरीर को सज्जित करती है। यदि वह किसी अन्य पुरुष के साथ विषय के शब्द कहे या अपना रूप दिखला कर किसी पुरुष को विषयों में फंसा कर उससे रमण करती हो फिर तेरी दृष्टि अकस्मात् उस कांड पर पड़ जाय तब राजन् ! सत्य कह ! तू उस पुरुष की क्या गत बनावेगा उसके साथ कैसा बर्ताव करेगा ? राजा ने भी हेतु मांगा है कि नरक से आकर कहे तब मानूंगा। वे उसीको समझाने के लिये कह रहे है कि राजन् ! उस पुरुष के संबंध में तू क्या करेगा ?

शंका—मुनिराज ने भिखारी की स्त्री के विषय में क्यों न कहा ! उसे इतना कठोर उदाहरण क्यों दिया।

समाधान—भिखारी बिचारा अपनी स्त्री के साथ किसी अन्य

को विषय सेवन करते देख कर क्या कह सकता है ? उसे इतनी शक्ति कहां प्राप्त है। मगर यहां तो राजाको समझानेका प्रसंग है न! यदि उसके स्वयं के ऊपर कुछ कष्ट आकर पड़े तो मालूम होगा कि मुझ पर ऐसी बीते तो मैं शक्ति सम्पन्न होकर क्या करूं।

किसी अन्य ग्राम मे प्लेग होने पर लोग कहेंगे कि बहुत बुरा हो रहा है। किसी का बीस वर्षीय जवान लड़का दुनिया से उठ गया वह सात सात घरों को मानो ताला लगा गया। इतना कह कर सब लोग वहीं रह जाते हैं पर जब वैसा ही घाव अपने कलेजे पर जाकर बैठता है तब खबर पड़ती है कि किसे कितना कष्ट होता है।

परदेशी राजा की भी सबसे अधिक प्रिय वस्तु सूरीकान्ता रानी ही है। यदि सर्व साधारण पुरुष अपनी रानी से व्यभिचार करता दीख पड़े तो जहर न चढ़ जायगा। यह सात हजार ग्रामों का नरेश है, समझाना भी इसी को है इसलिये उसीको दृष्टान्त में लपेट लिया।

राजा—महाराज ! मेरी रानी से विषय सेवन करने वाला कभी क्षमा के योग्य नहीं, उसके तो अपने हाथ से हाथ पैर काट डालूं और फिर शूली पर चढ़वा दूं [इस प्रकार दंड देने की वृत्ति का उदय हो गया]

[शकटाल कुम्हार भगवान् महावीर के समय मे हुआ है। वह एक समय पुरुपार्थ को नही मानता था वह यही समझता था कि होनहार अवश्य होकर रहती है। आत्मा के पुरुपार्थ से क्या होना जाना है ? यह थी उसकी मुख्य मान्यता और गोशाले का वह भक्त था। उसके मस्तिष्क मे यही समाया हुआ था कि बिना ही उद्यम होनहार की प्रेरणा से सब कुछ हो जाता है।

एक समय वह महावीर भगवान् की परिषद् में प्रभु की सेवा में पहुंच गया और उनके समीप वही प्रसंग छेड़ दिया। तब भगवान् ने प्रश्न किया कि हे शकटाल ! (शक डाल) ये बर्तन तू किस प्रकार बनाता है ?

शकटाल—अपनी खान से मट्टी खोद कर लाता हूं, पानी डाल कर उसे गलाता हूं, पैरों से रौंद कर उसे कमाता हूं, वह मट्टी एक जान हो जाती है फिर उसके पिंड बनाता हूं तब चाक (चक्र) पर रख कर बर्तन रचता हूं। धूप में सुखाता हूं पकाता हूं इत्यादि सब क्रियाएँ अथ से इति तक की बतादी।

प्रभु—यह सब पुरुषार्थ के बल से हुआ या उसके विना ही ?

शकटाल—इन्हें इसी प्रकार बनना था।

वीर प्रभु—शकटाल ! तेरी अग्नि मित्रा स्त्री के साथ यदि कोई विषय सेवन करने लगे तब तू उसे देख कर उसके साथ क्या व्यवहार करे।

शकटाल—उसके हाथ पैर काटकर उसे जान से मार डालूं।

वीर प्रभु—तेरे बर्तनों को यदि कोई फोड़ डाले तब तू उसे अपना अपराधी समझेगा या नहीं ?

शकटाल—उसे भी अपराधी समझ कर कड़ी ही सजा दूं फिर राज्य शासन में दंडित कराऊं।

वीर प्रभु—क्या ये दोनों घटनाएँ भी तेरे विचारानुसार होनहार से संबंध नहीं रखती अर्थात् स्त्री के साथ विषय सेवन करने वाले को तथा बर्तन भाड़े फोड़ने वाले को अपने मन्तव्य के अनुसार किस लिये अपराधी समझता है। खाने-पीने-सोने-बैठने फिरने-कमाने आदि में तो पुरुषार्थ मान लेता है परन्तु धर्म भाव में लगते समय 'होनहार अच्छी होगी तो धर्म साधन किया जा

सकेगा अन्यथा नहीं' कह कर वहां धर्म पुरुषार्थ को साफ उड़ा देता है। इस भांति शकटाल को भगवान् ने दोनों दृष्टान्तों द्वारा समझाया कि 'होनहार होगा' इस प्रकार मानने वाले किसी को भी दोषी (अपराधी) नहीं ठहरा सकते। साथ ही अपराधी ने उद्यम से जो अपराध किया है उसे मानने पर अपराधी निर्दोष ठहरेगा।

शकटाल को भी प्रभु ने उसकी स्त्री का ही दृष्टान्त देकर समझाया, क्योंकि अपने ऊपर बीते तो पता लगे और उसी समय वीर्य की स्फुरणा भी हो उठे। इस रीति से देर में समझने वाला तुरन्त समझ सकता है। वर्तमान में भी वीर्य की स्फुरणा का विकास होने पर अपराधी ठहराया जा सकता है। वीर्य का वेग आने पर पुरुषार्थ को अपने दृष्टान्त द्वारा तुरंत मानता है। 'जो कुछ बनना था वह बन गया' अब यह बात न रही। इसी कारण शकटाल ने भी निवेदन किया कि प्रभो! मुझे केवलज्ञानियों का मार्ग बताइये। सामने वाले ने अपने अपराध को सहसा मान लिया इसमें भी वीर्य की स्फुरणा का मूल कारण है तथा अपराधी के अपराध का मनवाना भी पुरुषार्थ के बल बूते पर ही निर्भर है। इसमें दोनों विषयों का रहस्य जान लिया जाता है और तथ्य प्रगट हो जाता है।

शकटाल—प्रभो! केवल ज्ञानी का यथार्थ मार्ग मुझे समझाइये, जो कुछ होनहार था वह होगया, अब वह समाधान मेरा नहीं रहा। हां अब तो इस निर्णय पर दृढता है कि करने से सब कुछ होता है। प्रभो! आपका उपदेश सत्य है। मेरे मन का समाधान होगया। इस प्रकार स्त्री का उदाहरण देने पर बल-वीर्य पुरुषार्थ पराक्रम के महात्म में जल्दी ही वह निकला। सीधे सादे

प्रमाण की पर्वाह यह कहां करने वाला था। इसने कितने बड़े हेतु द्वारा शिक्षा पाई है जिससे निरन्तर स्वीकृति देकर कहता है कि भगवन्! प्रमाण है, पुरुषार्थवाद को स्वीकार करता हूं। × × × × × राजन्! इस प्रमाण से यह जानना है कि अपनी रानी के साथ विषय सेवन करने वाले व्यक्ति के साथ तू कैसा बर्ताव करेगा?

राजा—उसी समय मार कर टूक टूक करदूं, सत्य है हेतु और कारण जादू का काम करता है और उसी समय मस्तक पर चढ़ कर बोलता है। इसके अतिरिक्त जो हेतु कारण को नहीं समझ सकता वह आगे भी नहीं बढ़ सकता। सभा में इस समय काना फूंसी होने लगी कि सात हजार ग्रामों के मालिक-राजा को गुरुदेव क्या कह रहे हैं? सब सभासद स्तब्ध हो गये हैं। हम तो राजा को परले सिरे का अधर्मी समझते थे परन्तु इसमें तो अब बहुत बड़ा विकास होना आरंभ होगया है यही विचार लोगों को स्तंभित कर रहा है।

मुनिराज—राजन्! यदि तेरा वह अपराधी यह कहे कि पृथ्वीनाथ! दो घड़ी ठहरें अभी मेरे हाथ पैर न काटिये, मैं अपने स्वजन संबंधी और कुनबे वालों को यह कह आऊं कि प्यारे मित्रो और बांधवो! भूल कर भी कोई परस्त्री का लम्पट न हो, यदि कोई व्यभिचार करेगा तो याद रक्खो मेरी तरह तुम्हें भी अपना मस्तक कटवाना पड़ेगा। राजन्! क्या अपने अपराधी की इस प्रार्थना को स्वीकार करेगा?

राजा—उसकी बात क्षण भर के लिये भी न सुनूंगा? [इस परिस्थिति मे लोगों को इतना जहर चढ़ जाता है कि उसी समय व्यभिचारी को जान से मार डालते हैं, ऐसों को राजी खुशी कौन

घर जाने देता है। तब भला यह राजा तो उसकी बात क्यों कर सुने ?] इसी लिये राजा कहता है कि उसकी बात नहीं सुनूंगा ?

मुनिराज—कारण !

राजा—अजी महाराज ! वह मेरा अपराधी पुरुष है ऐसे गुण्डों को क्योंकर छोड़ दिया जाय।

मुनिराज—इसी प्रकार हे राजन् ! तेरा दादा नरक में है यद्यपि तुम्हें वह प्यार भी करता था, तुममें उत्सुक भी अधिक था साथही वह आनाभी चाहता है परन्तु जिस प्रकार तू अपराधी को नहीं छोड़ता इसी भांति नरक के नारकीयों को परमाधार्मिक नहीं छोड़ते। साथ ही नरक से न आने के चार कारण भी होते हैं। अर्थात् परमाधार्मिक (नरक के अधिकारी लोग) उसे नहीं छोड़ सकते; क्यों कि यदि पहाड़ को ऊपर की मुटाई (मूल में) से छाट कर काट डाले तो पहाड़ का वह भाग नीचे लुढ़क कर किसी गढ़े में गिरजाय तो उस भाग को किसी भी प्रयत्न से नहीं उठाया जासकता इसी प्रकार अधर्म के पहाड़ के बड़े२ धक्के खाकर (गिर कर) नीचे की नरकों मे चला जाता है। वह चाहे यहां पलंग पर सोकर भी गया है तब भी यदि लौट कर आना चाहे तो अपने उस मूल नारकीय शरीर से वापस न लौटने के चार कारण हैं—

नरक से न लौटने के चार कारण

(१) नरक में इतनी अधिक वेदना भुगतनी पड़ती है कि यदि यहा की आग के अंगारों का विस्तार लगा दिया जाय तो वह नारकीय उस मे शान्ति से ऊंघ जायगा, पर लोग इस बात को सुगमता से समझ भी नहीं सकेंगे और समझो कई बार सम भी गया है। सारांश यह है कि वहा इतनी अधिक उष्ण

यहां की सब अग्नि एकत्र करके शय्या रचाई जाय तो वह नारक उस पर सुख से सो जायगा क्यों कि मनुष्य चार कारणों से नरक मे जाते हैं।

(१) महान आरम्भ के कामों मे जिस के द्वारा जीव हिंसा होती है, इस प्रकार आरम्भ (हत्या) कार्यों से नरक में सीधा ही जाना होता है।

(२) महान परिग्रह-अपने और पराये धन धान्य आदि पदार्थ पर हद से ज्यादा ममता रखना।

(३) मांस का आहार खाने से।

(४) पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से।

ऐसे२ पापों का फल भुगतने के लिये नरक मे गया हुआ जीव पुनः लौटने की इच्छा करे तो वहां की वेदना इतनी तीव्र है कि वह यहां किसी भी उपचार या साधन से नहीं आ सकता। जब काले कारनामे किये हैं तब उन्हें तो नरक ही होगा न ? अपनी जीभके लालच को पूरा करने के लिये सैंकडों चिड़याओं की जीभ को पका कर खाने वाला इस नरक गति को न पाय तो और क्या पायगा ? अब यहां इस ने शरीर ही ऐसा प्राप्त किया है कि एक कदम उठाते ही उसका देह पारा२ होकर बिखर जाता है।

(२) परमाधार्मिक उसे आने भी नहीं देते।

(३) नरक की वेदना का कर्म (पाप कर्म) उपार्जन करने के अनन्तर नरक गया है अब वह पाप टल नहीं सकता। इस लिये भी वापस नही लौटता।

(४) नरक के आयु की स्थिति बांधकर गया है उसे भोग कर पूरा किये बिना कैसे आ सकता है।

राजन् ! इन चार कारणों से नारक यहां पुनः नहीं आ सकता

यह निश्चय समझ रख कि तेरे दादाकी भी यही दशा होरही है और वह इन कारणों से तेरे पास नहीं आसकता यह बात निस्संदेह है।

राजा—गुरु जी ! मेरे पास एक और उदाहरण है।

(अनन्तकाल से यह जीवात्मा अपने स्वभाव को न जानने के कारण विभाव में पुरुषार्थ का बीज बोता रहा है। यदि वस्तु आवश्यक क्रय्य हो तो उसे मुह मागे दाम देकर भी लेने का भाव उत्पन्न करता है। संसार-शरीर-प्रतिष्ठा-वासना आदि की मिठास का लालच (आवश्यकता) है तब ही तो मनुष्यत्व की आवश्यकता का अमूल्य काल खपाकर भी उसे लपककर लेने दौड़ता है। इसी से अनन्तकाल बीतने पर भी आत्म स्वरूप की मौलिकता को जीव ने न समझा और आत्मा की ओर का ज्ञान विकास यों ही लुप्तप्राय होगया जिसे लक्ष्मी आदि पर-वस्तु की आवश्यकता और क़ीमत की विशेष चाह है वह शरीर में पीड़ा-व्यथा-दु:ख-चिन्ता आदि के रहने पर भी दिल की भीतरी लगन से उसी में लिपटा रहता है। क्यों कि उसने देह और लक्ष्मी का ही मूल्य आका है फिर भी 'इन सब वस्तुओं की टकशाल तो मैं हू' इतना भान हो तो आत्मा के स्वकीय धन का विकास होने से अन्तरदशा का भी विकास साथ ही साथ होता रहेगा और जब पाप को त्याग कर पुण्य का परिणाम प्रगट करे तो उसकी उस टकशाल से यथेच्छ आत्म-धन प्रगट होजाय। पुण्यके परिणाम का निमित्त भी आत्मा ही है जिसके द्वारा पुण्य बन्ध होनेपर संसारकी अनुकूलताएं स्वयं ही फैलती फूलती हैं और टकशाल में पड़े हुये नोटों और (लेनों) को खींच कर लाती हैं। आत्मा जब शुभ परिणामों का उपार्जन करता है तब ऐसा आकर्षक पुण्य दलका अर्जन होता है कि वाहर मोल पर पड़े हुए नोट और नगदी उसके पास खिंच आती है।

ये सब बातें दुनिया के अनुकूल पौद्गलिक (क्षण विनश्वर) सुख की अनुकूलता के सम्बन्ध मे कही गई है किन्तु यह अनुकूलताके भी दुःख रूप है। पर वस्तु का प्राप्त करना कष्टकर नहीं तो क्या है। इस भांतिकी पर-वस्तु को प्राप्त करने के लिये पुण्यकर्म करने की आवश्यकता है लेकिन जिसे वैभाविक आतुरता से अलग होना है उसे आत्मा के अनुकूल स्वभाव का ज्ञान सम्पादन करना होता है। पांच हज़ार का हीरा पांच करोड़ की कीमत का महँगा होने पर भी पुण्य की आकर्षणता से अपने आप खिच आता है लेकिन यह हीरा तो दुःख रूप है। यदि इस समस्या को हल करले तो पुण्य-पाप को छोड़ कर यह विचार उत्पन्न करेगा कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? साथ ही उसका मूल्य भी आंक डाले। इसके पश्चात् वह चाहे जैसा उदय क्यों न आ जाय उसे समभाव से भोग कर मुक्त होता है मगर त्याग वैराग्य संयम निर्विषय मन न होने के कारण शरीर कुटुम्ब लक्ष्मी मकान आदि वस्तुओं को बहु मूल्य जानता है। यदि इन सब बाह्य पदार्थों में हीनता प्रतीत हो तो आत्मा अधिक मूल्यवान् जँचे। देह की खातिर आत्मा के भविष्य सुख साधनों को कुचल कर शरीर के साधनों को पाने के अर्थ मनमाना मोल देकर भी उसको पूरा करता है। यदि आत्मा का मूल्य विशेष रूप से जँच जाय तो प्रतिष्ठा मकान धनादि की क़ीमत तुच्छ मालूम पड़ने लगेगी। शरीर को छोड़ कर आत्मा को ही ग्रहण करेगा। सिद्धान्तकार ने कहा है कि जगत् के जीवों को अनादिकाल से अपनी कुछ संज्ञा ही नहीं रही है, 'मैं और मम' के फेर में पड़ा रहता है। इस मैं का आरोपण किसमे किया जाय इसीको समझने की परदेशी को बड़ी आतुरता है। यदि यह तत्व मिलजाय तो हित का मार्ग पा सके।

इसीकी तलाश करते करते महर्षि केशी जैसे तारक इसे भाग्य से मिले हैं, उनके सहाय से उसका मूल्य आँक लिया है तब उन्हें यह अपना सब कुछ देकर भी उसे पाने के लिये तत्पर है [जो आत्म-स्वभाव की क़ीमत आंक लेगा वह सब कुछ खोकर भी उसे शीघ्र ही ग्रहण करेगा]

मुनि—पहले बताये हुये चार कारणों से यदि वे आना भी चाहें तब भी नहीं आ सकते, अतः यह मानना ठीक होगा कि तुम्हारा दादा नरक गया है जिससे आत्मा देह से भिन्न सिद्ध होता है और उसके हित कल्याण के मार्ग भी अलग हैं। जो कुछ तू कर रहा है वह अनुकूल और हित का मार्ग नहीं है।

परदेशी—आपकी कुशाग्र बुद्धि है तबही तो आपके उदाहरण भी अकाट्य एवं प्रबल हैं। मेरा अन्तः करण हां करनेको भी कहता है परन्तु अनन्त काल की भ्रांति में 'मैं कौन हूं' इसका भान नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय का आवरण बड़ा बल कारक पड़ा है अतः अनन्तकाल से अपने को अन्य और अन्य को अपना मान रहा है, यह आवरण पक्क पूरी तरहसे जकड़ा पड़ा है जिससे मेरे द्वारा जाना नहीं जासकता, हां इतना अवश्य कहा जासकता है कि तत्व वस्तु अलग है, इसका अब तक निर्णय नहीं हुआ है, मेरा समाधान इसमें है भी क्यों? यह विचार रूप छीणी से भ्रान्ति रूप आवरण तुरन्त चला जाता है। इसमें अब तक नकार आने का कारण यही है कि हम मानते तो हैं परन्तु इस समय आपका उपहास कर रहे हैं, तब क्या यही माता का हंसी भी की जाती है? यदि लड़के की आयु २० वर्ष की और माता ४० वर्ष की हो तो क्या वह उसे इस तरहके शब्द कह कर उपहास करेगा कि पांव पसार कर क्यों बैठी है! यह आठ प्रवचन भी माता के समान है और समिति गुप्ति रूप पुत्र ने आपकी दया नहीं रखी है

ये सब बातें दुनिया के अनुकूल पौद्गलिक (क्षण विनश्वर) सुख की अनुकूलता के सम्बन्ध में कही गई है किन्तु यह अनुकूलता के भी दुःख रूप है। पर वस्तु का प्राप्त करना कष्टकर नहीं तो क्या है। इस भांति की पर-वस्तु को प्राप्त करने के लिये पुण्यकर्म करने की आवश्यकता है लेकिन जिसे वैभाविक आतुरता से अलग होना है उसे आत्मा के अनुकूल स्वभाव का ज्ञान सम्पादन करना होता है। पांच हज़ार का हीरा पाच करोड़ की कीमत का महँगा होने पर भी पुण्य की आकर्षणता से अपने आप खिच आता है लेकिन यह हीरा तो दुःख रूप है। यदि इस समस्या को हल करले तो पुण्य-पाप को छोड़ कर यह विचार उत्पन्न करेगा कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? साथ ही उसका मूल्य भी आंक डाले। इसके पश्चात् वह चाहे जैसा उदय क्यों न आ जाय उसे समभाव से भोग कर मुक्त होता है मगर त्याग वैराग्य संयम निर्विषय मन न होने के कारण शरीर कुटुम्ब लक्ष्मी मकान आदि वस्तुओं को बहु मूल्य जानता है। यदि इन सब बाह्य पदार्थों में हीनता प्रतीत हो तो आत्मा अधिक मूल्यवान् जँचे। देह की खातिर आत्मा के भविष्य सुख साधनों को कुचल कर शरीर के साधनों को पाने के अर्थ मनमाना मोल देकर भी उसको पूरा करता है। यदि आत्मा का मूल्य विशेष रूप से जँच जाय तो प्रतिष्ठा मकान धनादि की क़ीमत तुच्छ मालूम पड़ने लगेगी। शरीर को छोड़ कर आत्मा को ही ग्रहण करेगा। सिद्धान्तकार ने कहा है कि जगत् के जीवों को अनादिकाल से अपनी कुछ सत्ता ही नहीं रही है, 'मैं और मम' के फेर में पड़ा रहता है। इस मैं का आरोपण किसमे किया जाय इसीको समझने की परदेशी को बड़ी आतुरता है। यदि यह तत्व मिलजाय तो हित का मार्ग पा सके।

इसीकी तलाश करते करते महर्षि केशी जैसे तारक इसे भाग्य से मिले हैं, उनके सहाय से उसका मूल्य आँक लिया है तब उन्हें यह अपना सब कुछ देकर भी उसे पाने के लिये तत्पर है [जो आत्म-स्वभाव की कीमत आंक लेगा वह सब कुछ खोकर भी उसे शीघ्र ही ग्रहण करेगा]

मुनि—पहले बताये हुये चार कारणों से यदि वे आना भी चाहें तब भी नहीं आ सकते, अतः यह मानना ठीक होगा कि तुम्हारा दादा नरक गया है जिससे आत्मा देह से भिन्न सिद्ध होता है और उसके हित कल्याण के मार्ग भी अलग हैं। जो कुछ तू कर.रहा हैं वह अनुकूल और हित का मार्ग नहीं है।

परदेशी—आपकी कुशाग्र बुद्धि है तबही तो आपके उदाहरण भी अकाट्य एवं प्रबल हैं। मेरा अन्तः करण हां करनेको भी कहता है परन्तु अनन्त काल की भ्रांति में 'मैं कौन हूं' इसका भान नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय का आवरण बड़ा बल कारक पड़ा है अतः अनन्तकाल से अपने को अन्य और अन्य को अपना मान रहा है, यह आवरण चक्र बुरी तरहसे जकड़ा पड़ा है जिससे मेरे द्वारा जाना नहीं जासकता,हा इतना अवश्य कहा जासकता है कि तत्व वस्तु अलग है, इसका अब तक निर्णय नहीं हुआ है, मेरा समाधान इसमें है भी कहाँ ? वह विचार रूप छीणो से भ्रान्ति रूप आवरण तुरन्त चला जाता है। इसमें अब तक नकार आने का कारण यही है कि हम मानते तो हैं परन्तु इस समय आपका उपहास कर रहे हैं, तब क्या कहीं माता को हँसी भी की जाती है ? यदि लड़के की आयु २० वर्ष की और माता ४० बर्ष की हो तो क्या वह उसे इस तरहके शब्द कह कर उपहास करेगा कि पट्टियें पाड़ कर क्यों बैठी है ! यह आठ प्रवचन भी मा समान है और समिति गुप्ति रूप पुत्र मे आपकी हँसी नहीं

जा सकती। 'इसमें यह मेरी धारणा है' इतना अवश्य कहा जा सकता है लेकिन युक्त को अयुक्त कहने बैठे तो भावों मे दूषण आता है।

महावीर प्रभु कहते हैं कि हे गौतम ! इस जगत्‌मे आत्माको न मानने वाले जीव भी बहुत से हैं वे यह कहते हैं कि पुण्य-पाप की बात कह कर हमारी चलती प्रणाली मे वृथा ही विघ्न पैदा कर रहे हैं। यो कहनेवाले 'मैं' नहीं है यह नहीं कहते। इतनी आवाज़ कहां से आई है ? इसके विषय मे शास्त्रकार कहते हैं कि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कह कर अपने ऊपर एक प्रकारका अभिशाप चढ़ा दिया है जिस से देव-गुरु और धर्म की निन्दा करते करते आवरण मे इतना जोर आगया है कि इसका बल भी बढ़ते-बढ़ते यह होता है कि 'मैं' नहीं हूं। अन्याय को न्याय और न्याय को अन्याय कहनेवाला बहुत दिन तक असत्य कहकर अंत मे यही होता है कि 'मै' नही हूं। बहुतसे यह भी कहते हैं कि लोग वृथा डरते हैं, मांस मदिरा का उपभोग करो, माया-कपट करो, धौले पर काला करते रहो, नाहक़ मे मत डरो, भोग्य-पदार्थ कठिनाई से मिले हैं इन्हें क्योंकर छोड़ दिया जाय ? परलोक से कौन खबर लाया है। इस प्रकार से अन्याय-अनीति-असत्य और दुराचरण द्वारा अंतमे इस बातपर आ डटता है कि 'मैं' नहीं हूं।

इस राजा पर भी बहुतसे आवरण आच्छादित है। इसलिये इकार करके कहता है कि महाराज ! आप ने मेरी बात को तोड़ दिया औरमुझे निरुत्तर कर दिया, यह एक दृष्टान्त मात्र है जो आपने अपनी बुद्धि के बल से दिया है मगर अभी तो मेरे पास एक और उदाहरण है।

दूसरा-प्रश्न

भगवन् ! आपका कहना है कि उसे नरक से आने नहीं देते परन्तु स्वर्ग के उदाहरण को सुनिये । यदि मनुष्य बिना हेतु से पूछे कि 'पर-लोक नहीं है' ऐसे को नहीं समझाया जा सकता, यदि वह अमुक हेतु को समझ सके या हेतु से बातें करे तो उसे सुगमता से समझाया जाता है जिसमे ऐसी विशेषता हो वह अपनी भूलको मानने में हुज्जत नहीं करता। भूल पड़े बिना विस्मय नहीं होगा। मैं इस हेतु के बल बूते पर यह मान्यता सत्य समझता था किन्तु ज्ञानी इसे तोड रहे हैं अतः इनकी बाते सत्य प्रतीत होती हैं। हेतु लक्ष्य मे रहे तो समझने का अवसर दूर नहीं है, विना हेतुके मनुष्य को समझने का अन्य कोई साधन ही नहीं। यदि श्रवण करनेवाले अपनी ओर बातकी पकड़ न करें और धोंकनी की हवा के समान हों तो उसकी तरफ हेतुका झुकाव होने पर भी न समझ पायगा। अपने आप औंधी बात को किस आधार पर मान जाता है तथा किस हेतु से सीधी मानता है उसे विचारनेका अवसर नहीं पाता। ठीक ही तो हैं उलटे को जोरसे अधिकाधिक उलटे तो वह समझे भी क्योंकर। जैसे 'मैं' इसे इस कारण से मानता हूं' लेकिन ये लोग उसे व्यवहारप्रधान मानते हैं। साधक स्वभाव कहता है कि व्यवहारमें भंग पड़ता है' इस तरह अपनी बात हेतु के लिये बतानी है तो अनुकूल धारणा के रूप मे जम सके मगर जब यह कहता है कि मुझे तुम्हारी बात का विश्वास ही नहीं बैठता तब कठिनाई मे जान आ पड़ती है, नरककी बात को तो आपने तोड़ डाला- तब मुझे अन्य कारण कह बताना आवश्यक है। -

प्रश्न का आरंभ

मेरा दादा जितना अधर्मी था मेरी दादी उतनी ही धर्मात्मा थी। इस ने यह भी सुन लिया था कि मेरी दादी को सब धर्मिणी कहते हैं। तब दादे को अधर्मी कहते हैं। वह इतनी दृढ़ धर्मिणी थी कि धर्म का रंग उसके हाड़ के अंदर के भाग में पहुँच गया था वह सदैव धर्मियों की बड़ी सहायता किया करती। धर्मके प्रसंग में अनुसरण करने वाली थी। जिसे आप धर्म कहते हैं मेरी दादी में वही सब विद्यमान था, आप जिसे जैन धर्म कहते हैं वह उस के अनुसार सामायिक पौषध उपवास एकाशन-व्रत-नियम-त्याग-वैराग्य आदि धर्म कार्य में तल्लीन रहा करती थी। दया पालने वाली आत्माओं की सहायता किया करती थी उसने व्यवहार दया तथा निश्चय दया को खूबही समझा था। उस की हड्डियें भी धर्म में रंग गई थीं। धर्म कार्यों में सब से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त थी। सबके मुँह से उस के प्रति धन्यवाद के शब्द ही निकलते रहते थे। वे कहते कि राजरानी है विपुल सामग्री प्राप्त है फिर भी कितना अधिक धर्मानुराग है। लोगोंको इसी बातका बड़ा आश्चर्य था। धार्मिक जीवों की सत्संगति में यह कभी न चूकती थी मुनि श्रमणपुरुषों की सेवा करने के कारण श्रमणोपासिका कहलाती थी [इससे पता चलता है कि नगर मे साधु मुनिराज अवश्य आते थे यह निश्चय है किन्तु उन का प्रभाव अब तक राजा पर नहीं पड़ा था।]

महाराज! मेरी दादी आत्मा और शरीर को भिन्न मानने वाली थी। जो कुछ तत्व आप प्रतिपादन करते हैं उसे वह भी पहचानती थी। (यह राजा जानने को तो सभी कुछ जानता है

मगर अब तक भावों में स्थिरता नहीं आ पाई है । हे पूज्य ! अधिक क्या कहूं पुण्य पाप आदि नव के नव पदार्थों को जानने वाली थी, [घर मे धर्म भाव की कमी न थी किन्तु इसे (परदेशी को) धर्म संस्कार मे रंजित होने का अवसर हाथ न लगा उसका दादा अधर्मी था जिससे उसको अधर्म का रंग ही लग गया था क्योंकि वह अनादिकाल का पुराना रंग जो ठहरा]

महाराज ! मेरी दादी अष्टमी पाक्षिक आदि तिथिओं मे धर्म क्रिया का पालन भी करती थी । उपवास पौषध आदि विधि पूर्वक निभाती थी । पर्व के दिनों मे सत्य शान्ति परोपकार दानादि का पूरा ध्यान रखती थी । घर आये मुनिओं को निर्दोष आहार का प्रति लाभ करती । आपके कथनानुसार उसने खूब ही पुण्य उपार्जन किया होगा, क्या कहूं उसने पुण्य का तो गंज (ढेर) लगा दिया होगा । आपके बताये नियमानुसार मर कर देवलोक मे भी अवश्य गई होगी । मुनिराज ! मुझे वह अत्यन्त प्यार करती थी क्योंकि मैं उसके पुत्र का पुत्र था । गुरो ! उसकी मुझ पर बड़ी कृपा थी, क्योंकि कुटुब मे सम्प अधिक था । धर्म कर्म करने वाले धर्म करते थे और अन्य अपनी इच्छानुसार चलते थे परन्तु किसी बात पर आपसमे किसीका मन मुटाव न होता था, किसी बात पर कभी कोई क्लेश न करते थे, [आजकल आपस मे इतना वैमनस्य है कि सम्प और नीति का कुछ पता ही नही है । धर्म करने वाले स्वर्ग मोक्ष जायँगे और अधर्म करने वाले नरक, परन्तु उनके नाम से कजिया किस लिये । संसार की आपत्तियें धर्म मे घुसेड़ दी, तब धर्मके बहाने लडाइया और सिर फुटव्वल आरंभ हो गया]

राजा—महाराज ! वह धर्मिणी थी और मैं अधर्मी । फिर भी उसकी मुझ पर अपार ममता थी । ठीक ही तो है धर्मी जन

पाप करने वालों पर करुणा ही करते हैं, वर्तमान में पाप का परिणाम दुख और नरक है जिसका इसे भान नहीं है पर धार्मिक लोगों को तो ज्ञात है न ? कि इसका दारुण फल नरक है तो भविष्य के गरीब भविष्य मे नरक के कीड़े ही होंगे। इस प्रकार समझ कर जैसे २ वर्तमान मे दुःखो पर तरस खाते हो इसी भांति भविष्य की दया भी न छोड़नी चाहिये। दुःखित पर करुणा करनेवाला क्या वर्तमान के दुःखी पर ही दया करता है ? नहीं नहीं उसे तो तीन काल के दुखी पर करुणा ही करनी है।

विश्वासघती पातकी मायावी मद्यप विषयी लंपटी द्यूतकार दीन पीड़क आदि को भविष्य मे कितनी मुसीबत सहनी पड़ेगी यह जानकर इन पर दया की दृष्टि डालनी चाहिये। जो वर्तमान कालीन दुःखी पर दया करता है वह मानो तीन काल के दुःखी पर दया करता है जिसप्रकार आत्मा नित्य है उसी भाँति दया भी नित्य होनी चाहिये। जिसे नित्य आत्मा का भास नहीं हुआ उस की वर्तमान मे क्षणिक दया करने की बुद्धि उत्पन्न होती है जिसमें वह मात्र पुण्यका उपार्जन करसकता है परन्तु उसका फल अनित्य है। किसी दिन उदय होकर समाप्त होजायगा लेकिन नित्यत्वका भाव रखने वाला दया को भी नित्य बना देता है। भूत-भविष्यत् और वर्तमानकी दुःखमयी करुणा है पर उसका आदर नहीं करता है इसीलिये अनुकम्पा बुद्धि नहीं जाती। अनन्तकालीन समय वीतने पर वर्तमानमे क्षणिक दयाका पालन किया है तो क्या हुआ वह निश्चय नयसे ग्राह्यहै त्याज्य नहीं है।

राजा—हाँ तो मुने! उस धार्मिक विचार की दादीका मुझपर भी मोह था। जितना प्रेम दादीजी से मुझे था उतना ही प्यार वे भी करती थीं। गूलरका वृक्ष होता है जिसपर कभी फूल नहीं आते

साथ ही यह सुनने में भी नहीं आया, तब देखना तो कठिन है। मुने ! सत्य कहता हू मैं अपनी दादी को गूलर के फूल की भांति दुर्लभ था। माता चाहे धर्मिणी थी फिर भी उस का राग सांसारिक था और 'अन्त में यह छोड़ने योग्य है' यह उस की दृढ़ धारणा थी।

गुरुदेव ! मेरी दादी स्वर्ग से आकर यह क्यों नहीं कहती कि पौत्र ! मैं नव-तत्वों के जानने वाली श्राविका अत्यधिक पुण्य प्रकृति का उपार्जन करके देवलोक मे उत्पन्न हुई हूं अतः अब से तू भी धार्मिक कार्य कर जिस से तुझे भी मेरे समान देवलोक के सुख का लाभ मिले यदि इतना आकर कहे तो मान लूं कि देह और आत्मा अलग २ दो वस्तुएँ हैं। प्रतीति का चिह्न बनने पर मन को फिरा लूंगा। परन्तु जहां तक मेरी दादी स्वयं आकर न कह दे वहां तक मेरी बात ही सही है कि जो आत्मा है वह शरीर है और शरीर है वही आत्मा है। मुने ! बिना विचारे आपकी बात मान लूं तो मेरे इसमे दोनों ही लोक बिगड़ते हैं जिस से मैं बार २ कहता हूं कि खायें पियें और मौज मजे लूटें, [मगर ऐसी बुद्धि वाले को इतना जानना आवश्यक है कि परलोक यदि हाथ से निकल गया तो फिर अधर्म करने वाले के क्या छिलके न निकल जायेंगे। बहुत से यह भी कहते हैं कि भविष्य के भरोसे परलोक की लालसा में वर्तमानके सुख छोड़ दिये जायें ? परन्तु पाप करने वाले का परलोक यदि हाथ से छूट जाय तो उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा लेकिन धर्म करने वाले को किसी भांति का दुःख नहीं है जिसे समझा जाय तो वह भी लाभ का कारण है] हे महाराज ! दादी आकर जहां तक न कह जाय वहां तक अपनी प्रतिज्ञा को क्योंकर बदल दूं।

दूसरे प्रश्नका उत्तर

राजन् ! कारणसे बातें होती हैं, हेतु देने और लेने योग्य होता है। क्या आत्मा हथेलीके ऊपर रखकर दिखलाया जा सकता है ? तो भी यदि नहा धोकर स्वच्छ होकर यदि तू अलंकृत होकर कहीं जाता हो और मार्गमें पाखानेमें से भंगी यह कहे कि पृथ्वीनाथ ! [illegible] पाखाने में पधारिये। हम लोग कुछ देर [illegible] विश्राम लेकर अपने दुःख सुख की कहें और आप [illegible] दें फिर इच्छित स्थान पर चले जायें ? क्या उस समय भंगी की प्रार्थना पर राजन् ! क्षण भर के लिये उस की बात सुनेगा या पाखाने में उसके पास जाकर कुछ देर बैठेगा ?

परदेशी—मुनिराज ! उस की यह बात कभी न सुनूं ?

मुनि—क्यों !

राजा—विष्टा मूत्र आदि अशुचि पदार्थोंकी दुर्गन्ध असह्य होने के कारण उसकी बात न सुनूं न उसके पास ही जाऊं।

मुनि—इसी प्रकार तुम्हारी दादी [illegible] धर्मजीवी थी। यह [illegible] दृष्टि में [illegible] है। आहार- [illegible] में पुण्य फलके [illegible] [illegible]

देव इन चार कारणों से नहीं आते

[illegible] आ सकता है [illegible] पुण्यके कारण [illegible] और [illegible]

काम भोग मे फँस जाने से उसे मनुष्यलोक पाखाने जैसा प्रतीत होता है वहां के काम-भोग के नये प्रेमके कारण यहांके संबंध सब टूट जाते हैं या पुराने हो जाते है। जिस से वे आ नहीं सकते।

(२) यहां का शरीर हाड़ चाम मांस और रुधिर युक्त है पर देवता के शरीर के परमाणु कपूर की टिकिया से भी अधिक ऊंचे दर्जे के हैं जिस मे मॉस लहू तो नाम मात्रको भी नहीं है। उसका शरीर शुभ पुद्गलों से गठित है। राजन्! उसे मनुष्यके काम भोग देव सम्बन्धी भोगों की अपेक्षा विष्टा प्राय प्रतीत होते हैं। वे देव काम भोगों मे अनुरक्त होकर अपनी सुध बुध भूल जाते हैं। मनुष्य लोकके पिछले संबंध उन्हें याद तक नहीं रहते। न वह उन्हें चाह की दृष्टि से देखते ही हैं। इस सम्बन्ध मे एक सूवर का उदाहरण पढ़ने योग्य है।

एक राजा ने अपने पुत्र से कहा कि मै मरकर सूअरकी योनि प्राप्त करूंगा। यह बात मुझे किसी ज्ञानी ने बतलाई है परन्तु आज तुझे बता रहा हूं, इसे गुप्त रखना। इसी आधार पर मुझे मार डालना। मैं अमुक स्थान मे सूवरके वर्गमे घूमता दिखलाई दूंगा। मेरे मस्तक पर सफेद तिलक होगा। पैर कबरे और पूंछ काली होगी। इस भांति मेरी उन से निराली पहचान को याद रखना।

लड़का सांकेतिक स्थान पर मारने आता है तब वह सामने न आकर भाग जाता और इस भेदको अंदरकी आवाजने ही बताया कि अरे मंगलसिंह! मुझे मत मार, मैं इसी जन्म मे बहुत सुखी हूं, यहा का जीवन कुछ बुरा नहीं है। यो जीव जहा भी जन्म लेता है वहीं सुख मानता है। अपना स्थान जन्म योनि अवस्था क्रियादि सब को समान प्रिय हैं। तब देवोंको तो अपनी अवस्था और पर्याय सबसे बढ़कर प्रिय है। इसलिये तुरन्तका जन्मा हुआ

देव यहां आने की इच्छा करता अवश्य है मगर वह स्वर्ग स्थान सुदर अनुकूल और मनोरम होने के कारण उसे छोड़ने को मन नहीं करता।

(३) 'देवलोक में द्रष्टव्य वस्तु क्या है ? जिसे देखकर मनुष्य लोक वालों को बतलाऊंगा' अतः देवलोककी सब रचना देखकर जाना चहिये। इस प्रकार सुख मगन देवका काल सुख रचना के देखते देखते बीत जाता है। सुखी जीवन के बीतने की खबर तक नही पड़ती। [लड़कोंके विवाहके समयके बीतनेमे कितनीसी देर लगती है, परन्तु दुःख का समय बड़ी कठिनाइयें भोगते हुये भी मुश्किल से व्यतीत होता है। उस देवके सुखकाल मे २००० वर्ष बीत जाते है मगर यह पता नहीं लगता कि कितना समय समाप्त हुआ है। इधर जिस के लिये आना है वह मर भी जाते हैं। इसी कारण देवलोक के जीव बहुधा नहीं आते।]

(४) मनुष्यलोक की दुर्गन्धि चारसौ पांचसौ योजन तक ऊपर जाती है। असह्य दुर्गन्धि के कारण वे अधिकांश आना नापसद करते हैं। जब मनुष्य लोकमे सुभिक्ष रहता है तब चारसौ योजन और दुर्भिक्ष मे पशु पक्षी आदि अधिक मरते है तब उनके सड़े शरीर की दुर्गंध ५०० योजन तक ऊपर जाती है इस लिये तेरी दादी उपरोक्त चार कारणों से नही आ सकती। इसलिये राजन्! यह निश्चय समझ कि आत्मा देह से अलग है।

राजा—पूज्यपाद ! आपके कथनानुसार मेरा दादा पाप करते हुए नरक गया मगर मेरे पास पिछले कहे गये कारण से वह नही आ सकता, तथा मेरी दादी आप के विचारानुसार स्वर्ग गई और वह भी वहाँ से नही आयगी, इसके विषय मे आपने चार कारण बता कर देवों का न आना भी सिद्ध किया है जिससे मेरे हेतु कट गये

और मुझे निरुत्तर होना पड़ा। आप प्रज्ञाशाली है जिसे जिस प्रकार से चाहें हेतु द्वारा घटा सकते हैं। तो भी मेरे पास एक तीसरा कारण और है। यह गुरु के द्वारा उत्तर पाकर आवरणको तोड़ता जारहा है और साथ ही शंका का समाधान भी कर लेता है। यह जिससे आत्माके हित का कल्याण मागता है उन्हें अपने से महान् समझता है, ख़ुद को बड़प्पन मे रखनेका गर्व नहीं है बल्कि विनीत भावका उपयोग करता जाता है, धैर्य का समाचरण भी करता है। क्योंकि धैर्य धारण न करना स्वच्छंदता का पोषक लक्षण है। जिसने आत्मगुणों की शोधमे लक्ष्य किया है वह ज्ञान पाने मे ही विशेष लक्ष्य रखता है शब्द की ओर नहीं।

प्रश्न कर्ता को उत्तर देना चाहिये यह तो ज्ञानी के लक्ष्य की बात है मगर जिज्ञासा अधिक बढ़ जाय तो समझलो कि जिज्ञासु सन्मार्ग पर आनेवाला है। इस परदेशीका भी यही हाल है। इस ने अपनी धारणा मुनि को सौंप दी है क्योंकि इसे समाधान प्राप्त करना है कोई कहे कि हम भी तो हाज़िर हैं उत्तर मे इतना ही कहना बस है कि उपस्थित होनेकी रीति कुछ और ही है।

यह कहता है कि आप की बात युक्ति युक्त है परन्तु अब तक मुझे ठीक नहीं जंची। मनुष्य मे जितना उलटा बल होता है उतना ही नकारात्मक उत्तर होता है। मुझ मे यह टेढ़ापन ही बहुत है कृपया इसे हटा ही दीजिये, खाना-पीना और अन्य सब वैभव छोड़कर आपके सामने बैठा हूं। आहार-व्यवहार की बाते आज गौण सी प्रतीत होती है जिस से खाना पीना तो मानो भूल ही गया कारण इसे तो आज पूर्णतया शरीर और आत्मा की थकान उतारनी है। साथ ही खोज के साथ ज्ञान को निर्मल बनाने आया है। इसे आगे मालूम होजायगा कि विषय-कषाय-हिंसा-झूठ-चोरी

परिग्रहादिक अन्य के कपड़े थे मेरे नहीं इतना ज्ञात होते ही भ्रान्ति नष्ट होजाती है।

तीसरा प्रश्न

मुनिराज! परिषद् के बाहरी भाग में मेरा एक दीवानखाना था, उसमें मेरी कुछ इकले की उपस्थिति न थी बल्कि शेठ सेनापति मंत्री महामात्य स्थिति स्थापक-दूत सन्धिपाल इत्यादि अनेक चतुर पुरुष भी उपस्थित थे। मेरा कोटपालक (कोतवाल) एक अपराधी पुरुष को पकड़ लाया। आरोपी ने किसी नागरिक के छोटे से बालक को मार कर उसके आभूषण चुराये थे। माल मुद्दे समेत कोतवाल ने उसे पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित किया। राजसी न्याय नीति के सन्मुख उसके बचने का कोई उपाय भी नहीं था। कोतवाल ने यह सिद्ध कर बताया कि 'जिस बालक को इसने मारा है उसका यह शव है और ये हैं उसके आभूषण। मैं ठीक समय पर ही पहुंच गया था और सब काण्ड अपनी आंखों से देखा है। इसी लिये इसे कठोर बंधनों से बांध कर लाया हूं। इतने पुष्ट प्रमाण की साख तो कोतवाल की थी। गुरुदेव! इस घटना के पेश होते समय मैं कुछ अकेला ही न था बल्कि सब के सब कथित सभ्य भी थे। [इस राजा को आत्मा के निर्णय की कितनी विशेष जिज्ञासा थी, आत्मा और शरीर के ऐक्य का तत्व समझने में कितना प्रयास किया है।

कोई यह कहे कि हम भी आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं मगर यह तो वाणी विलास प्रतीत होता है। गंभीरता में घुस कर निश्चय के तट पर लगने वाले भाव नहीं हैं। यदि कदाचित् आत्मा और देह की भिन्न मान्यता दृढ़ होती तो ये धारणाएँ कभी

न होतीं कि "मैं अनुकूलता का बर्ताव कर्ता हूं अनुकूलता को ही निमंत्रण है यह प्रबंध मैंने नहीं किया प्रतिकूलता अवांछनीय है" इत्यादि।

एक मनुष्य ने सिन्धु द्वीप मे हत्या की है, जिसका मुक़दमा चला तब हत्यारा कहता है कि मैं उस दिन गुजरात मे था, यदि आज्ञा दें तो उसके पुष्ट प्रमाण भी दे सकता हूं, उस समय मेरी वहा उपस्थिति ही न थी। उसे जन्मान्तर की इस कृतकर्म रूपा प्रतिकूलता ने वर दबाया मगर यह तो साफ इंकार करता है कि यह आरोप मैंने नहीं किया, यह कह कर मानो आत्मा को ही उड़ा रहा है और यह भी आत्मा को शरीर से भिन्न मानने वाला है किन्तु इसे प्रतिकूलता बिल्कुल पसंद नहीं है। तब ही तो कहता है कि पाप का संकल्प करते समय मैं था ही कहां, संकल्प की उत्पत्ति के समय मेरी उपस्थिति न थी, अर्थात् सिन्धुद्वीप में जब खून किया था तब वहा मेरा पता भी न था, परन्तु पुण्य पाप दोनों इसके किये हुए ही तो हैं। जो इन दोनों की अखंडता को मानता हो तो आत्माकी पूर्णताको वह अवश्य स्वीकृत करेगा और अव्यवस्था को तो अपने पुण्य पापका ही कारण समझेगा। अतः तीनों काल मे आत्मा की उपस्थिति है इस मन्तव्य की पुष्टि मे वह विना सोचे 'ये धरती में-भाले कहां से आ लगे' यह कभी न कहेगा। अपने किये से ही हुआ है अव्यवस्था अपने पाप का कारण है तब आत्मा के अस्तित्व को मान दिया जा सकता है, किन्तु २५ भर कर ५०० उठा लिये हों तो कर्ज से क्योंकर छूट सके। व्यवस्था अव्यवस्था सिर पड़ने पर यथा समय समभाव से न छट सके तो समझो कि उसने आत्मा को पहचाना ही नहीं है।

आत्मा नित्य-शाश्वत सहजानन्दी होने पर भी उसे प्रतीति

नहीं आई, उसने ऊपर के शाख पत्ते ही सुधारे हैं परन्तु मूल को तो अब तक छू भी नही सका है। बहुत से यह कहते हैं कि परलोक से किस की चिट्ठी आई है, पर यह तो बताओ कि उस चिट्ठी का पढ़ना भी किसी ने सीखा है या नहीं ? यदि पढ़ न सके तो चिट्ठी का अपराध समझोगे या अपना। सफ़ेद कागज़ और काले अक्षर जो कभी निज के ही लिखे हुए हैं उन्हें पढ़ने से भी जब इंकार करता है तो परलोक की चिट्ठी कैसे पढ़ सकेगा। सब दिन मजदूरी करके एक मनुष्य जी जान खपा कर आठ आने कठिनाई से पैदा करता है तब किसान एक मन अनाज बो कर ५०० मन भूमि से पा लेता है अब आप ही बताइये परलोक की चिट्ठी नहीं तो और क्या है ? मगर किसी को वॉचना कहा आता है। आत्मा का स्वरूप तीन काल मे नित्य है तथापि मरना न चाह कर जीवित रहने की इच्छा करता है। कितना अचरज है कि आयु लंबा हो, शरीर अधिक समय तक टिका रहे, किन्तु आप तो शाश्वत है तब अशाश्वत शरीर को नित्य करने की चेष्टा क्योंकर रहा है। जीवन काल मे कीर्तिमान् मर्तबा अधिक रखना चाहता है मगर ये वस्तुयें तो अनित्य हैं इनके फेर मे पड़ कर अपने नित्यत्व का लक्ष्य क्यो चूका। हाय अनित्य को नित्य मानने लगा और अपने नित्यत्व का भान नहीं रहा, इतनी गंभीरता मे पहुँचाया जाता है फिर भी यह बात ठीक नहीं बैठ रही है। अनादि काल से अमान्य तथा नित्य आत्मा की मान्यता को अन्तर्हित करले तो आत्मा को अपना भान अवश्य होगा और अनेक जीवो को भी पार उतारने के हेतु प्रतिबोध देकर उन्हें नित्यत्व का भान करा कर मोक्षमे चला जायगा,]

बुद्धिमान् और धनाढ्य मनुष्यो की भरी सभा मे सुने !

अपराधी ने अपना अपराध स्वयं स्वीकार कर लिया जिससे साक्षी की जरा सी भी आवश्यकता न रही। मुनिराज! इतना और स्पष्ट किये देता हू कि मैं ने उस पर जरा सा अन्याय नहीं किया बल्कि उसका अपराध ही प्राणदण्ड देने के योग्य था, साथ ही मुझे भी आत्मा और शरीर अलग अलग समझने का निर्णय करना था 'एक पथ दो काज' बस मैंने इस सुनहरी अवसर को हाथ से न खो कर एक लोह की कोठी मंगवाई, [मिले हुए भोग को छोड़ कर अनमिलते आत्मा के भाव के लिए सब लोग वृथा कष्ट सहते है, तथा संसार सुख को नाहक़ हाथ से खो बैठते है, किन्तु अब तक आत्मिक सुख कोई भी न पा सका, तब औदारिक देह का सुख शूद्र जीवन निर्यापन करना क्यों खो दिया जावे। मगर यह उड़ान तो मनुष्य के प्राप्त जीवन मे धूल फैंकने जैसा है। कोई कल्याण के पुजारी बहकते है कि हम आत्मा का कल्याण करते है मगर आत्मा अलग कहा है नाहक़ मे मिले हुये भोगों को त्याग कर दुःख को मोल ले रहे है, (निरपराधी को न मारना चाहिए बस इतना क़ाबू पा जाय तो फिर भी अपनी उसकी वृत्ति पर स्थिर है) आत्मा देह से भिन्न है, यह लोगोंका कथन है और उसके समझने की उत्सुकता मे उसे अभिलाषाको पूर्ण करना है। यदि उसके निर्णय मे अधिक समय बितादे या चलते मनुष्यों को मारने लगे तो उसे कौन पूछने वाला है तो भी] महाराज! मैंने निरपराधी को नहीं मारा, इसे ही स्वीकार करता हैं।

दर्शन और चरित्र के दोष

शास्त्रकार दर्शन और चरित्र के दो दूषण बतलाते है, जैसा है वैसा स्वरूप न समझकर उसके विरुद्ध समझना दर्शनका दोष है,

अभिप्राय- मान्यता और रुचि के हेर फेर को भी श्रद्धा का दोष माना है अथवा उसे स्पष्ट शब्दो मे दर्शन मोहनीय कहते हैं। हेतु और प्रमाण द्वारा समझाया गया हो किन्तु उसमे वह गुण टिक न सके तो उसे चरित्र मोहनीय नामक दूसरा दोष कहते है। यहां इसे आत्म-निर्णय करना है और वह भी कई प्रकार से, साथ ही इस विषय मे आतुरता-तत्परता अधिक है, कहना होगा कि दर्शन मोहनीय का आवरण वहुत कुछ काट डाला है। यह सब आत्मा के निर्णय की उत्सुकता का परिणाम है किन्तु सच्ची श्रद्धा क्या अर्थ रखती है इसका जानना अवशेष है फिर भी इसने निरपराध को प्राणान्त नही किया है यह स्वीकृति प्रमाण सहित साक्षी के रूप मे दे रहा है। कहिये चरित्र मोहनीय के ऊपर अव तक कितना बड़ा काट हो चुका है। अज्ञता अधिक होने के कारण कुछ न कुछ सोचने मे प्रवृत्त रहता था, इसी लिये अनार्य ढग उसके सामने आगया और अपराधी को लोह की कोठी मे रोक दिया तथा उसे लोह के ढकने से ढांप कर उसे सीसा तांबा या लोह की रेत से झाल कर इतना अधिक सुरक्षित कर दिया कि अव उसके भीतर स्थूल वायु भी नही जा सकता।

आत्माका साक्षात्कार करनेकी कितनी उत्सुकता है यह निर्णय करना है, फिर भी निरपराधी का बचाव किया है, वृत्तिपर कितना अधिकार है, अपराधी को मृत्यु दंड के साथ साथ अपना निर्णय भी करता है इस राजा को पापी कहा गया किन्तु किसी पर अन्याय नहीं किया। इस रीति से सभासदों के देखते देखते अनेक अपराधियों को इसी सिद्धि के लिये मारा और वही बात सब श्रोताओं के समक्ष मुनिओंको भी कह सुनाता है। इस समय राजाका लक्ष्य क्रिया पर न रह कर आत्मा के शोध में लगा है। आत्मा सब

से निराली वस्तु है जिसे यह खुद देख कर फिर निर्णय पर आना चाहता है। यह बात नहीं है कि परीक्षा तो किसी और ने की हो और वह आँख मींचकर मानले यह न होकर अपने आधार पर ही जानना अभीष्ट समझता है। यद्यपि यह अनंतकाल के निर्णय की भूल है मगर अब उस पर काट करता आ रहा है दर्शनावरण का दोप हटता जा रहा है। इस अवस्था मे चाहे कोई कुछ भी कहे इसकी कोई पर्वाह नहीं है। सभा मे निर्णय करते समय कोई इसे मूर्ख भी समझ सकता है परन्तु इसे कोई आपत्ति नहीं है। यह तो वर्तमान मे अपने किये कर्मों (पापों) की आलोचना चौड़े धाड़े कर रहा है। [यदि कोई अन्य व्यक्ति मुनि के सन्मुख अपनी बात को रक्खे और मुनि कुछ चर्चा करने लगे तो आप कहने लगता है कि मेरी वृत्ति का ठीक-ठिकाना न था, या मुझे भान न था इस तरह बात को चक्कर मे देकर टाल देता है।] मगर जिसमे जीवन की झलक पैदा हो गई हो ऐसा व्यक्ति उस राजाके समान स्पष्ट बात करेगा। इस राजा को तो जन्मान्तर के कर्म डंक मार रहे हैं अन्यथा और कोई बात नहीं है अतः सब के सामने सभा मे ही वह कार्य किया है और सभा मे ही प्रगट करके कह रहा है। 'यह ढग मूर्खों के कहने का है' लोग चाहे यह भी कहदें, परन्तु मेरी तो जन्म से लगा कर मरने तक यही स्थिति रही है तब ! भूत और भविष्य के लिये कोई स्थिति अवशेप न रह गई हो तो बस इसी का तो निर्णय करना है स्थिरता पूर्वक लक्ष्य है, तथा जो कुछ पहले कहा था उसे देख भाल कर करता जा रहा है। खोजने वाले को गुरु के पास कथन करते समय किसी प्रकार की रीति भाँति न आई मगर आलोचना करता जा रहा है।

गुरुदेव ! मैंने लोहे की कोठी मे उस अपराधी को बंद किया

और मसालों से उसके सब छिद्र मिला दिये। उस पर विश्वस्त कर्मचारियों का पहरा बिठा दिया। इसे निर्णय करने की और अभीप्सित विषयकी लय स्थिर रखने की कितनी दृढता है। मुहर लगा कर विश्वस्त सूत्र का पहरा बिठला दिया है।

कुछ दिनों के बाद उस कोठी के पास आकर उसे ध्यानसे देखा मसाला उखड़वा दिया, मृतक पर मैंने स्वयं दृष्टि डाली, क्योंकि निर्णय मुझको ही तो लेना था न? इसलिये आरोपी की अवस्था को खुद आकर देखा। पूज्यपाद! कोठी मे कोई छिद्र न पड़ा न उसमे दरार ही दिखाई दी, गुरुदेव! मैंने उसे मरा पाया, । यदि कदाचित् जिस प्रकार आप कहते हैं उसी तरह आत्मा होता हो तो आत्मा निकल जाता, तथा निकलते समय कोठो मे कोई छोटा मोटा छिद्र अवश्य पड़ता, आत्मा कौन जानता है कहाँ गया। इस ओर जिसका लक्ष्य होता है उसका क्रिया की ओर लक्ष्य नहीं जाता। देव! यदि कहीं से वह कानी भी पड़ जाती तब भी मान लेता और कुछ विश्वास भी करता। आत्मा को शरीर से अलग वस्तु भी माना जाय और उसके निकलते समय छिद्र तक न पड़े यह अचरज भरी बात है। इससे तो मेरी मान्यता ने ही ठीक स्थान पाया है जिसके बदलने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा और देह की भिन्नता मेरे उदाहरण के सामने टिक नहीं रहे है।

(आशय तथा कारण युक्त बात का निराकरण हो सकता है पर जिसका आशय और कारण कुछ न हो उसका निराकरण होना कठिन है।) मुनि उसे ध्यान देकर सुनने के लिये सम्बोधन करते है। ये समझा रहे हैं कि एक देश मे घटने वाला उदाहरण ... नहीं घट सकता। केवली भी तीर्थंकर जैसे ही होते हैं तो

भी उनका मुकाबला किसी अन्य रीति से नहीं किया जाता। जैसे घी के विषय मे किसी को उसका गुण समझाना हो तो उसे किसी दूसरे शब्द या पदार्थ के मुकाबले मे रख कर उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकते परन्तु सन्तोष जनक आशय समझाया जा सकता है। तुलना करने के लिये अधिक से अधिक घी को तेल जैसा कहा जा सकता है फिर भी उसे अमुक अश मे कहा जा सकता है। सर्वांश गुण घटित नहीं होता। घी का स्वाद नमकीन खट्टा खारा आदि किसी दृष्टव्य पदार्थ के स्वाद से नहीं मिलता घी का अनुभव सौ वर्ष का पुराना अनुभव हो फिर भी उसका स्वाद वचन अगोचर है। तबजो आत्मा निर्मलअजनिरावरण-निष्कलंक अरूप पदार्थ जिससे कि अनन्त काल की भूल नष्ट होती हो उसकी क्या बात कही जा सकती है? उसके आशय मे कौनसी युक्ति प्रगट की जाय अरूपी वस्तु की तुलना किससे की जा सकती है?

'जेस्वरूपसर्वज्ञे दीठु ज्ञानमाँ, कही शक्या नहीं तेपण श्रीभगवान्जो ते स्वरूपने अन्यवाणी तेशुकरे, अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो

आचारांग सूत्र के लोकसार नामक अध्याय मे वर्णित है कि गौतम! आत्माका परमात्म स्वरूप शक्ति कथन करने की अपेक्षा उस स्वरूप को किसी भी शब्द से जानता हूं अनुभव करता हूं जानता और देखता हूं परन्तु उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता शब्द अपनी दुर्वलता के कारण पीछे हट जाते है। जो शब्द से अतीत है वहा शब्द की भी गति नहीं है उसे शब्द के साचे मे क्योंकर ढाला जाय। जैसे संडासी से साँप को पकड़ा जा सकता है परन्तु खश का दाना नहीं, उसे तो किसी सुहानी या बारीक नकचिट्टी (चोपने) से ही पकड़ा जा सकता है। इसी भांति

अरूप चैतन्य घन आत्मा के स्वरूप को कैसे पकड़ा जा सकता है। उसे शब्द गम्य न समझ कर ज्ञान गम्य जानना आवश्यक है। जिसे तर्क करना पसंद न हो वह इतने में सन्तोष पाये विना न रहेगा। वह समझेगा कि वाणी स्थूल है और आत्मा अरूपी है तब भला उसे वाणी रूप मोचना क्योंकर पकड़ सकेगा।

अनुभव स्वरूप और वाणी स्वरूप की जाति अलग अलग दो धाराओं के रूप में पड़ जाती हैं क्योंकि अनुभव आत्म स्वरूप है एवं उसका स्वभाव सूक्ष्म है तब वाणी जड़ स्वरूप और स्वभाव से स्थूल है यदि उसका आशय पकड़ सके ता तत्व को निर्धारित किया जासके आशयको समझे विना बाहरीबातोंका समझना कठिन है यदि कोई यह कहे कि 'घी के स्वादका सन्तोष जनक उदाहरण मिलने पर ही उसकी स्वीकृति दूंगा अन्यथा नही, इस प्रकार कहने वाले को घी के स्वाद सन्तोष कारक प्रमाण किसी भी वस्तु से न देकर उस की जीभ पर ही रखना चाहिये। इससे बढ़ कर और कोई युक्ति उसे सन्तुष्ट करने के लिये तैयार नही है। घी को जीभ पर रखवा देने के अनन्तर उसे इतना ही कह देना बस है कि भाई जैसे तुम्हें स्वाद लगता है ऐसे ही स्वाद का अनुभव मुझे भी होता है।

अनन्तकाल के अनभ्यास के कारण अलौकिक आत्म स्वरूप का समझना कठिन है पर असंभव नहीं, असंभव वस्तु आकाश के फूल की तरह है परन्तु दुर्लभ या कठिन वस्तु अधिकाधिक प्रयास से हस्त सिद्ध हो सकती है किन्तु अनहोनी वस्तु का योग नहीं बन पाता। जड़ को चैतन्य और चैतन्य को जड़ रूप मे बदल देना कठिन नही बल्कि असंभव है।

राजन् ! तैने लोहे की कोठरी का दृष्टान्त दिया है उसे मैंने अवगत किया और अब हेतुपूर्वक उसका उत्तर सुन।

तीसरे प्रश्नका उत्तर

जैसे किसी ने पहाड को कतर कर गुफा बनाई है जिसका प्रवेश द्वार एक ही है, इसमे छिद्र या दरार आदि का निशान तक नहीं है, चारों ओर की दीवारें चूने से लीप दी गई है। सूई घुसने जितना मार्ग भी नहीं है। उसमे अति बलिष्ट मनुष्य हाथ मे दो डके लेकर नक्कारा बजाने लगता है उस समय गुफाका द्वार बद है और सील-मुहर आदि सब लगादी है जिससे वायु तक का प्रवेश भी अशक्य है। राजन् ! नगारा बजते समय उसकी आवाज बाहर निकलेगी या नहीं ?

राजा—गुरुदेव ! भीतमे आवाजको दबाकर रखनेकी या रोककर रखने की शक्ति नहीं है।

मुनि—तब क्या आवाज निकलते समय कहीं छिद्र पड़ जायगा ? भीत वहीं से कानी हो जायगी ?

राजा—महामुने ! छिद्र तो न पडेगा।

मुनि—इसी भाति आत्माकी भी अप्रतिहत गति है। यह तो शब्द है पुद्गल पर्याय रूप जड़ वस्तु है पूर्ण होना गलना नष्ट होना रूपान्तर हो जाना न्यूनाधिक होना इसका मुख्य स्वभाव है। इसकी पर्यायें पर्यायान्तर होती रहती है। इसके आठ स्पर्श है फिर भी बाहर निकलते समय भीत मे छेद नही पड़ता तब राजन् ! आत्मा तो अरूप है, इसकी गति अप्रतिहत है। आते जाते समय किसी वस्तु के रोकने से आत्मा रुकने वाला नहीं है, किसी वस्तु से टकर खानेवाली चीज भी नहीं है।

स्वर्ग जाते समय चढ़ने के लिये सीढ़ा की आवश्यकता नहीं, व■ मय रत्नों से जटित देव विमानों मे से भी यह निकल जाता है। आत्मा के लिये कोई वस्तु विघ्नभूत नहीं, जैसे दृष्टि को कोई वस्तु दुःखित नहीं कर सकती, दृष्टि अग्नि पर पड़ती है उसे वह भली भाँति दीखती है, आंखें आग को बताकर अन्य इद्रियो को सावधान करती है, मगर आगकी गर्मी से भस्म नही होती, दृष्टि ■रा अग्नि का ज्ञान होता है परन्तु वेदना नही होती। वर्फ को आखों देखा जाने पर आंखें ठंडी होकर ठिठरने नही लगतीं। इसी प्रकार आत्मा पर-पदार्थ का ज्ञान करता है परन्तु पर-पदार्थ मे लिप्त नहीं होता कारण आत्माकी अप्रतिहत गति है, काच-घड़ी की पोल में वायु है, वायु काय के जीव वाहर भीतर आते जाते रहते हैं, उसमें रुकावट न होने का कारण यह है कि आत्मा अमूर्त वस्तु है। पृथिवी पहाड़ भीत को पार करके आत्मा अविकल रूप से निकल जाता है, छिद्र या दरार पड़ने की संभावना नही, इसलिये नरेश! आत्मा को शरीर से अलग ही जान!।

राजा—मुने! मेरे पास इसका चौथा कारण और है, कारण मेरी युक्ति ज्यों की त्यों खड़ी है, इस अवस्था में भला आपकी बात क्योंकर मान ली जाय! (समझने की शक्ति रखने वालोंकी दृष्टि मे आत्मा की स्वतन्त्रता रूप झलक का नमूना है, परतन्त्रता स्वच्छन्दता या निरंकुशता नहीं है। लोग कहते हैं कि यह किसी भी तरह हमारे पक्ष मे हो जाये! ऐसा कौनसा ढंग है?। मांसाहारी चोर झूठे परदारगामी मुफ्तखोरे कृतघ्न आदिकोंकी वृत्ति कितनी कूट होती है, परन्तु यह तो अपनी युक्ति के टुकड़े होते

देखकर समाधानका कारण पाते ही झुक जाता है कि चौथा कारण अभी और विद्यमान है जिससे आपकी वात अभी तक ठीक नहीं जँची।

चौथा प्रश्न

मुनिपुङ्गव! अपनी सभा मे एक वार सभासदों समेत बैठा था, जिसे मृत्यु दंड दिया जा सके ऐसे अपराधी को मेरा कोतवाल पकड़ लाया, उस अपराधी को मैंने मरवा डाला और उसके मृत देहको लोह की कोठी मे वंद करवा दिया, उस पर ढकना जमाकर छिद्र रहित करा दिया, और सख्त पहरा लगवा दिया, कुछ दिनों के वाद ढकना खोला गया, सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करने पर ज्ञात हुआ कि उसके शवमे हजारों कीड़े पड़गये हैं, महाराज! आंखों देखी वात है अधिक दिन कोठी मे वंद रखने के कारण असंख्य जीव पड़ेथे। कोठी मे कोई छिद्र तो नहीं पड़ा तव ये असंख्य जीव किस दिशा से आये, वाहर से जीव आये होते वो कोठी कानी अवश्य पड़ती। इससे मेरी ही समझ ठीक है कि शरीर ही जीव है, वाहर से जीवका छिद्र पडना चाहिये था, [इस राजाका लक्ष्य आत्मा के देखनेमे है, होनेवाली सव क्रियाएँ इसे ज्ञात है, लेकिन उनकी ओर लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो मात्र जीव का निर्णय करने मे ही टिका हुआ है। पिछले काल मे जो पाप इसने स्वय किये हैं। उन्हें स्मरण करता हुआ प्रत्येक पाप की आलोचना करके उसे छेदन करता जा रहा है, कोई इसकी मूर्खता कहे या सरलता परन्तु यह तो सभी २ घटनायें कहता जा रहा है।

महामुने! जीवों के अन्दर प्रवेश करते समय छेद भी पड़ जाता तव भी आपकी वात मान ली जाती और साथ ही अपनी

अपनी मान्यता को भी बदल देता।

[आज के समय मे जो क्रियाएँ होती हैं वे जड़ वस्तु की प्राप्ति के लिये हैं, रुपया कैसे मिले, सुख कैसे बढ़े, थोड़े से परिश्रम से अधिक लाभ कैसे हो, इस साधना के लिये मति मथन किया जा रहा है परन्तु यह राजा तो आत्मा को जानने का प्रयत्न करता है, आत्मा के ज्ञान द्वारा ही आत्मा की शोध मे लगा है। ज्ञान का स्वभाव वस्तु ज्ञान कराना है, वह वस्तु है या अवस्तु? विद्यमान है या नही, इसका यह अमृत मंथन इसी को जानने के लिये है। इसके हेतु को मुनि युक्ति से तोड़ देंगे।

आत्मा शरीर से अलग है पर साथ ही स्वभाव से नित्य भी है। परदेशी इसे समझने का उद्योग करता है। कल्याण और हित किस मे है, आत्मा का स्वरूप क्या है; इसे समझे विना औंधी रीति पकड़ कर कूटता से बैठ जाने वाले के विषय में ज्ञानी जन कहते हैं कि उस हठवादी को हम भी नही समझा सकते। जो ठीक निर्णय करके तैयार हो ऐसी दृढता वाले को ज्ञानी कहते हैं कि तेरी मान्यता में शंका न पड़े तो भी नहीं समझा सकते, परदेशी ने यदि 'आत्मा देह से भिन्न नहीं है' यह ठीक न माना होता तो उस मनुष्य को लोह की कोठी मे बंद रख कर जो प्रयोग किया था उसे वह कभी न करता परन्तु उसे तो यह आशंका थी कि शायद है कहीं अलग मानने वालों की बातें ही ठीक हों? अतः यह शंका के लिये समाधान चाहता है। निर्णय पा कर बैठा होता तो प्रयोग न करता। संसार के जीव परले सिरे के निरंकुश हैं अहित के पथ में हित मान लिया हो और उस पर पूरी दृढता हो गई हो तो श्री तीर्थंकर देव कहते हैं कि ऐसे दुर्विदग्धों को समझाने की शक्ति हममें भी नहीं है। 'संसार के भोगों मे फँस

कर आत्मा शरीर से अलग होगा तब बड़ी कठिनाई मे पड़ना पड़ेगा, यदि यह शंका उत्पन्न हो तो भी किसी समय समझने का सुयोग मिले।

एक आत्मा स्वभाव में दृढ है और दूसरा अहित से कल्याण-विभाव मे दृढ है। एक हित से कल्याण पाने मे परिपक्व है दूसरा विभावमे परिपक्व है। दोनों स्वतन्त्र है। एक पर पदार्थ मे दृढ है, दूसरा स्वरूप के रास्ते स्वभाव मे दृढ़ है, दोनों समान बली हैं परन्तु वे अपनी धारणा मे आशंका करे तो वीतरागी कहते हैं कि उन्हें समझाया जा सकता है। वे यह भी कहते है कि तीन प्रकार के मनुष्यों को कठिनाई से हित के मार्ग पर लगाया जा सकता है अर्थात आत्मा के कल्याण पथ आत्म भानका मार्ग तीन प्रकार के जीवों को प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है उन्हे समझाने के अर्थ हम भी असमर्थ हैं।

पुरुषों के तीन प्रकार

(१) 'दुष्ट' जो तत्वोपदेशक का द्वेषी है, अन्तर की आत्म श्रेणी (अध्यात्म श्रेणी) का वृत्तान्त कहा जाने पर जिसके अन्तर मे रुचता न हो, गंभीर विषय को गंभीरता से न समझ सकता हो बल्कि अरुचि-अप्रीति बढ़ती चले उसे दुष्ट कहते हैं।

(२) 'मूढ' जिसे हित और अहित के मार्ग की पहचान करनी कठिन प्रतीत होती है 'दुष्ट कुछ तो समझता है' किन्तु वह मूढ़ तुलनात्मक शक्ति से भी रहित है। लाभ और अलाभ के मार्ग मे भेद करना नहीं आता हो उसे वीतरागी कहते है कि ऐसे का समझना दुष्कर है। दुष्ट के परिणाम तत्व से ही अरुचिकर हैं परन्तु मूढ़ तुलनात्मक शक्ति से ही रहित है

(३) 'कदाग्रही' असत्य समागम द्वारा भ्रांति से जिसका मस्तिष्क कुतर्क कुयुक्तियों के द्वारा फिर गया है। उलटी बातें सुन कर तथा पढ़ कर असत्य समागम के कारण बुरी बात को पकड़ कर दुराग्रही हो गया है कि हमने इतना कुछ सुना देखा है तथा हमारी धारणा भी यही है विचारिये तो सही कि हमारी धारणा असत्य क्योंकर ठहराई जासके। बल्कि तीन मनुष्यों को समझना प्रभु ने सुगम कहा है। जैसे—

'तत्वों के उपदेशक का प्रेमी हो'।

' परीक्षक बुद्धि हो '

' जिसे भ्रमणा में पड़ने के कारण न मिले हों'

यह राजा मूढ़ दुष्ट कदाग्रही आदिकों में से नहीं है, यह तो हेतु और कारण को पाकर अपनी पुरानी टेक को भी छोड़ने के के लिये तत्पर है। यह तो शंका के घूमने वाले चक्र का एक पहिया है। इसी कारण ऐसे २ प्रयोग करता है। लोग कल्याण के पथके विषयमें कहा करतेहैं कि शायद इसी तरह हो, ऐसी आशंका जिसमें घर कर गई हो उसे समझाने के लिये अवकाश है।

चौथा उत्तर

मुनि—लोह के गोले को तपाकर उसे पिघलाकर सरस बनाते देखा है। वह कितना कठिन और छिद्र रहित होता है फिर भी उसमें आग घुस जाती है, वह तपकर लाल हो जाता है?

राजा—प्रभो! यह सत्य है कि वह अग्निमय हो जाता है, उसमें अग्नि प्रविष्ट होती है। लोह न दिख कर अग्निका पिंड दीखने लगता है।

मुनि—राजन्! इस मे कहीं दरार या छिद्र पड़ता है? तथा

'आग किस ओर से घुसी है' इसका कोई चिन्ह विशेष है ?

राजा—नहीं सद्गुरो ! छेद तो नही पड़ता।

मुनि—तब राजन् ! अग्नि दृश्य वस्तु है लोह भी दीखने वाली चीज है तथापि लोह मे छिद्र पड़े विना ही अग्नि अंदर प्रवेश कर जाता है तब आत्मा तो अदृष्ट (अरूपी) वस्तु है। उसे छिद्र बना कर निकलने की आवश्यकता ही कहाँ है अतः नरेश ! निश्चय कर कि आत्मा देह से अलग चीज़ है।

इस प्रश्न से पशु योनि का निर्णय होता है

जिसकी क्रिया मे हिंसा मांस मदिरा आदि का व्यवहार तथा धर्मक्रिया भी न हो, मध्यम क्रिया जैसे माया कपट कुटिलता कम देना अधिक लेना इस प्रकार के कर्म करने वाला तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षी आदि पर्याय (गति) मे उत्पन्न होता है। महान् हिंसा करने वाले प्राणी नरक मे जन्म लेते हैं। व्रत नियम का पालन करने वाले-धर्मक्रिया करने वाले पुण्य उपार्जन करके स्वर्ग जाते हैं। पशु पक्षी मैंडक कीड़ी मकोड़ा आदि योनि पानेवाले जीवका वहां मांसाहार ही होता है। मध्यम स्थिति यानी माया कपट कुटिलता करने वाले पशुस्थिति मे लोहे की कोठी - भी उत्पन्न हो सकते हैं और मनुष्य मर कर देव हो जाता है—नारकीय भी हो जाता है। पशु होकर मनुष्य जन्म को भी प्राप्त कर सकता है। नरक से निकल कर फिर नरक मे नही जाता इसी भांति स्वर्ग से आयु भोगकर फिर स्वर्ग मे जन्म नहीं लेते परिक मनुष्य या पशु गति मे जाकर फिर नरक या देव गति मे जाते हैं। नरक गति का प्रमाण इसके दादा की अपेक्षा और स्वर्ग गति का प्रमाण इसकी दादी के दृष्टान्त से पहले समझा चुके हैं।

(३) 'कदाग्रही' असत्य समागम द्वारा भ्रांति से जिसका मस्तिष्क कुतर्क कुयुक्तियों के द्वारा फिर गया है। उलटी बातें सुन कर तथा पढ़ कर असत्य समागम के कारण बुरी बात को पकड़ कर दुराग्रही हो गया है कि हमने इतना कुछ सुना देखा है तथा हमारी धारणा भी यही है विचारिये तो सही कि हमारी धारणा असत्य क्योंकर ठहराई जासके। बल्कि तीन मनुष्यों को समझना प्रभु ने सुगम कहा है। जैसे—

'तत्वों के उपदेशक का प्रेमी हो'।

' परीक्षक बुद्धि हो '

' जिसे भ्रमणा में पड़ने के कारण न मिले हों'

यह राजा मूढ़ दुष्ट कदाग्रही आदिकों मे से नहीं है, यह तो हेतु और कारण को पाकर अपनी पुरानी टेक को भी छोड़ने के के लिये तत्पर है। यह तो शंका के घूमने वाले चक्र का एक पहिया है। इसी कारण ऐसे २ प्रयोग करता है। लोग कल्याण के पथके विषयमें कहा करतेहैं कि शायद इसी तरह हो, ऐसी आशंका जिसमें घर कर गई हो उसे समझाने के लिये अवकाश है।

चौथा उत्तर

मुनि—लोह के गोले को तपाकर उसे पिघलाकर सरस बनाते देखा है। वह कितना कठिन और छिद्र रहित होता है फिर भी उसमें आग घुस जाती है, वह तपकर लाल हो जाता है?

राजा—प्रभो! यह सत्य है कि वह अग्निमय हो जाता है, उसमें अग्नि प्रविष्ट होती है। लोह न दिख कर अग्निका पिंड दीखने लगता है।

मुनि—राजन्! इस मे कहीं दरार या छिद्र पड़ता है? तथा

'आग किस ओर से घुसी है' इसका कोई चिन्ह विशेष है ?

राजा—नहीं सद्गुरो ! छेद तो नही पड़ता।

मुनि—तब राजन् ! अग्नि दृश्य वस्तु है लोह भी दीखने वाली चीज है तथापि लोह में छिद्र पड़े बिना ही अग्नि अंदर प्रवेश कर जाता है तब आत्मा तो अदृष्ट (अरूपी) वस्तु है। उसे छिद्र बना कर निकलने की आवश्यकता ही कहाँ है अतः नरेश ! निश्चय कर कि आत्मा देह से अलग चीज़ है।

इस प्रश्न से पशु योनि का निर्णय होता है

जिसकी क्रिया मे हिंसा मांस मदिरा आदि का व्यवहार तथा धर्मक्रिया भी न हो, मध्यम क्रिया जैसे माया कपट कुटिलता कम देना अधिक लेना इस प्रकार के कर्म करने वाला तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पत्ती आदि पर्याय (गति) मे उत्पन्न होता है। महान् हिंसा करने वाले प्राणी नरक मे जन्म लेते हैं। व्रत नियम का पालन करने वाले-धर्मक्रिया करने वाले पुण्य उपार्जन करके स्वर्ग जाते है। पशु पत्ती मैडक कीड़ी मकोड़ा आदि योनि पानेवाले जीवका वहां मासाहार ही होता है। मध्यम स्थिति यानी माया कपट कुटिलता करने वाले पशुस्थिति मे लोहे की कोठी भी उत्पन्न हो सकते है और मनुष्य मर कर देव हो जाता है—नारकीय भी हो जाता है। पशु होकर मनुष्य जन्म को भी प्राप्त कर सकता है। नरक से निकल कर फिर नरक मे नही जाता इसी भाति स्वर्ग से आयु भोगकर फिर स्वर्ग मे जन्म नहीं लेते वल्कि मनुष्य या पशु गति मे जाकर फिर नरक या देव गति मे जाते है। नरक गति का प्रमाण इसके दादा की अपेक्षा और स्वर्ग गति का प्रमाण इसकी दादी के दृष्टान्त से पहले समझा चुके है।

अब तिर्यंच गति के निर्णय का वर्णन किया जा रहा है। जीव कोठी मे आकर उत्पन्न हुए, क्योंकि इसकी अप्रतिहत गति है। यहां तक कि वज्र कि थंभे मे से भी निकल कर जा सकता है। इसी कारण हे राजन् ! जीव और काय अलगर हैं। दोनों के मार्ग भी भिन्न हैं। अब तो प्रतीति करने की आवश्यकता है। श्रद्धा और रुचि उत्पन्न हो तो नृप ! काय पलट हो जाय।

राजा—मुनिसत्तम ! ये सब युक्तिमात्र हैं। यह उदाहरण है और मुझे निरुत्तर करने के लिये दिया है। आपकी प्रयुक्तियों के सामने मेरी युक्तियें टूक टूक हो जाती हैं। यह सब खेल आप की प्रज्ञा (बुद्धि) का है। तब भी मेरे लिये चिन्ताका कोई कारण नहीं है सद्गुरो ! मेरे पास अभी एक पांचवाँ कारण और है। [बहुत से प्रयोगो को करते समय कितना ध्यान रखता है। सीमा से अधिक श्रम किया परन्तु आत्मा को प्रत्यक्ष न देख सका। इस पर अब तक जितने भी आवरण है उन्हें प्रश्नों द्वारा मानो हटाता जा रहा है। सत्य को नग्नरूप में सन्मुख ही देखता है। यदि इस विषय को अस्वीकृत भी कर जायगा तब भी सत्य कहीं चला जायगा ? प्रमाण के अभाव मे भी सत्य तो ज्यों का त्यों करता ही है, आखिर न्याय न्याय ही रहेगा। प्रयोग करते समय कमी रह गई थी उसका निर्णय विशेष करता है। इतना ही समझना अवशेप है कि आत्मा कहां है ? उसीको सोच रहा है। क्रिया होने पर भी आत्मा न दीख पड़ा। इतना नकार किया है वह आवरण ही है। प्रथम नकार के आवरण प्रस्तुत किये हैं उन्हे प्रश्नों द्वारा अब मिटा रहा है। साथ ही कहता भी है कि आपकी प्रज्ञा शक्ति अधिक है फिर भी पांचवां कारण मौजूद है [illegible]

पांचवाँ प्रश्न

उत्तममुने !-एक आदमी जवान-कलावान्-नीरोग और प्रस
मुख है, आगे अभी रोगी होने की संभावना तक नही है, क
ऐसा नीरोग मनुष्य बाण फैंक सकता है ?

मुनि—राजन् ! फेंक सकता है ।

राजा—भदन्त ! जब आत्मा समान है तब क्या कारण है
बालक नहीं फेंक सकता ? आत्मा की समानता मे उस छोटे
बालक को भी युवक की तरह फकना चाहिये । आप कहते है
आत्मा देह से भिन्न है तब तो बालक और युवा मे आत्मा
समानता ही है । मेरी धारणा यह है कि जब शरीर छोटा था
बल कम था और बड़ा होनेपर शक्ति बढ़गई अतः शरीर
आत्मा है । यदि आत्मा अलग होता तो आत्मा कुछ बालक तो
ही नहीं । अनादिकाल से आत्मा ही आत्मा है उसे वर्तमान
कौन घटा बढ़ा सकता है, भूतकालसे वर्तमानकाल तक का आयु
भोगा जाता है । भविष्य का वर्तमान मे नही और वह वर्तम
काल तक अनादि समयसे उसी प्रकार है । यदि कोई बड़ा होग
तो वह भविष्य वर्तमान मे नहीं भोगता । जब भविष्य
वर्तमान होता है तब सबका वर्तमान होता है । जीव व्यष्टि
से अलग है तो क्या हुआ शरीर के छोटा होने पर भी आत्मा
सन समान ही हैं न ? अतः युवक मनुष्य जैसा बलका विस्तार क
है उसी प्रकार बालकभी उतना ही विस्तार करे तो मान जाऊं
कोई आग्रह नही । बाल्यवय ने बलको विस्तृत न करके युवाव
मे ही विस्तार कर सके इस से स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर ही जीव
और जीव ही शरीर है । ऐसी यह मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाणाधित

जिसमें युक्ति अपना ठीककाम करती है अतः वह मेरा मत श्रेष्ठ है।

मुनि—राजन्! एक युवा मनुष्य नया धनुष नये बाण नई डोरी को लेकर बाण फेंक सकता है?

राजा—मुनिराज! चला सकता है।

मुनि—मनुष्य वही है, उसके धनुष की लकड़ी घुन खाई है, डोरी गलकर पुरानी पड़ गई है क्या राजन्! वह कमजोर धनुष से बाण चला सकेगा?।

राजा—प्रभो! न फेंकेगा, क्योंकि उसके साधन अपूर्ण हैं, मनुष्य बलवान् अवश्य है मगर साधन अधूरे हैं।

मुनि—इसी प्रकार राजन्! युवा पुरुष के शारीरिक उपकरणों के साधन पूरे हो गये हैं और बालक के शरीर आदि उपकरण ऊन (अधूरे) हैं। फिर भी आत्म शक्ति समान है मगर वह बाण की शक्ति जिसके द्वारा उसे काम लेना है वह अपूर्ण है।

पहले दो प्रयोग किये थे अब यह नवीन विचार करके कहता है। इसने युक्तियां सोचने में कितना समय लगाया होगा? युवा जितना काम बालक न करे तो आत्मा अलग नहीं है यह विचार पूर्वक मान लिया था परन्तु उपकरण अधूरे तथा कच्चे हैं, साधन ओछे हैं। कदाचित् ये उपकरण और साधन पूरे हों तो काम कर सकता है। क्योंकि आत्मा का भान भी नव-वर्ष के बाद ही होता है इससे कम आयु के बालक को पूर्व कर्म का भास नहीं होता, मृत्यु और पूर्व जन्म की स्मृति भी होती है किन्तु हित का मार्ग अपने लिये नहीं बन सकता क्योंकि अभी इसे विचार करने का अवकाश नहीं मिला। हे राजन्! शरीर और जीव एक नहीं है बल्कि अलग है। इसका निश्चय रख। उपकरण समान न होने के कारण बराबर कार्य नहीं कर सकते।

छठवां प्रश्न

राजा—सत्पुरुष ! मेरे पास एक छठवां कारण और है। वृथा ही आपकी युक्ति भर से सन्तोष नहीं होता। सच है धर्म स्वभाव और आत्मा की नित्यता का विचार किये विना आगे कोई कैसे बढ़ सके ? मट्टी कूड़ा एकत्र करके कहता है कि मैं अग्रगामी हो रहा हूं। तब क्या बढ़ कर आत्मा से भी आगे बढ़ गया। इसे देखो न ! कितनी खटक है अहंकार तो नाम मात्र को भी नहीं रहा। इसकी भीतरी तह मे कोई भारी वेदना है जिसके आधार पर कल्याण के मार्ग को जान लेगा तथा उसे पाकर तुरन्त स्थिर हो जायगा। जितना प्रवृति बल उलटा किया था उतना ही सुलट भी लेगा। पूर्व काल मे जानने के लिये श्रम विचार तथा प्रयोग किया है। अब तक सत्समागम के विना पूर्ण निर्णय न हुआ था मगर अब विलंब न करेगा। बालक का हेतु प्रयुक्त करके अब बूढ़े का उदाहरण सुनाता है।

उत्तम पुरुष ! युवा मनुष्य चार-छ मन लोहे का बोझ सर पर ले लेता है, क्योंकि जवानी के खून की उछल कूद पूरी है बलकी इतनी बढ़ोतरी है कि मस्त पशु की पीठ पर अपने हाथ की कोहनी चुभोकर उसे जमीनपर गिरा देता है, मानो जवानी फूटी पडती है। तब ही तो आठ दश मन लोह उठा लेना इसके लिये कुछ बड़ी बात नहीं है। श्रम जीवी (मजदूर) कई कई मन बोझ उठा लेते हैं, [अफ्रीका जंजीबार मे एक एक पल्लेदार चावल की सात या ग्यारह बोरी तक उठा सकता है, यदि वह उसमे से दो तीन सेर चावल खा लेता है तो इतना भार उठा लेना उसके लिये कुछ कठिन नहीं। शरीर निर्वाह के लिये तो थोड़ा सा ही चाहिये

परन्तु ममता का भार अधिक है। पांच मन चावल पेट मे नहीं समा सकते मगर तृष्णा की पोट को उठाते धरते लोगों का जी नहीं अघाता।] इसी लिये कहता है कि गुरुदेव ! जवान आदमी आठ दश मन बोझ उठा सकता है तब बूढ़ा क्यों नहीं उठा सकता जिसके शरीर मे गुलझटे पड़ी है, लार टपकती है, शरीर दुर्बल तथा पुराना है, ऐसा वृद्ध उतना भार उठा सके तो मुझे स्वीकार है कि देह और आत्मा अलग वस्तु है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा मे शक्ति का विकास समान है। यदि वृद्ध महाशय उतने भार को न सभाल सके तो समझो कि आत्मा शरीर से अलग नही है। तथा देह ही आत्मा है तब मेरी बात सत्य सिद्ध होती है, अलग मान लिया जाय तो समान बल सिद्ध नही होता। आशा है आप इसका ठीक उत्तर प्रदान करेंगे।

राजा का मन्तव्य

परदेशी का यह मन्तव्य है कि जीव को अलग अलग मानने मे कौन हेतु और कारण उपयोग मे लाये जा सकते है। क्योंकि उसके अपने नपे तुले कारण देह और आत्मा को एक सिद्ध करते है। यह उसने जतला भी दिया और उसकी पुष्टि मे उदाहरण तक दिये है। मुनिने भी नरक और स्वर्ग सप्रमाण सिद्ध किये हैं। जो वीतराग पुरुषों को वचन प्रमाण करने योग्य मानते है उन्हें, कदाचित् साधारण व्यक्ति न माने तो वे वचन फीके और असत्य सिद्ध नहीं हो सकते। नरक को सिद्ध करते समय कहा था कि लाखो करोड़ों जीवों को जला डालने की भ्रांति है अथवा करोड़ों का खून कर डाला हो तो उसके लिये यहा पूरा दंड नहीं है। क्यों कि एक खून करने वाले को भी फांसी और लाख हत्या करने

वाले को भी वह मृत्यु दण्ड। इससे अधिक दंड मनुष्य के पास है नहीं परन्तु प्रकृति (कुदरत) के पास बड़े से बड़ा और कड़ा दंड है। जो जैसा करता है वह वैसा पाता है अतः निरन्तर की खून करने की भावना निरन्तर दुःख देने वाली गतिएं वह प्रदान करती है। साथ ही वह नैरन्तर्य दुःख इस नरक गति के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। अर्थात् लाख हत्या करने वाले का या उसकी भावना रखने वाले को नरक मे कई बार उत्पन्न होना पड़ता है जिस से नरक गति की स्वयमेव सिद्धि हो जाती है।

पशु और मनुष्य की गति तो साक्षात् देखने मे ही आती है। लेकिन राजा का दूसरा प्रश्न था कि 'मेरी दादी आपके मतानुसार पुण्य करके स्वर्ग गई है' यदि वह आकर कहदे तो मानलूं कि उसके पुष्टिकरण मे बहुत से प्रमाण दिये हैं। नरक का प्रमाण तो निरन्तर हिंसा के भाव मे प्रवर्तित है उसने लाखों करोड़ों के हित का दुर्लंघ्य कर दिया है और उसे निरन्तर दुःख का स्थान न मिलता तो पूरा बदला न गिना जाता।

'अनीति किसको पसंद है'? कहने वाले दावे से इतनी बात कह तो देते हैं तथा नास्तिक भी यही कहेंगे कि अनीति अच्छी नहीं और नीति से वस्तु की प्राप्ति करना योग्य है। लेकिन नीति का नियम किस प्रकार बनाया जाता है? यह प्रसंग दूसरा है परन्तु जो विना सोचे ही यह कह डाले कि 'ससार का व्यवहार चाहे जिस तरह से भी चलाया जाय' इतना कहने वाले ने अनीति को कितना ऊंचा स्थान दिया है, यह निस्संकोच मानना ही पड़ेगा। जो वस्तु माह्य है उसमे कोई वस्तु बाधा न देगी। किसी प्रकारका विघ्न भी उसमे न आ पायगा। जो संसार के कारण विषय लोभ ममता राग-द्वेष करना योग्य बतलाता है? और यह उचित हो तथा उसकी

स्थापना कर डाले तो उसकी दृष्टि मे अनीति भी करणीय हो जायगी। जिस वस्तु को पीछे करके अनादेय समझा है वह तो तीन काल मे भी उपादेय न होगी। मांस मदिरा खाने वाले साधारण मनुष्य यह मानते हैं कि असत्य और अनीति अच्छी नहीं है इसी से बात बात में कहते हैं कि क्या हम असत्य बोलते हैं? क्या हम अनीति करते हैं? क्या तुम्हारी यह धारणा है। इस प्रकार असत्य और अनीति सबको खटकती है, इस से निश्चित है कि ये दोनों आदरणीय नहीं है। ज्ञान स्वभाव यह आत्मा का अपना निज का स्वभाव है यह गुण १६ आने आदरणीय है और जहां तक वह पूर्ण-निर्मल निरावरण न हो वहां तक उसके विकास करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये क्योंकि वह आदरणीय वस्तु है न? इसी प्रकार संसार के प्रसग भी अनीति से करने योग्य नहीं हैं, इस से सब परिचित है फिर भी नीति को सँभाल कर नहीं रख सकते, बहुतो की यह धारणा है कि अनीति अकरणीय है परन्तु अनीति को छोड़ा नहीं जाता। नीति को पसंद करने वाले शायद नीति के नियम न निभा सकते हों मगर नीति करने वालों को सब लोग अच्छा समझेंगे। जो नीति पर चलनेवाले की प्रशंसा करेगा तब धर्म करने वाले की ऊंची गति होगी जिसे स्वाभाविक समझा जाता है इसी का नाम स्वर्ग है। नीति जहां भी होगी धर्म वहाँ अवश्य होगा और अधर्म चाहे न भी हो परन्तु धर्म जहाँ होगा वहाँ नीति अवश्य होती है परन्तु यदि पर स्त्री का आमन्त्रण मिलने पर भी उसमे कोई आकृष्ट न हो तो इस प्रकार नीति वाले की प्रशंसा दुनिया को मुक्त कंठ से करनी होगी। तब फिर उसके आगे बढ़ने पर शुद्ध अवस्था मे पहुंचने के लक्ष्य मे वह नीति से भी अगाड़ी चला जायगा। उसके लिये ऊंची गति मे जाने का

स्थल स्वर्ग है। साधु को भी किसी समय अन्नदाता कह कर राजा तक भी इसी नाम से बुलाते हैं। तब क्या वे रोटिया देते है और क्या रोटियां देनेवाला ही अन्नदाता कहलाता है। क्या शरीरको पुष्ट करने वाली ही खुराक समझी जाती है। क्या ज्ञान दर्शन चरित्र आत्म गुण वृद्धि के नाते आत्मा की खुराक न समझे जायँ! उनसे भी तो आत्मा का पोषण होता है, आत्माका रस ज्ञान दर्शन चरित्र ही आत्मा का मुख्य आहार है और आत्मा को आहार देने वाला अवश्य अन्नदाता कहलायगा।

छठवें प्रश्न मे यह कहता है कि चार मन लोहा युवा पुरुष उठा सकता है तब ८० वर्ष का दुबला बूढ़ा क्योंनहीं उठाता? कारण दोनों का आत्मा समान है आपके नियमानुसार समान भार उठाना चाहिये पर उन्हें उठाते नहीं देखा जाता। इस कारण मेरी मान्यता ठीक है। बालक के पास अपूर्ण साधन है जिस से थोडा बहुत बोझ उठा सकता है इस से भी स्पष्ट सिद्ध है कि देह ही आत्मा है कारण देह की स्थिति के प्रमाण मे बल भी रहा हुआ है परन्तु आत्मा कोई अलग वस्तु नहीं है यह पक्की बात है अतः महामुने! सब तरह मेरी ही धारणा ठीक सिद्ध होती है।

छठवें प्रश्न का उत्तर

मुनि—राजन्! कावड़ मे टोकरियें नई हैं उसमे डोरी के डसने भी नवीन हैं, उसमे बोझ ढोने वाले चार मन बोझ ले जा सकते है मगर जब वही कावड़ सड़ जाती है उसकी टोकरियें जीर्ण हो जाती हैं और डोरी पुरानी पड़ जाती हैं तब क्या उसके द्वारा उतना ही बोझ उठाया जा सकता है?

राजा—नहीं, मुने! कारण उसके सब साधन जीर्ण शीर्ण

हो गये हैं इसी लिये नहीं उठा सकता।

मुनि—यद्यपि द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक नय से परिवर्तन शील रहने के कारण अनित्य है, अपनी उपस्थिति को स्थायी रख कर अवस्था का रूपान्तर होता रहता है परन्तु स्वयं नित्य अवश्य है और वह तीनों अवस्थाओं का ज्ञाता द्रष्टा है। राजन्! युवा उस भार को उठा सकता है तथा जीर्ण साधन होने पर वृद्ध पुरुष न उठा सकेगा मैं ज्ञान स्वरूप भिन्न और मेरे साधन अलग हैं, देह का साधन अलग है। इस भांति समझे विना साधना करने लग पड़ना मानो अपनेको मात देना है। आत्म स्वभावके पंडित को खोज कर आत्मा को जानने का मंथन [प्रयत्न] करे तो वह उस विषय की चरमसीमा को पार कर सकता है। अज्ञान भाव अनादि रहने के कारण विषय भोग स्त्री पुत्र आदिकों मे गले तक डूबा है तब भी पारमार्थिक दृष्टि से शक्ति तत्व कहीं चला नहीं गया है, उसकी चेतना सदा काल स्थायी रहने वाली वस्तु है क्योंकि आत्मा के गुण जाने के लिये नही हैं, न उनमे कुछ नयापन है। आत्मा नित्य देह भिन्न ध्रुव और निश्चल वस्तु है। इस मान्यता वाले का हेतु अलग पड़ जाता है इसके कल्याण के मार्ग शान्ति क्षमा निरभिमान निर्ममत्व-अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि हैं अतः रूढ़ि गत रीति मे रहने से कोई लाभ नहीं। इसे समझने के लिये एक हेतु भी है जैसे एक मनुष्य का आयु ८० वर्षका और एक का २० वर्ष है। २० वर्ष वाला गत काल की बात का स्मरण करने जाय तो अधिक से अधिक १५ वर्ष की बातें जान कर कह सकता है मगर ८० वर्ष का वयो वृद्ध अपने ७५ वर्ष पहले के सब हाल खोल कर रख देगा। यद्यपि दोनो का ज्ञान स्वभाव समान है तथापि एक १५ वर्ष पहले की

बातें कहना है और दूसरा ७५ वर्ष तक की। समान रूपसे जानने के स्वभाव मे कहा अन्तर सिद्ध है। जो १५ वर्ष पहले की भूत कालीन बातें जानता है तब उसकी दृष्टि में ७५ वर्ष के योग्य बातें जाननेकी शक्ति क्या उसमे अप्राप्त है? शक्ति तो अवश्य है परन्तु मरण और दुःख की दीवारें बीच मे आ जाने से भूल भूलैया में पड़ जाता है। यह भी ७५ वर्ष पहले की बातें जानता तो है। वह बीस वर्ष वाले के पूर्व भव मे बनने वाली बातें भी कह जाता है। क्योंकि आत्मा और ज्ञान त्रिकाल वर्ती हैं यह निश्चय सिद्ध है। वृद्ध पुरुष अपने उपकरण जीर्ण पड़ जाने के कारण बोझ नहीं उठा सकता मगर ७५ वर्ष की बातें स्मरण रख सकता है। अतः काल के अनुभव प्रमाण मे शक्ति किस की बढ़ गई?।

जन्म लेते समय क्या जड़ था? ज्ञान न था? ज्ञान न होता तो खाने की शक्ति कहां से आती? अतः ज्ञान तो है परन्तु जन्म की भीत और मरण या जन्म की दुःख श्रेणी के आवरण मे भूल जाता है। भविष्य मे चाहे जो कुछ हो किन्तु वर्तमान मे भोग लेना चाहिये ऐसी मान्यता वाले अधिक हैं। पाप करने के अनन्तर वर्तमान मे अनुकूलता लेने वाले 'भविष्य में मुझे ही भोगना पड़ेगा' इस अवस्था को भूलने वाले भविष्य मे मेरी विद्यमानता नहीं है यह मानने वाला है कि मनुष्य लक्षण और प्रमाण द्वारा आत्मा को अलग माने तो उसकी श्रद्धा और प्रतीति निर्मल हो सके परन्तु ऐसों की अन्तर्दशा विलक्षण प्रकार की होती है। जिसे पदार्थ की अवस्था क्षण भंगुर अनित्य तथा अस्थिर है उसके फेर मे पड़ कर अपने लक्ष्य को चूक गया और अनित्य को नित्य और टिकाऊ बनाने की चिन्ता मे डूब गया। यद्यपि नित्यात्मा का वेग स्वाभाविक है फिर भी आवरण के ज़ोर मे स्वभाव को भूल कर

हिंसा चोरी असत्य मैथुन कलहादि परपदार्थ के बंधन में लीन होकर अपने नित्य गुण को भूल गया प्रत्युत अब उसका पर पदार्थ में ही लक्ष्य है इसे 'सुरक्षित रक्खूंगा' की रट लगाये हुये है। परन्तु जिसने आत्मा को देह भाव से अलग माना हो उसके मरण आदि लक्षण बदल जाते हैं। 'शरीर से आत्मा भिन्न है' ऐसी प्रतीति होने पर जीव की प्रत्येक अवस्था बड़े उपयोग से व्यतीत होती है और जीवित दशा मे मरण को याद करता हुआ मृत्यु काल को जीवन के समय मे खींच कर इकट्ठा करता है। लेकिन जिसने अपने जीवन मे राग और विषय कषायों की पोषणा की हो उसे देह छूटते समय अरुचि और अप्रतीति होगी। आत्मा को अलग मानने वाला जीवन और मरण को एक कालमें दो भाग बनाकर देखता है। यदि अनुकूलता मे राग न आ पावे तो प्रतिकूलता मे द्वेष भी न फटकने पायगा। जन्मने के अनन्तर किस प्रकार जीवित रहना चाहिये यों जीने की इच्छा करने वाला पाप की हद नहीं बांध रहा है परन्तु जन्म लेने के पश्चात् किस प्रकार मरना चाहिये ? इसे समझने वाला अपने जीवन की मर्यादा बांध रहा है। इसका अपना जीवन मृत्युकाल को सुधारने के लिये है। एक मनुष्य जीवन बिताने के लिये जीवित है और दूसरा यह समझता है कि 'मेरा आत्मा देह से अलग है' 'देह परवस्तु है' उसका छूटना परमावश्यक है। यदि वह छूटता है तो मुझे अप्रतीति और अरुचि करने की क्या आवश्यकता है ? इस मान्यता में पर-पर की वस्तु है उस से छूटने पर आनन्द होता है। वर्तमान के प्रतिक्षण में इस ढंग से जीवन निर्यापन किया जाय कि मरते समय या इस की स्थिति से छूटते समय मेरी सब तैयारियें अभी से ऐसी हों कि उस समय किसी बात मे त्रुटि न रह पाये। मगर

जिसे राग होगा तो वह यह कहेगा कि हाय ! इसे मैंने कब सोचा था यह तो विना बुलाये ही आगई। मगर ज्ञानी तो यह साफ कह रहे हैं कि अनीति करने वालों को जीर्णता अवश्य आयगी। मौत समीप आने पर उसे यह होता है कि अरे बाप ! मेरा तो कोई भी नहीं है किस का आश्रय-शरण ग्रहण करूं। राग-द्वेष के घेरे मे आकर देह छूट गया और चला गया। अर्थात् देह ने ही इस को छोड़ दिया स्वयं इच्छानुसार देह को न छोड़ सका। यदि स्वयं देह त्याग कर देता तो फिर से शरीर का संगम न होने पाता, क्योंकि देह अनित्य है इसी लिये छूट जाती है मगर जहां तक अपनी मर्जी से न छोड़े वहा तक चारों गति मे रुलना पड़ता है, आत्मा को शरीर से भिन्न मानने वाले का जीवन काल बदल जाता है इसका मार्ग विलक्षण प्रकार का होता है अतएव हे राजन् ! आत्मा देह से अलग है यह निश्चय कर।

राजा—महामुने ! आप बुद्धिमान् है, आपने प्रज्ञा-बल से मेरा हेतु-कारण तोड़ डाला, परन्तु मेरे पास सातवॉ कारण और भी तो है। इस के प्रश्न एक तरह से प्रायश्चित्त रूप हैं जिस मे अपनी श्रद्धा का निर्णय करते हुये दर्शन का प्रायश्चित्त बन जाता है। तथा व्रत-नियम मे स्थिर रहने का निर्णय चरित्र का प्रायश्चित्त कहलाता है। इस प्रकार यह अपने आवरणों का पर्दा नष्ट कर रहा है।

पर्यूषणमें

[पर्यूषणपर्व भी पूर्व के लगे पाप का इस कालमे छेदन करने का कारण है। यह समय आवरण हटाने के लिये मिला है। अनादिकाल से क्रोध-मान-विषय-कषाय-निद्रा और विकथा के रंग

मे यह जीव रंगा पड़ा है। उसमे से निकल कर सब प्रकार से भाव मे रमण करके रहने का नाम पर्यूषण है। अपने गुण में रमण करने के भाव प्रगट करने का नाम भी पर्यूषण है। यदि वह भाव प्रगट न हों तो मात्र नाम निक्षेप की दृष्टि से पर्यूषण है। पर्यूषण मे पूर्व काल के वैर विरोध हों तो उनको बिल्कुल छोड़ देना चाहिये]। × × × यह राजा अपनी राजधानी मे आये हुए सत्पुरुषों के समक्ष पिछले समय के किये गये पापोको प्रकाशित करके उनका छेदन करता है। यह छः छः प्रश्न तो पूछ चुका है और अब सातवाँ प्रश्न इस भाँति पूछता है।

सातवाँ प्रश्न

एक बार मृत्यु दण्ड के अपराधी को तराजू में तोल कर मार डाला, मारा भी ऐसी रीति से कि रुधिर का एक बूंद न निकला और शरीर का चर्म भी अखंड रहा। किन्तु जब मार कर फिर तोला गया तो भार उतना ही पाया गया जितना कि मारने से पहले था। घटा बढ़ी कुछ भी न हुई। तोल में जरा भी तो न घटा, यदि आत्मा अलग वस्तु होता तो शरीर मे से आत्मा निकलने पर तोल में कुछ तो घटना चाहिये था। इस प्रकार पहले समय मे किये गये पापों को मुनिके पास सभासद् जनों के सामने प्रगट करके मानो प्रायश्चित्त लेता जा रहा है साथ ही आवरण को भी मिटाता है। अपने संवाद मे यह भी सिद्ध कर दिया कि हिंसा से कुछ भी लाभ न होकर अहिंसा में ही पूर्ण लाभ है। ममता से लाभ न होकर निर्ममत्व से लाभ है। मैथुन मे लाभ न होकर ब्रह्मचर्य मे लाभ है। इसने निर्णय भी तो अथाह रूप से किया है। पर अभी कुछ बाक़ी है पूरी तसल्ली नहीं हो पाई है। कितनी बड़ी हिम्मत

है कि अपने पापों को भरी सभा मे अपने मुँह आरोपी की तरह बयान देकर कह रहा है [आज कल प्रतिक्रमण के विषय मे कितनी घिस घिस रहती है, खींचतान मिटती ही नहीं और कुछ नहीं तो यही कह डालेंगे कि मेरे गुरु का नाम क्यों नहीं लिया गया, ऐसी ऐसी निर्जीव बातों मे पक्षपात की टांग अड़ाते समय लज्जा शर्म को न जाने कहां रख छोड़ते हैं।]

वीर रस

प्रभुने नव रस बताये है जिन मे वीररस सर्व प्रधान है, वह रस किसी समय महावीर प्रभुमे अधिकांश प्रगट हुआ था। लेकिन वह वीरता पैने सींग मारने मे है या क्षमा करने में, गाली के प्रत्युत्तर मे [गाली देने मे] है या क्षमा पूर्वक मधुर भाषण करने मे। यदि गाली देने मे भी कोई वीरता है तो बालक भी देना जानता है तब क्या उसे वीरता मे सम्मिलित किया जायगा ? गाली या धक्का देने वाले को यदि यह कहा जाय कि भाई क्षमा करता हू ? तब आप ही कहें कि वीरता महँगे मोल पड़ती है या सस्ती ? यदि सस्ती होती तो मारने वाले के प्रति मारने वाले तथा गाली देने वाले के प्रति गाली देने वालों से संसार भरा पडा है अतः क्षमा प्रदान करने वाले वीर पुरुष बहुत थोड़े हैं।

"सूयगडांग सूत्र" वीर्य नामक आठवें अध्याय मे वर्णित है कि भाई ! तेरी होशियारी तो तब है कि जब मारने या गाली प्रदान करने वाले को भी क्षमा करदे, उसके सामने झुक जाये तो। क्षमा विरले महानुभाव से ही होती है। जब आठ वर्ष का लड़का दश वर्ष के लडके को मारकर भाग जाता है तब दश वर्ष का लड़का उसे मारने के लिये पत्थर फेंकता है, कदाचित् उसे वह

लग जाय तो क्या बदला मिल गया ? और न लगे तो रोने लगता है। उसके अन्तर में यह ईर्षा हो जाती है कि 'मुझे मार कर जा रहा है'। उसे जहां तक न मारूंगा वहां तक समाधान न होगा। इस भाँति बालक भी मार खाने के बाद समाधान करने की इच्छा रखता है। यदि फिर जवान और बूढ़े भी इसी प्रकार समाधान करने की जिज्ञासा करे तो निश्चय समझो कि बालक पना कर रहे हैं। बालक में और उनमे कोई अन्तर नहीं रह जाता है। दश वर्ष का लड़का रोता हुआ अपनी माता के पास फर्याद करे तो माता कहेगी कि अरे ढग्गे ! (पंजाब मे बैल को कहते हैं) आठ वर्षका लड़का तुझे मार गया अपने से छोटी उमर वाले से मार खा गया, शर्म नही आती, और मैं बड़ा हूं तथापि वह मार जाता है, इसमे मेरी बड़ाई क्या ? यह भान ही नहीं है। कारण उसमें बालक बुद्धि है जिससे आगे पीछे की महत्ता को भूल जाता है मगर राजपूतों के लड़के जवान होते हैं या बूढ़े? अरे वे तो बड़प्पन का सहारा पकड़े रखते हैं, सब करें वैसा समाधान लड़के ने पहले किया है परन्तु दूसरे समाधान मे भूल गया। लेकिन यदि कोई दोनों समाधानों में भूल कर डाले तब उसे क्या कहा जाय। लड़का एक मे भूल करता है और दूसरे मे समाधान तब युवा और वृद्ध को भी दोनों ही समाधान करना चाहिये। प्रतिलोम रीति से बालक की भांति न करके अनुलोम रीति का व्यवहार करना चाहिये कि भाई ! तूने कुछ नहीं किया है ? तथापि मेरे पूर्व के कर्मों का आवरण उदय में आया है। बालक को जिस प्रकार अपनी माता के सन्मुख साफ़ साफ कहते शर्म नहीं आती तब गुरु के सन्मुख कहने मे संकोच और शर्म कदापि न करनी चाहिये। जिस प्रकार परदेशी राजा ने गुरु के पास

जाकर ज्यों की त्यों घटना कह सुनाई। 'माता के पास कहने में मेरी मान हानि होती है' इस प्रकार की शर्म उस लड़के को न आई इसी भांति जिसे बड़प्पन मे पैर न रखना हो उसे भी गुरु के सन्मुख पाप की आलोचना करते समय कुछ लज्जा न होगी। विशेष कर पर्यूषण मे तो वैर विरोध को भूल जाना ही अच्छा है राग-द्वेष का बन्धन खोल कर अलग करना श्रेयस्कर है ! यदि छोटा मोटा बधन न टूट सके तो सर्व-बन्धन क्योंकर छूटें । यह बन्धन आत्मा और शरीर दोनों के लिये हानिकर है । इसका अनुभव करके छोड़ देना चाहिये। अगर पर्यूषण में इससे मुक्त हो सका तो १२ मास के लिये पीछा छूटा । वीरत्व को पाने वाला न जाने क्या कुछ छोड़ सकता है। शरीर को चाहे कितना भी कष्ट आकर पड़े परन्तु सम-भाव को प्रगट करने के लिये व्यसनों को अवश्य तिलांजलि दे डालो। जेलखाने मे क्या अफीम और तम्बाकू मिलता है ? परन्तु स्व-वश सहन करने का समय समाप्त हो गया यानी उसे खो बैठा।

बृहत्कल्प सूत्र मे भी एक अधिकार आता है कि एक साधु ने अपने शिष्य पर क्रोध किया तब गुरु ने कहा कि जाओ अपनी भूल की क्षमा माग कर आओ। जिसने अपराध किया है वह यदि क्षमा न मागे, क्रोध को निष्फल न करे, शान्ति धारण न करे तो साधो ! तू गोचरी जाने का अधिकारी नहीं है। क्षमा न मागी हो और आहार को जा रहा हो, यदि मार्ग मे सॉप काट खाय तथा उसका अपमरण हो जाय, तो सॉप ही बनना पड़ता है। क्रोध को टाले, विना क्षमा मागे विना, क्षमा की प्रार्थना किये विना शेष काल के दिनों मे भी नहीं विचर सकता, चातुर्मास नहीं कर सकता, अपराध के विषय मे क्षमा मांगे विना शौच नहीं जा

सकता। वर्षा होते समय साधु के लिये शौचभूमि जाने की आज्ञा है पर यदि उसने क्रोध किया हो और बिना क्षमा मांगे उसे महावीर भगवान् की ओर से जंगल दिशा जाने की आज्ञा तक नहीं है। वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम में आ जा भी नहीं सकता। ये बातें वीर प्रभु ने साधुता के उद्देश्य के लिये कही हैं। साथ ही चारों तीर्थों को भी अपने ऊपर घटा लेना आवश्यक है। वय में बड़े ने अपराध किया है तब तो वह छोटे का अपराधी है न? उसके संबंध मे भी वर्णित है कि "साधु कहता है कि प्रभो! वह बन्दना न करेगा तो?" तब गुरु कहते हैं कि उसकी इच्छा हो तो वंदना करेगा न हो तो न सही परन्तु तू अपराधी है अतः तुझको तो अवश्य क्षमा मांगनी पड़ेगी। महाराज! यदि उससे क्षमा कराने जाता हू और वह मेरा अदब करके खड़ा न होगा (मेरा विनय न करेगा) तब? शरीर या आंख की चेष्टा न बतायेगा तो क्या करूंगा। गुरु बोले भाई! यह सब उसकी इच्छा पर निर्भर है परन्तु तुझे तो क्षमा मांगने अवश्य जाना चाहिये। महाराज! वह क्षमा न करेगा? अरे भाई! यह उसकी इच्छा पर निर्भर है परन्तु तू तो क्षमा मांग।

इसी भांति दो आदमियों का झगड़ा हो और आपस में मिल कर जीमने का अवसर आ जाय तो सगे भाई होने पर छोटा कहता है कि यदि वहां बड़ा भाई आयगा तो मैं न झुकूंगा। बड़ा कहता है कि छोटा आयगा तो मैं न झुकूंगा। साधु ने गुरु से पूछा कि महाराज! इतनी बड़ी कठोरता का व्यवहार आप हम से क्यों करते हो, गृहस्थों का जीवन तो देखिये आपस मे जरा भी मन नहीं मिलाते। तब गुरु उत्तर प्रदान करते है कि व्रत-प्रत्याख्यान-त्याग वैराग्य का सार यही है कि आत्मा से क्षमा का गुण

प्रगट हो, जिस प्रकार दही बिलोनेका सार मक्खन तथा घी पाना है उसी प्रकार त्याग और वैराग्य का सार क्षमा करना है। यदि क्षमा का गुण ही न हो तो चाहे जितनी साधना करे पर-उस-थोथी क्रिया का फल कुछ न मिलेगा। संयम का औपशमिक गुण सब में मुख्य है। उपशम भावही यदि नहीं है तो सब स्वांग और ढौंग है। महावीर प्रभु कहते है कि यदि तू मार खाकर भी क्षमा कर आया है तो वास्तव मे सच्चे क्षत्रिय का पुत्र है। क्षमा करने वाले को प्रभु वीर 'पुरुष' कहते हैं। दगा-प्रपंच करने वाला हो और उसके सन्मुख 'शठं प्रति शाठ्य' होने का प्रसंग बनता है तब उसे ज्ञानी कहते हैं कि शठ के प्रति भलों का सा बर्ताव कर।

मकोड़ा किसी समय गुस्से मे आकर देह के किसी भाग मे चिपट जाता है उसे छूने से भी वह काट खाता है। यदि उसका स्पर्श न किया जाय तो वह चला जायगा, परन्तु जब मुँह से जगह को पकड कर काटता है तब तो वह बीच मे से टूट जायगा मगर अपने लक्ष्य को नहीं छोड़ेगा। इतना क्रोध बढ़ा कर डंक मारता है। डसने वाला डक मारना नहीं छोड़ता तब उसे मकोड़े से कम भी कौन कहे। कीडी मकोड़ा अपना वैर नहीं छोड़ते जिन मे कि विचार शक्ति भी नही है यदि मनुष्य अपने जीवन के कर्त-व्यों और आचरणों को उनसे अलग न बनाये तो कीड़ी मकोड़ी से कम न समझे जाओगे। अतः अनन्त काल से भूल नष्ट करने का समय आता है उसमे वैर विरोध दूर करना चाहिये यह बड़ा राजा अपना पाप प्रगट करता है उसे यह मान नहीं है कि इसमे मेरी लघुता (हीनता) होती है।

सातवें प्रश्न का उत्तर

मुनि—राजन ! मसक में वायु भरकर तोला जाय और वायु को निकाल कर फिर तोला जाय तब क्या तोलमें कुछ अन्तर पड़ जायगा ? इस लिये कहा जाता है कि आत्मा तुलने वाली वस्तु नहीं है। यद्यपि वायु रूपी होनेके कारण उसमें भार रहना संभव है परन्तु आत्मा तो अरूपी है, उसमें भार कहाँ से आवे। एक मनुष्य सौ वर्ष तक पाप करता है परन्तु उसमें कुछ बोझ नहीं बढ़ता। यदि सौ वर्ष तक धर्म भी करता रहे तब भी बोझ न घटेगा क्योंकि आत्मा की पाप परिणति और धर्म परिणति कांटे में तुलने वाली वस्तु नहीं है। पहाड़ का चिंतवन करने पर आत्मा भारी न होगा, पानी-खार-तलवार आदि का विचार आने पर भी तद्रूप नहीं होता कारण अरूप वस्तु तुलती नहीं। इस लिये वायु के दृष्टान्त से यह निश्चय समझ कि आत्मा देह से अलग है इस लिये कि आत्मा अरूप वस्तु है।

राजा—महामुने ! मेरा सातवां कारण भी बुद्धि-बल से तोड़ डाला किन्तु अभी आठवां कारण और है। वह युक्ति आपकी बात को ठीक नहीं बैठने देती। सात प्रश्नोत्तर हो गये हैं और अब आठवें प्रश्न मे चर्चा का अन्त आने वाला है। राजा को धर्म की प्राप्ति होगी, उसे दृढ़ता से स्वीकार करेगा। यह स्वयं स्वीकार करता है कि आपकी बातें मान्य हैं, मगर अभी आठवाँ प्रश्न उपस्थित है, उसमे युक्ति और प्रमाण विद्यमान हैं जिससे आपकी बात मुझे नहीं जँचती। आठवें प्रश्न मे मुख्यतया तप और ज्ञान का प्रसंग है।

आठवां प्रश्न

राजा—सद्गुरो ! एक बार मेरा प्रधान नगर के आरोपी को राज सभा मे ले आया, जिस पर सच्चा अपराध लागू था आरोप का निर्णय हो जाने पर मैंने अपने मन मे सोचा कि लोग कहते है कि 'आत्मा है' तब जरा उसे अपनी आंखों से देख तो लू कि आकार प्रकार मे वह कैसी वस्तु है। इसी लिये उसके हाथ पैर आँख मस्तक पेट कमर आदि ध्यान से देखे परन्तु आत्मा कहीं भी दिखलाई न पडी फिर मैंने यह भी विचारा कि शायद आत्मा ऊपर के भाग मे न होकर अन्तर भाग मे ही हो, अतः क्यों न इसके अंग उपागों के टुकड़े ही करके देख लूँ । गुप्त रहा हुआ जीव अंदर के भाग मे अवश्य दीखेगा । यदि आत्मा अलग हो तो उसके कल्याण के लिये उसकी उन्नति के मार्ग पर अवश्य लगना चाहिये । इसी उपदेश से उसके दो टूक करके उनको ध्यान से देखा । हड्डी-चमड़ा-नस- नाड़िएँ आदि सब को उलट पलट करके देखा मगर आत्मा कहीं भी नजर न आया । दो टुकड़ों मे जीव न पाकर चार आठ १६×२=३२×२=६४ इस प्रकार दुगने करते करते लाखो टुकडों मे भी न देख पाया । यदि आत्मा को इन दो आँखों से देखा जाता तो अवश्य मान लेता कि हा त्मा है और मैंने खुद अपनी आँखो से देखलिया है । मगर महाराज ! क्या अर्ज करू मैंने तो हड्डी पसलिया तक पीस डालीं परन्तु आत्मा का देखना तो दूर कहीं पता तक न लगा अतएव कहता हूं कि मेरी मान्यता ही सत्य है कि आत्मा और शरीर अलग न होकर एक ही वस्तु है ।

ज्ञानी कहते है कि अनादि काल से यह जीव अपने स्वभाव

के भाव विना बाण शय्या पर भी सोता है कलाई में कीले ठोक-ता है, धुनी जला कर चमड़े को तापता है इत्यादि अनेक प्रकारसे शरीर को कदर्थना पहुंचाता है किन्तु आत्माका भान नही हुआ।

ज्ञानी कहते हैं कि सुवर्ण का मैल उसके टुकड़े करने से निकलता है या आग मे गलाने से ?। टुकड़े करने से मैल अलग होते किसने देखा है किन्तु गला कर रस करने से अलग होते सब जगत् ने देखा है। इसी प्रकार अनादि काल से अन्तर मे राग-द्वेष विषय वासना कामना रूपी मल अन्दर लगा पड़ा है उसे तपश्चर्या के द्वारा रस बनाकर धर्म के अनन्तर मोक्ष पुरुषार्थ से गला दे तो अलग हो जायगा। परमात्मा की स्तुति करते समय यह कहा जाता है कि "विहूय-रय-मला" प्रभो ! कर्म रूपी रज को आपने अलग कर दिया है। द्रव्य कर्म के चिपट जाने से एक प्रकार का रस बनता है फिर वही भाव कर्म मल बनता है अतः प्रभो ! आपने आत्मा के अशुद्ध भाव राग-द्वेष की परिणति को मिटा कर विशुद्ध सिद्ध पद को प्राप्त कर लिया ऐसे सिद्ध भगवान् को कहता है कि प्रभो ! रज मैल टाल कर आत्मा को आपने स्वयं शुद्ध किया है तब कर्म की धूल उड़ाये विना मेरी शुद्धि क्योंकर होगी ? जिस आत्मा का विभाव दोष के कारण बुरी तरह से रूपान्तरित हो गया है उसके टुकड़े किये जायं तो क्या वह मल नष्ट हो सकता है। किन्तु अन्तर से इच्छा निरोध करके कर्म रज को तपा दिया हो तो आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रगट हो सकता है।

जेम निर्मल रे स्फटिक रतन तणी, तेमज जीव स्वभाव।
श्री जिनवरे धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव॥

प्रबल कषाय क्रोध मान माया लोभ राग और द्वेष इन सबका

अभाव, वस यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्फटिक रत्न के समान है। पर अनादिकालीन परवस्तु के (कर्म मल के) मैल से अशुद्ध है। उन कर्मों से निवृति पाने के लिये तप रूप अग्नि की पूर्ण आवश्यकता है, इस अग्नि मे तपा कर रस कर डाले तो कर्म मल दूर हो सकता है। तपश्चर्या का विस्तार शास्त्रों मे वहुत किया है जिसमे वाहर की तपश्चर्या से तो मात्र शरीर ही तपाया जाता है जैसे वाहरी तप करते करते देह दुवल हो जाय तव और आदमी समझ जाते हैं कि कुछ तपश्चर्या की है उसे वाह्य तप कहते है और विषय कषाय राग-द्वेष कलह आदि को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध रूप से विकसित करने का नाम अन्तर तप है। वाह्य तप तो आत्म भाव के लक्ष्य के विना अनन्त काल से खूब करता रहा है परन्तु उस से आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं पहुचा तव समझो कि इस अवस्था तक मात्र वाह्य तपके आश्रयमे ही रहा है। यदि आत्मा मे अध्यात्म ज्ञान ध्यान प्रचड रूप से वढ़ता हो तो वह अन्तर तप होगा। इसके साथ ही शुद्ध देव गुरु धर्म का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना भी तपश्चर्या है जिसे पूर्ण श्रद्धालु मुमुक्षु ही प्राप्त कर सकते हैं।

भगवती सूत्र मे प्रभु ने एक स्थान पर यह फर्माया है कि वड़े भारी पाप कर्म का भार उपार्जन करके नरक मे गया हुआ जीव (नारक) एक हजार वर्ष तक अनन्त क्षुधा तृषा रोग शोक दुःख भय दाह ज्वर पर-वश आदि दश प्रकार का दुःख सह कर भी जितना लाभ (कर्म की निर्जरा) नहीं उठा सकता उतना लाभ मनुष्य जन्म मे अपनी निज की इच्छा से २४ घटे भूख प्यास आदि समभावसे सहकर पा सकता है, आत्महित के लक्ष्यमे करणीय तप के द्वारा ही यह लाभ प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। क्योंकि

इच्छा निरोध पूर्वक एक दिन का उपवास करे तब भी नरक की पराधीन अवस्था में किये गये १००० उपवासों से बढ़ जाता है, किन्तु जिसे किसी प्रकार का प्रगाढ़ व्यसन लग गया हो उससे उत्तम ध्यान पूर्वक एक उपवास का बनना भी कठिन है। जब सॉवत्सरिक उपवास करने का अवसर आता है तब कई दिन पहले ही कॅपकॅपी छूटने लगती है कि हाय! पर्यूषण पर्व आगये एक दो उपवास करना पड़ेगा, किस प्रकार भूख प्यास को सह सकूंगा। ऐसे उपवासों से प्राणी उपरोक्त लाभ को नहीं पा सकता। क्योंकि यह लाभ आत्मा के लक्ष्य में है। इसी रीति के दो उपवास करने पर नरक के दो लाख वर्ष के कष्ट और वेदनाएं कट जाती हैं। तीन उपवास ज्ञान पूर्वक करे तो नरक के करोड़ वर्ष के उपवास से अधिक लाभप्रद है जिसका वर्णन भगवती सूत्र मे विशेष रूप से किया है।

इस जीव ने पर वश होकर अनन्तकाल तक अनन्त कष्टसहन किये हैं। लोह के एरण के ऊपर से जिस प्रकार कोई वृद्ध मनुष्य भोंठे कुल्हाड़े से लोह की गुलझट को उखाड़ना चाहे और फिर चाहे जितने प्रहार करे परन्तु वह उलझन न उखड़ेगा। इसी तरह नारकीय जीव परवश होकर नारकीय वेदना सहकर भी कर्म के भार को नहीं उखाड़ सकता। ३२ वर्ष का नीरोग तथा बलवान् जवान जिस भांति पैनी परशु (कुल्हाड़ी) द्वारा थोहर की सूखी लकड़ी को छिलका उतार देता है इसी भांति स्वाधीनता से तप करने वाले कर्म को चूर चूर करके उड़ा देता है। भगवती सूत्र मे इस विषय पर कई उदाहरण दिये है। जैसे मजबूत गांठ वाली लकड़ी हो और उस पर लकड़ी के कई आंटे (फंदे-वेष्टन) आये हुए है जिसे भोंटे कुल्हाड़े से नहीं काटा जा सकता

इसी भाँति मनुष्य गति को छोड़ कर अन्य गति मे परवश होकर अनेक कष्ट सहकर कुछ भी निर्जरा नहीं कर सकता। क्षुधा आत्मा का स्वभाव नहीं है, जो वस्तु आत्मा के अपने स्वभाव के अन्तर्गत है वह उसमे एक क्षण को भी अलग न होगी। आत्मा का मूल स्वभाव तो ज्ञान है और वह कभी आत्मा से भिन्न क्षण मात्र को भी नहीं किया जा सकता। यदि अलग रह पाता तो आत्मा जड़ हो जाता। इसी प्रकार आहार भी आत्मा का स्वभाव नहीं है फिर भी विभाव दशा मे आत्म स्वभाव की निर्मलता के लिये अंतर मल काटने के हेतु एक उपवास करना भी भार रूप समझता है परन्तु डाक्टर के विश्वास पर ६१ दिन तक के लंघन करने मे भी आगा पीछा नहीं देखता। स्वाधीन दशा मे त्याग करने वाले के लिये जैसे सूखी घास आग मे पड़ते ही क्षण मात्र मे जल कर खाक हो जाती है, इसी प्रकार थोड़े से अन्तर तप (ज्ञान तप) से बहुत सा लाभ होता है। प्राणों को बनाये रखने की आशा मे ६१ दिन आहार करना छोड़ सकता है न? तब यदि आहार करना आत्मा का स्वाभाविक गुण होता तो ६१ दिन तो दूर ६१ घड़ी भी आहार का छूटना कठिन हो कर आत्मा को जड़ बना देता मगर इसे फिर दुहराया जाता है कि भूख प्यास सर्दी गर्मी आदि आत्मा के निज गुण नहीं है। इसलिये तपश्चर्या से शरीर और मन संबंधी लाभ मिलना निकट संभव है। बहुत से यह बात बिना सोचे समझे कह डालते हैं कि खाने को न मिलने पर ही उपवास कर लेंगे अभी क्या शीघ्रता है उन सज्जनों से मात्र इतना ही कह देना बस है कि भाई! आपसे मन वाणी और शरीरस्थ धर्म साधन न बन पड़े तो न सही परन्तु इस प्रकार धर्म का अनादर तो न करना चाहिये? साथ ही उपहास भी न करें जननी की

कुक्षि से जन्म लेकर कोई माई का लाल माता का ही मखौल करेगा ? कि माता तुझे श्रृंगार करना नहीं आता ? बाल बाहने तक नहीं सीखी हो ? क्या अभी से सठिया गई हो ? इस प्रकार की बाते किसी लड़के ने अपनी माता से कही हों यह कानों से अब तक नहीं सुना है। इसी प्रकार प्रवचन (भगवान् का सैद्धान्तिक उपदेश) भी माता स्वरूप है। समझदार मनुष्य को श्रेष्ठ ज्ञान का उपहास न करना चाहिये। आचारांग सूत्र में भगवान् ने कहा है कि हे गौतम ! बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जो हँसी-मज़ाक़ मे धर्म का उपहास करते हैं। कौतूहल वश खिल्ली उड़ाते हैं। लेकिन बुद्धिमान का कर्तव्य है कि ऐसे अज्ञानी की संगति कभी न करे। हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-पापादिका सेवन करके यह कहता हो कि देखा ऐसा आनन्द कहाँ मिलेगा। किन्तु वह यह नहीं समझता कि पूर्वकाल मे अन्तराय का बंध किया है जिस से नहीं मिलता और मुँह से कह कर अन्तराय डालेगा तो अगले किसी जन्म में बोलने के लिये जीभ भी न मिलेगी। यदि इस समय सब प्रकार से सम्पन्न हो तो इतना ही लाभ ले लो कि ज्ञानी के ज्ञान और धर्म का उपहास ही न करो।

जिस समय महावीर प्रभु ने साधु पद लिया था तब से लगा कर १२॥ वर्ष १५ दिन तक कम से कम दो उपवास से कम तप नहीं करते थे। उन्होंने अधिक से अधिक १८० दिन तक के उपवास किये थे। इसी से अखिल विश्व के चतुर आदमियों ने और स्वर्गीय इन्द्र तथा देवों ने मिल कर एक स्वर मे उनको वीर रस का स्वामी (नेता) कहा। उन्होंने आत्म-स्वभाव को निर्मल बनाने के हेतु कर्म-शत्रुओं को जला कर भस्मसात् किया, ऐसे वीर रस

के मुख्य-अधिकारी-तरुण तपस्वी-परम समर्थ पुरुष, महावीर परमात्मा ने भी इतनी दुर्धर्ष तपश्चर्या की है तब आज तो जितनी बन सके उतनी ही अधिक तपश्चर्या द्वारा अपने वीर्य (आत्मशक्ति) की परीक्षा करनी चाहिये, निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि को परखने वाला मनुष्य एक लाख रुपयों की पूंजी से दश लाख का व्यापार फैला सकता है। वह साहस में बढ़ कर वीर्य का वेग कितना दौड़ाता है, परन्तु धर्म में वेग बढ़ाने के लिये (या वेग बढ़ाने वाले का) उपहास करता है। भाई! यदि किसी का उपहास या अनादर करोगे तो बहुत दूर जा कर गिरोगे जहाँ तुम्हारे कराहने की आवाज़ तक भी किसी के कानों में सुनाई न पड़ेगी।

नव ग्रैवेयक में जब गया था तब अज्ञानवश बहुत कुछ किया था परन्तु आत्मा के लक्ष्य में एक पल के लिये भी कुछ करने को उद्यत नहीं है। यदि आत्मा के लक्ष्य में कुछ भी करे तो आत्म-स्वरूप में बहुत ही हलका होकर अनेकानेक गुणों को उत्पन्न करके आगे बढ़ सके मगर आत्मा को परखे बिना सभी कमियाँ रहती हैं। इसी कारण इस राजा ने शरीर के लाखों करोड़ों टुकड़े किये हैं और कहता है कि अब तक मैं जीव को देख नहीं सका हूं इसी लिये मेरी मान्यता सत्य है।

आठवें प्रश्न का उत्तर

मुनि—राजन्! तू निरा मूर्ख है, ७००० गाँवों की साहिबी भोगता है जिसकी मूर्खता इतनी बढ़ गई है कि लहू में हाथ सने रखता है, अब इस लिए मुनि ने उसे मूर्ख तक कहा है। आप को स्मरण होगा इस उपदेश के संबंध में पहले चित्त ने साफ कहा

था कि मेरे होते हुये चाहे जैसा उपदेश करदेना, कोई चिन्ता की बात न होगी, मैं सब समझ लूंगा। शायद इतनी सहायता मिलने की संभावना से ही नहीं किन्तु मुनि ने तो अपने स्पष्ट बोलने के स्वभाव के कारण उसे मूढ़ कहकर भी पुकारा।

तीन शत्रुओं का लक्ष्य

स्थानांगजी सूत्र के तीसरे स्थान मे तीन प्रकार के प्रत्यनीक कहे हैं। जैसे इस लोक का शत्रु, परलोक का शत्रु और उभय लोक का शत्रु।

इस लोक का शत्रु

जो अज्ञान भाव-देह भाव-मूढभाव से अपने ही शरीर को जला कर नष्ट करता है वह इस लोक का वैरी कहलाता है।

परलोक का शत्रु

हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन-क्रोध-कपट-माया मृषा आदि का सेवन करके इस लोक के क्षणिक सुख को भोग कर परलोक मे अनेक संकट सहने का जो कर्म समाचरण करता रहता है साथ ही इहलोक संबंधी शरीर की सब से अधिक अनुकूलता रखता है। शरीर की पूरी २ रक्षा की धुन मे भविष्य की अनुकूलता को चूकने वाला परलोक का वैरी है।

उभय लोक का शत्रु

कोई लुटेरा धन लूटने के लिये जाता है, दैव वश गोली लग जाती है, पैर से लंगड़ा होजाने के कारण सब के साथ नहीं दौड़ सकता जिस से पीछे रहकर गिर पड़ा और पकड़ा गया। दारोगा

के कुछ ही धमकाने तथा मार-पीट करने पर उसने सब साथियों के नाम बतादिये, तब सब को पकड़ मँगवा कर समान दंड दिया गया और उसे भी उनके साथ मार डाला गया। ऐसे कर्म वाले को उभयलोक का वैरी समझा जाता है।

राजन्! शरीर के टुकड़े बना कर आत्मा को चमड़े की आँखों से देखने वाला मूढ़ नहीं तो क्या है? बल्कि परले सिरे का तुच्छ-मूख है। ऐसा आत्मिक-बल का नमूना, यह सत्ताधारी विचार रहित पुरुष है, इस हित वचन गर्भित कितना कठोर शब्द कहा गया है। जगत् के लाखों मनुष्यों पर इनका प्रभाव पड़ता है। राजा के हित के कारण महाराज कितना गर्जन-तर्जन कर रहे हैं। क्योंकि इसे तो इसी जन्म में आत्मा का ठीक ज्ञान कराना है, यह भी आठवें प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' करने वाला है साथ ही अधिक से अधिक विशेष निर्मल होने वाला है।

राजन्! आत्मा के देखने की यह रीति नहीं जिससे स्पष्ट रूप से तू मूर्ख सिद्ध होता है। इस अवज्ञा के शब्द को भी इसने सह लिया, मन में कुछ भी रोष नहीं किया। साथ ही पराधीन होकर अनेक बार सहा है। बहुत से लोग जेलखाने का दण्ड भोगते समय कितनी कदर्थना और मान हानि सहते हैं। तब पराधीनता से सहना क्या कदर्थना नहीं है। स्वाधीनता से तो सहन करना न सीखा किन्तु पराधीनता से बहुत कुछ करता आरहा है। परदेशी को रीतिमें जो भी मिल गया हो उसे मूढ़ ही समझा जाता है क्यों कि उसमें आत्म दशा प्रगट करने का लक्ष्य नहीं है अतः वे मूढ़ से कम नहीं हैं।

राजा—हे प्रभो! आप मुझे मूढ़ कह कर तुच्छ शब्द से उपमा देते हैं, परन्तु मैंने ऐसी क्या मूढ़ता की है? कि जिससे

आपको इस शब्द का उपयोग करना पड़ा, इसने यह न कहा कि साधो ! मुझ ऐसे बड़े राजा को मूढ़ कहता है ? बल्कि वह तो सरल शब्दों मे ही पूछता है ।

मुनि—राजन् ! सात प्रश्नों में न्याय पूर्वक समझाने पर भी शरीर के टुकड़े बना कर आत्मा को देखने की बातें कहता है, क्या आत्मा के देखने का यह भी कोई ढंग है ? पर इतना कहने पर भी राजा ने अपनी स्वाभाविक सरलता भंग न की ।

प्रभुने कहा है कि चरित्र व्रत प्रत्याख्यान वैराग्य और अखिल शासन का सार उपशम है, क्रोध को शीतल करना, शांत होना, दुष्प्रकृति को बदलना यह सम्पूर्ण चरित्र और समस्त शासन का सार है । श्रावक-श्राविका तथा साधु साध्वीके साधनों का सार भी उपशम है । तप करने वाले के कर्म घटते है बढ़ते नहीं परन्तु लोग तो यह भी कहते सुने गए हैं कि आज तक इसके तीन चार उपवास हो गए हैं अतः इसे न बुलाएँ क्योंकि तपस्वी है, तपश्चर्या से इसका स्वभाव तीखा और क्रूर होगया है, जरा शोर न करो इन्हें कोपासुर आ जायगा परन्तु प्रभु तो कहते हैं कि क्रोध के तेज का फीका (मंद) पड़ जाना ही परम तप है । क्रोध के तीव्र होने का नाम तप नहीं है । तप करने से पहले जो मलिन प्रकृति थी वह तप करनेसे तीक्ष्णता न बढ़कर सुकुमार होजानी चाहिये । आत्मा के हित और लक्ष्य मे जो तप होता है तब प्रकृति नम्र हो जाती है तथा क्रोध और मान आदि दोष मिट जाते हैं परन्तु यदि इस से विरुद्ध भाव उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसकी रीति मे विकार (हेर फेर) है ।

सूयगडांग सूत्र के आठवे वीर्य नामक अध्याय मे वर्णित है कि तपश्चर्या करते करते मान महत्वकी लालसा बढ़जाय कि मुझे

लोग तपस्वी कहेंगे, सब डरेंगे, सब लोग चमत्कार को ही नमस्कार करते हैं, प्रसिद्ध हो जाऊंगा, अमुक लाभ होगा, यदि ऐसी इच्छाएँ हों तो उसके तप का कुछ भी फल नहीं है। मानो वह अपने शरीर को मात्र सुखाता ही है। चाहे कुछ पुण्य का उपार्जन करले किन्तु आत्मिक लाभ तथा कर्म की निर्जरा नहीं होती क्योंकि भौतिक पदार्थों में इच्छा हो तो उसमें क्या विशेषता है। शाण वाला जब शस्त्र को घिसता है तब जर उखड़ने पर उसी समय प्रकाश हो जाता है, इसी भांति कर्म का क्षय होकर कर्म प्रकृतिओं के झड़ जाने से आत्मा के गुण भी तुरन्त प्रगट हो जाते हैं।

राजा को केशी स्वामी ने उसी की बस्ती में समझाना आरम्भ किया और जरा मीठी चमक दिखा कर कुछ मूर्ख शब्द का प्रयोग भी कर दिखाया, साथ ही उसमें यह न्याय भी बतलाया है कि अपात्र शिष्य है और गुरु को क्रोध आगया तब वह कह डालेगा कि क्या आपकी बुद्धि नष्ट होगई है? किन्तु यदि पात्र शिष्य हो तो समझेगा कि २५ वर्ष होगए आज तक गुरु जी ने कभी कटुक और कठोर शब्द का उपयोग नहीं किया था: यह सब मुझको समझाने की रीति से मानो हित मित और मीठी भाषा का व्यवहार करते रहे हैं किन्तु आज मीठी और मृदु रीति को छोड़ कर कठोरता को ले रहे हैं शायद इसमें भी मेरा कुछ न कुछ हित ही है। क्या मुझमें कुछ अपात्रता की झलक प्रगट होगई है? तभी तो गुरुदेव इस रीति से बोल रहे हैं। ऐसे प्रकारान्तर से गुरु का दोष न समझ अपने अवगुण को [illegible] करेगा। संसार में भी सुपात्र लड़का कहता है कि अरे रे! मेरे पिता के मुख से किसी दिन कड़वी बात निकली हो यह सुना तक नहीं' परन्तु आज की गर्जना से प्रतीत होता है कि मुझ से कुछ भारी खोट बन गया है, शायद

आपको इस शब्द का उपयोग करना पड़ा, इसने यह न कहा कि साधो! मुझ ऐसे बड़े राजा को मूढ़ कहता है? बल्कि वह तो सरल शब्दों में ही पूछता है।

मुनि—राजन्! सात प्रश्नों में न्याय पूर्वक समझाने पर भी शरीर के टुकड़े बना कर आत्मा को देखने की बातें कहता है, क्या आत्मा के देखने का यह भी कोई ढंग है? पर इतना कहने पर भी राजा ने अपनी स्वाभाविक सरलता भंग न की।

प्रभुने कहा है कि चरित्र व्रत प्रत्याख्यान वैराग्य और अखिल शासन का सार उपशम है, क्रोध को शीतल करना, शांत होना, दुष्प्रकृति को बदलना यह सम्पूर्ण चरित्र और समस्त शासन का सार है। श्रावक-श्राविका तथा साधु साध्वीके साधनों का सार भी उपशम है। तप करने वाले के कर्म घटते हैं बढ़ते नहीं परन्तु लोग तो यह भी कहते सुने गए हैं कि आज तक इसके तीन चार उपवास हो गए हैं अतः इसे न बुलाएँ क्योंकि तपस्वी है, तपश्चर्या से इसका स्वभाव तीखा और क्रूर होगया है, जरा शोर न करो इन्हें कोपासुर छा जायगा परन्तु प्रभु तो कहते हैं कि क्रोध के तेज का फीका (मंद) पड़ जाना ही परम तप है। क्रोध के तीव्र होने का नाम तप नहीं है। तप करने से पहले जो मलिन प्रकृति थी वह तप करनेसे तीक्ष्णता न बढ़कर सुकुमार होजानी चाहिये। आत्मा के हित और लक्ष्य मे जो तप होता है तब प्रकृति नम्र हो जाती है तथा क्रोध और मान आदि दोष मिट जाते हैं परन्तु यदि इस से विरुद्ध भाव उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसकी रीति मे विकार (हेर फेर) है।

सूयगडांग सूत्र के आठवे वीर्य नामक अध्याय में वर्णित है कि तपश्चर्या करते करते मान महत्वकी लालसा बढ़जाय कि मुझे

लोग तपस्वी कहेंगे, सब डरेंगे, सब लोग चमत्कार को ही नमस्कार करते हैं, प्रसिद्ध हो जाऊंगा, अमुक लाभ होगा, यदि ऐसी इच्छाएँ हों तो उसके तप का कुछ भी फल नहीं है। मानों वह अपने शरीर को मात्र सुखाता ही है। चाहे कुछ पुण्य का उपार्जन करले किन्तु आत्मिक लाभ तथा कर्म की निर्जरा नहीं होती क्योंकि भौतिक पदार्थों मे इच्छा हो तो उसमे क्या विशेषता है। शाण वाला जब शस्त्र को घिसता है तब जर उखड़ने पर उसी समय प्रकाश हो जाता है, इसी भांति कर्म का क्षय होकर कर्म प्रकृतिओं के झड़ जाने से आत्मा के गुण भी तुरन्त प्रगट हो जाते हैं।

राजा को केशी स्वामी ने उसी की बस्ती मे समझाना आरम्भ किया और जरा मीठी चमक दिखा कर कुछ मूर्ख शब्दका प्रयोग भी कर दिखाया, साथ ही उसमे यह न्याय भी बतलाया है कि अपात्र शिष्य है और गुरुको क्रोध आगया तब यह कहडालेगा कि क्या आपकी बुद्धि नष्ट होगई है ? किन्तु यदि पात्र शिष्य हो तो समझेगा कि २५ वर्ष होगए आज तक गुरु जी ने कभी कटुक और कठोर शब्द का उपयोग नहीं किया अतः यह सब मुझको समझाने की रीति से मानो हित मित और मीठी भाषा का व्यवहार करते रहे हैं किन्तु आज मीठी और मृदु रीति को छोड़ कर कठोरता को ले रहे हैं शायद इसमे भी मेरा कुछ न कुछ हित ही है। क्या मुझमें कुछ अपात्रताकी झलक प्रगट होगई है ? तबही तो गुरुदेव इस रीति से बोल रहे हैं। ऐसे प्रकारान्तरसे गुरु का दोष न समझ अपने अवगुण की झांकी करेगा। संसार मे भी सुपात्र लड़का कहता है कि अरे रे ! मेरे पिता के मुख से 'किसी दिन कड़वी बात निकली हो यह सुना तक नहीं' परन्तु आज की गर्जना से प्रतीत होता है कि मुझ से कुछ भारी खोट बन गया है, शायद

इनके इस रूखे व्यवहार से मेरी अपात्रता छूट सके वरन् मेरा पिता इतनी कटुता फैलाने वाला तो न था। इस तरह अपने मन को समझा कर जो अपने दोष निकालता है वह नीतिकारों की दृष्टि मे क्षन्तव्य सिद्ध होता है। किन्तु जो अयोग्य अपात्र होता है वह तो गुरु के दोषों की ही ताक-झांक करता रहता है।

राजा को यह अनुभव हो रहा है कि मुनिराज मुझे कठोर शब्द कह कर किसी तुच्छ गुण वाले के जोड़ मे बिठला रहे हैं, इन्होंने मुझ मे कुछ अवगुण देखे हैं, तब ही तो मधुर भाषियों वाली रीति छोड़ कर कटुक रीति से सुधारना चाहते हैं परन्तु आप स्वयं कठोर नहीं हैं। मुझे सुधारने के लिये आपको दारुण शब्द के कहने का मार्ग लेना पड़ा है। लोगों मे जैसा मूढ़ और तुच्छ होता है उसी तरह का मुझे कहा है मात्र इसका यही एक कारण है। इस प्रकार अपनी भूल का स्मरण करता हुआ विनय पूर्वक मुनि के पास अपनी तुच्छता का उदाहरण मांग रहा है।

राजा—सद्गुरो! मुझे इसका उत्तर सुनने की बड़ी उत्कण्ठा है, मुझे मूढ पुरुष की उपमा क्यों दी है? देखिये कितनी सरलता है। नगर मे प्रवेश करने के भी चार द्वार होते है। यहां आतम शुद्धि नगरके द्वारोंमे पहला द्वार सहिष्णुता (क्षमा) है। क्षमावान् तत्व को समझते समय क्रोध नहीं करता। कड़ए शब्दों के संबोधन से भी उसका मस्तक न तपेगा। जिज्ञासु की पात्रता का आरम्भ यहीं से होता है। अगले मे दोष देखने का ज्ञान तीखे (पैने) आदमी मे होता है सरल मे नहीं। इसलिये वह प्रवेश करने का अधिकारी नही क्योंकि शान्त और सुकुमार प्रकृति बनाए विना तीनकालमें भी धर्मको पाने का अधिकार नहीं होता। सम्यक्त्वी

को छोड़ कर जो मनुष्य तीखी प्रकृति का होगा वह अपने मुंह पर यही शब्द लायेगा कि देखिये मुनि ने परदेशी को न कहने योग्य मूढ़ शब्द तक कह दिया, परन्तु जो पात्र या सरल है वह तो यह गुण लेगा कि देखिये न ७००० ग्रामोंके राजाको मूढ़ कहा जाने पर भी रोष न आया यह कितनी सरलता है। इस घटना को सुनने वाला भी अपनी प्रकृतियें निस्संदेह मंद कर डालेगा। उसे राजा की भांति क्षमा शान्ति का गुण उत्पन्न करना होगा जिसकी अतर दशा प्रगट हो गई है ऐसा वह अलौकिक भावुक राजा मुनि की योग्यतासे प्रेरित होकर सन्मार्ग पर आने वाला है। 'राजाको यह क्यों कहा' इस पर न जाकर उसका लक्ष्य परदेशी की तरह सहन करने का होना चाहिये।

मुनि—राजन्! बहुत से लकड़हारे लकड़ियें बेच कर निर्बाह करने वाले बावना चंदन की तलाश मे वन मे गये। साथ ही आग को भी लेते गये। उनमे से एक को रसोई तैयार करने को कहा और उसे यह भी निश्चय करा दिया कि तुम्हें हम सब अपनी कमाई का अमुक भाग भी देंगे। यदि आग बुझ जाय तो इस अरणी के डंडे मे से निकाल लेना। इतना कह वे सब वन में चले गये। इधर इसके पास की आग दैवयोग से बुझ गई तब इसने अरणी की लकड़ी को उलट पलटकर बहुत कुछ देखा मगर आग उसकी नजर मे न पड़ी। उसने यह तर्क भी की कि शायद इसके अन्दर भरी हो इसी ख़याल से डंडे के दो टुकड़े बना डाले परन्तु आग न निकली। चकमक और अरणी मे आग होती है मगर उसके खंड खंड करने से नहीं निकलती। यहां इसने बहुत से खंड बनाये फिर भी आग तो न निकली। इसी बात पर विचारा निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि इसमे से

आग न निकली, सांझको वे सब थकेमांदे आयेंगे, तब वे बेचारे क्या खायेंगे। डंडे की हठको तो देखो आग ही नहीं निकालता, वे सब भूखे रहेंगे। इसी चिन्ता मे सांझ होगई और इधर वे भी लकड़िये लेकर आगये। [महावीर प्रभुकी २७ भवकी बातें शास्त्रों में आती हैं परन्तु समवायांग सूत्र में छ भव का वर्णन मिलता है। वहां वर्णित है कि छठवें भवमें पोटिल नामी अणगार(साधु) थे। उस समय उन्होंने करोड़ों वर्ष तक चरित्र (संयम-साधन) का पालन किया था। १८ पापों को सर्वथा त्याग दिया था। गृहस्थ आश्रम की वृत्ति को छोड़ कर आत्मा की शुद्धावस्था रूप भूमिका में जाने के लिये साधु पद का अनुभव और अभ्यास आरंभ किया। साधु पद मे बड़ी दुर्धर्ष तपश्चर्या की। शरीर को दमन कर आत्मा को अपने वश किया जिससे आठवें देवलोकमें पैदा हुए। तीसरे भव में नन्द राजा के गांव मे राजा हुए वहां उन्होंने १ लाख वर्ष तक सच्चरित्र की साधना की। प्रति मास उपवास मे बिताते थे। यानी एक मास मे एक दिन आहार करते थे। आयु के अन्त तक यही क्रम जारी रक्खा। ११ लाख से अधिक मासोपवास किये। प्रभु ने उसी भव में तीर्थंकर नाम गोत्र उपार्जन किया नन्दराज के भव मे आप माण्डलिक राजा थे लेकिन आपने त्याग की तो पराकाष्ठा कर दी।

ऋषभदेव भगवान् पहले से तीसरे भव में एक सार्वभौम-चक्रवर्ती थे। चौवीस तीर्थंकरो मे से भगवान्-ऋषभदेव तीसरे जन्म मे महा विदेह क्षेत्र सबंधी चक्रवर्ती भी हुए उन्हो ने तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र उपार्जन किया तब वे साधारणसे माण्डलिक राजा थे। ऋषभदेव प्रभुने तीर्थंकरप्राप्ति तथा जगद्गुरुका विरदचक्रवर्ती के भवमे उपार्जन करलिया था तब उन्हे १४ पूर्वका ज्ञान भी था

और २३ तीर्थंकरों ने यही फर्माया है कि जब तीर्थंकर नाम गोत्र अर्जन किया था तब उन्हें ११ अंग का ज्ञान था। महावीरप्रभुने आठवें देवलोकसे निकलकर नन्द-राजकुमार के भवमे एक लाख वर्ष तक साधुपर्याय पालन किया था। मासोपवास के पारणक पर मासोपवास करते रहे थे जिसे पहले कहा जा चुका है। यदि आहार थोड़े समय के लिये छोड़ा जाय तो वह तीन काल मे छूट जायेगा परन्तु आत्मा के गुण क्षण मात्र तो क्या तीन काल मे भी जुदे नहीं होते। जिस वस्तु के विना क्षणमात्र नहीं रह सकता उस वस्तु के विना तीन काल मे रह सकता है डाक्टर के कहने से जीवित रहने का लक्ष्य बांधकर ६१ दिन का लंघन खींच सकता है इसी प्रकार स्वभव की जागृति के लक्ष्य मे छः छः और १२-१२ मास की तपश्चर्या भी पूरी की जा सकती है।

ऋषभ-भगवान् के समय मे १२ महीने की उत्कृष्ट तपश्चर्या थी और वह महावीर प्रभु के समय मे उत्कृष्ट तपश्चर्या छ मास की रह गई। नन्द राजकुमार ने मुनि बनकर ११ अग का ज्ञान और तीर्थंकर नाम गोत्रका सम्पादन किया, वहाँ से च्यवन होकर चौथे भव मे चतुर्थ देवलोक मे जन्म लिया। वहा से काल करने के अनन्तर देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न हुये। इसके अनन्तर त्रिशला रानी की कुक्षि से जन्म लिया। यह छठवाँ भव था। वीर प्रभु ने त्याग-वैराग्य के कितने सधान साधे थे? करोड़ तथा लाख वर्ष का चरित्रचयन-उग्र तप- घोराति घोर साधन-अनन्त क्षमा-अनन्त सरलता-महा निर्लोभता इत्यादि अनन्त गुणों की वृद्धि से त्रिशला की कुक्षि-से तीर्थंकर रूप मे जन्म प्राप्त किया। आप तीस वर्ष गृहावस्था में रहे, उस से पहले दो वर्ष तक ठंडा पानी पीना छोड़ दिया। फूलों की शय्याका त्याग किया। ब्रह्मचर्य

व्रत मे अनुरक्त रहते थे। रात में कभी भोजन न किया। इस प्रकार साधुजीवन अंगीकृत करने से पहले २८ वें वर्ष से अपनी वृत्ति पर कितना काट तथा अधिकार रख छोड़ा था। रसादिक मनोहर स्वाद सब एक दम कम कर दिये। अपने नाचे से सुखशैय्या को तो निकाल ही डाला। इतने कार्य तो गृहस्थाश्रम में ही आरंभ कर दिये।

आचारांग सूत्र के आठवें अध्याय मे वर्णित है कि महावीर प्रभु के दीक्षा के अवसर पर शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने दोनों ओर खड़े रह कर हाथ से चवँर हिलाये, चन्दन का विलेपन किया, उन्होंने पहने हुए वस्त्रालंकारों को उतार कर यह कहा कि "आजसे न करने योग्य १८ पापों का सेवन कदापि न करूंगा।" यह कह मस्तक के सुंदर तथा नर्म नर्म बालों का लुचन कर दिया। दूसरी बार फिर घोषणा की कि मैं किंचिन्मात्र भी पाप न करूंगा" यह शब्द वायु मण्डल मे व्यापक हुआ ही था कि इंद्र ने यह घोषित किया कि देव गण! श्रीमान्-जगद्गुरु-जगन्नाथ-ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु सर्वथा त्यागी होगये हैं जिन का कि हम उत्सव मनाने आए है, अतः सब मनुष्यो से कहो कि वे बोलना बंद करके मौन धारण करें। यह कहना ही था कि नाटक-तमाशे-बाजे और आदमियो का कल-कल-रव तथा किन्नरों का हँसना एक दम बंद होगया। इंद्र ने फिर कहा कि अब की बार सब के सब महानुभाव शांत हो जाओ जिस का कि महोत्सव करने हम आये थे वे अब सन्त होगए। संसार को त्याग कर परम त्यागी-वैरागी होगए हैं। अब उनका कौटुम्बिकजनों से कोई संबंध नहीं रहा। भगवान की आवाज पर सब चित्र लिखित से होगए। जिस प्रकार चित्र नहीं हिलता उसी भांति देव और मनुष्य परिषद्

स्थिर तथा शान्त होगया। प्रभु पुण्य के पुंज हैं, धर्म के साक्षात् अवतार हैं। सत्य की प्रतिमूर्ति हैं। अहिंसा भगवती की प्रत्यक्ष छाया हैं। ६४ इंद्र पैरों मे लोटते हैं, चित्ताकर्षक और सरस पुण्य के पिंड है। ऐसे ऐसे महापुरुषों को भी साधु पद स्वीकार करना पड़ा तब ही इन्हें आत्मज्ञान (केवलज्ञान) हुआ। पाप का सर्वथा त्याग किये विना मुक्ति कहां पड़ी है ? असंख्य देव तथा करोड़ों मनुष्यों को इस प्रकार महापुण्यात्मा प्राणी के संयम लेते समय विस्मय हुआ है। प्रभु वहां से उसी दम वायु की तरह अप्रतिबद्ध होकर चले गये। यह अभिग्रह भी स्वीकार किया कि चाहे कितना भी उपसर्ग [परिषह] क्यों न उत्पन्न होगा उसे समभाव तथा निर्विकल्पता से सहन करूंगा। यह नियम १२ वर्ष और ६॥ मास तक पालन किया, यही काल उन की छद्मावस्था का था। एक बार प्रभु का इंद्र से कुछ संवाद इस प्रकार छिड़ा।

इन्द्र—भगवन् ! आपको मनुष्य अथवा पशु उपसर्ग करने आयेंगे उन्हें मना करने के लिये आज्ञा हो तो किसी देव को श्री चरण की सेवा में रहने को कहदूं। वह उपसर्ग के समय उसका निवारण किया करेगा और आपको कष्ट से बचायगा।

ज्ञात पुत्र महावीर—इन्द्र ! मेरी अशुद्धि के द्वारा आत्मा मे आवरण पड़े है। वे किसी देव या तेरी सहायता से मिटने वाले नहीं है। इसी लिये मुझे तेरी या किसी अन्य देवादि की सहायता की आवश्यकता नहीं।

इन्द्रों ने चन्दन का विलेपन किया था जिसकी सुगंध बहुत दिन से उनके सुकुमार शरीर में रमी हुई थी, हजारों भ्रमर गण आने लगे और चदन की गंध तथा शीतलता का मीठा आनँद लेने लगे। इस चंदन में इतनी ठंडक है कि सौ मन तेल गर्म

किया हो तथा उसमे एक बूंद इस गोशीर्ष चंदनकी डालदी जाय तो वह तेल खौलना बंद होकर एकदम वर्फसा ठंडा पड़ जायगा। इसी का आनन्द लेने के हेतु भ्रमर गण तथा मक्खी मच्छर डांस आदि आने लगे और शरीरमे छेद बनाने लगे, उस समय प्रभुने विचार किया कि शायद मेरे हिलने डुलनेसे कहीं ये जीव दुःखित न हो जायँ इस भाव से उन्होंने अपना शरीर स्थिर कर लिया मगर वे जीव तो शत्रु की तरह लहू मास चूसते थे और उनके शरीर को अपना निवास गृह बनाना चाहते थे। यह कष्ट प्रभु ने चार मास तक सहन किया किन्तु समभाव और शान्ति का क़तई भंग न होने दिया।

एक बार अनार्य देश मे विचरते थे तब वहा अनार्य लोगों ने महान् से महान् कष्ट दिये, उनकी अवज्ञा तक करने लगे, उनके पीछे कुत्ते भी लगाए; वे पिंडली और जंघा का मांस काट कर खाते थे, उस उपसर्ग के समय प्रभु के मस्तक और नाक पर शल्य भी न पड़ता था, इतनी अधिक सहनशीलता थी। मस्तक मे बल पड़ जाय तो समझो कि क्रोध आगया तथा नाक पर गुलझट पड़ना तो स्पष्ट समझा कर बता देगा कि मात्र कायरता से कष्ट सह रहा है। यदि कष्ट काल प्रतिकूल पड़े तो समझो कि आर्तध्यान मे से परिणाम गुजर रहे हैं। परन्तु आत्मा के समभाव का कारण जिस अवस्था से होता है वह एकान्त निर्जरा का कारण है। प्रभुने १२॥ वर्ष १५ दिन इसी प्रकार तक घोर तप करके सिर के सॉटे केवल ज्ञान प्राप्त किया बस फिर तो चार अघातिया कर्म ही रह गये जो कि देह की अन्तिम स्थिति तक रहते हैं।

वीर रस

वीर परमात्मा ने अनुयोग द्वार सूत्र मे वीर रस का वर्णन किया है वह नवरसों मे वर्णित है अर्थात् मनुष्य की तन्मयता नव प्रकारकी है जिसमे श्रृङ्गार रसका वर्णनभी है परन्तु वह रस उत्तम नहीं है। कौतूहल वृत्ति की रति (अनुराग) होने को श्रृङ्गार रस कहते हैं। वह नवीन कर्मों के उपार्जन करने का कारण है इसी लिये इसे अच्छा नहीं समझा गया।

वह वीर रस चार स्थान पर उत्पन्न होता है, वीर रस सब मे अग्रेसर भी है, आत्मा की उग्रवृत्ति से इसकी उत्पत्ति होती है, लेकिन शरीर के वीर्य की बात यहा नहीं है प्रत्युत आत्म पदार्थ मे जो वीर्य है जो कि आत्मा का मुख्य गुण है, उसके सम्बन्ध मे प्रभु फर्माते हैं कि,

वीर्य पणुं ए आत्म ठाणे, जाण्यु तुम ची वाणे जी।
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पिछाने जी॥
(आनन्दघन जी)

हे कृपानिधान ! हे वीरता के मालिक ! आपने जिस वीरताकी स्फुरणा की है उस वीरता का आपने कहां से वर्णन किया ? शरीर मे नहीं, मन मे नहीं, वाणी मे नहीं बल्कि अखण्ड प्रदेशी आत्मा मे वीरता का स्थान बतलाया। प्रभो ! आपकी वाणी द्वारा सुना तो है लेकिन उसे समझा कैसे जाय ! ध्यान की एकाग्रता के प्रमाण से वीर रस का उदय होता है, प्रभो ! यह वीर रस आत्मा के स्थान मे विराजित है और आत्मा के असख्य प्रदेशों मे से ही प्रगट होता है, भगवन् ! आपने यह स्वयं प्रतिपादन किया है।

काम वीर्य वसे जेम भोगी, एक आत्मा भोगी जी।

सूर पणे आतम उपयोगी, ए कहिए अयोगी जी ॥

(आ० घ०)

वीरत्व का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि जैसे हाड़ चाम और केश का उपभोग करने वाला कामी जिस प्रकार काम भोग मे अनुरक्त रहता है और फिर वह वीर्य को नहीं पा सकता इसी प्रकार जिसने आत्मा के गुणों से प्रेम प्रगट किया है वह पराक्रम की स्फुरणा किए बिना नहीं रहता। यही समझ कर तन्मयता से भोग लेता है। आनंद घन योगी कहते है कि जिस प्रकार वह शरीर के वीर्य के भोग की प्राप्ति मे काम भोग के अन्तर्गत तन्मय हो जाता है इसी भांति आत्मभोगी वीर्यवान आत्मा मन वचन काय के योग को त्याग कर अयोगी बनता है इसी रीति से वीर रस चार स्थानों पर उत्पन्न होता है।

उत्तर—पहला वीर रस शत्रु से बदला लेने के लिये उत्पन्न होता है। राजसत्ता-धारी या धनिक पुत्र अपना रक्षण करने के लिये वे बदले मे दूसरे का मस्तक काटकर बदला लेते हैं। वे यह प्रण भी कर डालते हैं कि यदि मेरा शत्रु न मरेगा तो मैं ही मर जाऊंगा, लोगों को बदला लिये बिना क्या मुंह दिखलाऊंगा। यह कह कर शत्रु से वैर लेने के लिये उग्रता से वीर रस उत्पन्न करता है किन्तु इस प्रकारका वीर रस संसार सागरमें रुलाने वाला है। कहीं अपना ही राज्य जाता है या दूसरे का राज्य लेते समय भी वीर रस को बड़ी उग्रता से उत्पन्न करता है। रानियां भी तिलक करके कहती हैं कि अपना मस्तक दे देना परन्तु हारकर मत आना। माता और बहनभी यही कहती हैं कि हारकर आयगा तो हम मुंह दिखाने योग्य न रहेंगी। यह वीर्य की कितनी उमड़

है ! संसार के ध्येय से मस्तक तक कटवा डालता है परन्तु यह विलोम रस है और यह वीर रस का पहला कारण है।

त्याग में वीर रस

धर्म कार्य में स्फुरणा करने के तीन स्थानहैं जिनमें पहिला स्थान 'त्याग' है, त्याग के लक्ष्य और उसके कारण से त्याग करना वीर रस को प्रगट करता है। ७० वर्ष की आयु मे प्याज या लहसुन जैसी तुच्छ वस्तु के छोडने का अवसर आजाय तो हजार बार आगा पीछा देखना पड़ता है परन्तु त्याग के समय वीर रस प्रगट करदेता है। वीर रस प्रगट होने पर किया हुआ त्याग टिकाऊ होता है। त्यागी के यहां सब से प्रथम वीर रस प्रगट होता है। बड़े और ऊँचे महलों मे रहता हो, फूलों की कोमल शय्या पर सोता हो स्वादु तथा मीठे भोजन खाता हो, पर यदि उसे वीर रस की प्राप्ति हो जाय तो संसार को छोड़कर धर्म को स्वीकार कर लेता है। ज्ञानी कहते हैं कि वीर रस में ओत प्रोत होकर अखंड-व्रत का पालन करता है साथ ही प्रणका पालन करने के लिये प्राणों की बाजी भी लगा देता है। प्राणों की पर्वाह तक न करके व्रत को निभाने मे सारा ही बल खर्च देता है 'यह श्रेय वीर रस को ही प्राप्त है। परन्तु वीर रस के त्याग के विना सब कुछ रूखा सूखा है। त्याग करते समय वीरता होगी तभी त्याग भाव मे टिक सकेगा वर्ना नहीं। त्याग का आशय है आत्मा का आनन्द आत्मा का विकास-आत्मस्थिति का आश्रय-सत्य का आश्रय आदि, परन्तु जहां त्याग नहीं है वहां पराश्रय-दु.ख-क्लेश-भ्रमणा-आकुलता-भ्रष्टदशा-पतित अवस्था आदि से वेष्टित रहता है।

जैसे कोई अफीमची अपनी पुत्री से बड़ा प्यार रखता था

कालान्तर में वह कालगत होगई तब अफीमची कहता है कि आह ! मुझे वह कितनी प्रिय थी, उसका बड़ा ही सहारा था, तो भी उसके बिना जीवित रह सकता हूं लेकिन अफीम के बिना जीवित नही रह सकता। उस प्रिय पुत्री का मुख भी चाहे देखने को न मिले परन्तु अफीम न मिलेगा तो उस दिन प्राणों को भी न रख सकूंगा यानी उन्हें खो दूंगा। इस तरह जगत् के घोर पदार्थ बलात्कार छूट सकते है तब शरीर के बंधन क्यों न छूटेंगे। बहुत वर्षों का बंधन भी ऐसे कारणों से छूट गया तब वीर रस की सहायता से क्या २ नही छूट सकता। वीर रस के समुद्भूत होने पर आत्मा की जाग्रति मे त्याग वाली वृत्ति बड़े वेग से आ सकती है। कन्द मूल रात्रि भोजनादि के बंधन त्याग वृत्ति पूर्वक वीर रस आने पर किसी भी उपाधि का छूटना कठिन नहीं। छह खंड के स्वामी चक्रवर्ती राजा को क्या अर्ब खर्ब की सम्पत्ति पसंद नहीं आती ? राज्य लक्ष्मी काम भोग वैभवादि क्या उन्हें अच्छे नहीं लगते ? फूलो की सुकुमार शय्या क्या उनको नहीं भाती ? पर असल बात तो यह है कि त्याग वैराग्य के रस मे वीरता होने के कारण उपरोक्त बाते गौण और फीकी लगती हैं।

एक बार महावीर भगवान् एकान्त मे तप कर रहे थे, उत्तम आत्म विचार के ध्यान मे मगन थे, इतने मे बाहर से किसी ने आवाज़ दी कि यहां कौन है ? प्रभु ने उत्तर दिया कि मै 'भिक्षुक' हूं, पर यहा भिक्षुक का आशय मांगने वाले से नहीं है बल्कि कर्म का तनाव तोड़ने वाले निष्काम जीवी से है। शरीर के निर्वाह के अर्थ निर्दोष आहार लेने वाले भिक्षु में और मंगते भिखारी मे बड़ा अन्तर है। यदि आज किसी को जोगना कहा जाय तो उसे कितना बुरा लगता है, मन ही मन कटता है और क्रोध की आग

मे जल कर ढेर हो जाता है परन्तु यहा तो तीन लोक का नाथ स्वयं कहता है कि भाई ! मै भिक्षु हूं । आत्मा की श्रेणी अपने वश मे रहने के कारण भिक्षुक कहते समय इन्हें अब शर्म क्यों आने लगी । त्याग करते समय आनंद जो आया है अतः त्याग करने मे प्रभु वीर रस का होना परमावश्यक बताते हैं । यह त्याग का पहला कारण और वीर रस का दूसरा भेद हुआ ।

तपश्चर्या में वीर रस

सच पूछो तो तपश्चर्या वीर रस आए विना होती ही नहीं । एक दिन एक रात के लिये आहार का त्याग देना भी वीर रस से सम्बन्धित है । जिस से एक घड़ी के लिये भी पान-बीड़ी न छूटती हो यदि उसे २४ घटे निराहार बिताने हों तो वह वीर रस की सहायता से ही इतना त्याग कर सकता है परन्तु उपवास के अगले दिन पारणक करने के समय व्याकुल होकर दूध-ठंढाई और दाल-चावल खाने मे विलम्ब होने के कारण घडियें न गिनेगा जिसे यह सौभाग्य प्राप्त हो वह वीर रस की कृपा है ! धन्ना नामक अणगारने यावज्जीवन-पर्य्यंत के लिये बेले बेले पारणक करने का प्रत्याख्यान किया था । उसके दर्शन करके बिम्बिसार-श्रेणिक राजा का चित्त बड़ा ही प्रसन्न हुआ था, एक बार महावीर प्रभु की वन्दना करके उसने पूछा कि भगवन् ! आप के १४००० मुनिराजों मे घोर तपस्वीराज कौन है ?

प्रभु—श्रेणिक ! सन्तों में धन्ना अणगार भी है । किसी समय वह धनाढ्य का पुत्र और शरीर से सुकुमार था परन्तु अब बेले२ पारणक करता है । पारणक मे नीरस और रूक्ष पदार्थ ग्रहण करता है । आहार या पानी मिले या न मिले अथवा ज़ो कुछ भी

मिले उसी में सन्तोष करके अगले दिन फिर बेला तप धारण कर लेता है। इसे यह चिन्ता नहीं है कि इस प्रकार मेरा जीवन निर्वाह क्योंकर होगा। वीर रस में ऐसी विकल्पता फटकने तक नहीं पाती। मन का योग समुल्लसित रहता है। इतनी साधना वीरता के बिना क्योंकर बन सके, अतः तपश्चर्या वीर रस पाये बिना नहीं हो सकती।

आदिनाथ भगवान् ने ३६० उपवास व्यवधान रहित किये थे, पूरे बारह-महीने व्यतीत होने पर आहार मिला था फिर भी समभावका भंग न होने दिया। यह तप वीर रस की जाग्रति में हुआ है जिस से इनके मन में किंचिन्मात्र भी वैषम्य नहीं आया। वीर रस के स्थान में तप भी धारण करे तो चार चाँद लग जाते हैं। तप का पूर्ण अधिकारी वीर रस के उत्पन्न होने पर समस्त क्रियाओं में स्थिर हो जाता है।

दान में वीर रस

इसी प्रकार दान करते समय भी वीर रस आता है। अपनी अनुकूल सुविधाएँ छोड़कर-अपने को संकट में डाल कर भी किसी जीव को अभयदान प्रदान करना वीर रस है। मुनि मेघकुमार ने हाथी के भव में स्वयं कष्ट सह कर भी अन्य प्राणी की रक्षा की। इस प्रकार का अत्युत्कट वेग पैदा करके वीर रस को प्रगट किया। साथ ही सुपात्र को दान करना भी वीर रस है। उत्साह-प्रमोद और निराकांक्ष भाव से दान देना मनुष्य जन्म को सार्थक एवं सफल करना है। यह समझ कर सुपात्र को दान अर्पण करते समय भी वीर रस का वेग बढ़ता है।

परन्तु जो आत्मा के हित के मार्ग से अनभिज्ञ है ऐसे जीवों

के तीन टुकड़े बन जाते है जैसे-मूढ़-मूढ़तर-मूढ़तम आदि। मूढ़ से मूढ़तर कुछ विशेष है। मूढ़तर से मूढ़तम परिपूर्ण मूढ़ता युक्त है। इसी कारण केशीमुनि ने परदेशी राजा को मूढ़तर कहा है। तथा उस से भी विशेषाधिक तुच्छ कहा है।

मुनि—राजन्! तेरी तुच्छ बुद्धि है, तैंने आत्मा का अन्वेषण करने के लिये औरों की देह के खंड खंड कर दिये परन्तु आत्मा न दीख पड़ा। आत्म-ज्ञान की श्रेणी के विना अन्यान्य कारणों द्वारा उसे जानने की जिज्ञासा करे तो वह आत्मा को क्योंकर जान सकता है। आत्मदर्शन-आत्मसाक्षात्कार-आत्म ज्ञान-आत्म साधन आदि तो अन्तर से ही हो सकते हैं। तथापि बाह्य क्रिया का निषेध अकर्तव्य है। ज्ञानी जनोंने क्रिया से कर्म उपयोग से धर्म-परिणाम से बोध पाना बतलाया है। ज्ञानी पुरुष आगम का भेद समझा कर यह भी कहते हैं कि कानके विकार को वशमे लाने के लिये उसमे बालियें डाल दीं। आखें वशमे न आई तो कीली मार कर फोड़ डालीं। नाक वश मे न आया तो उसे बींध कर नाथ पहना दी। हाथों को वश मे लाने के लिये भारी कड़े पहन लिये, किन्तु ये सब बाहर की क्रियाएँ थीं और इस रीति से बाहर की क्रियाओं से अन्तर की श्रेणी प्रगट नहीं होती। अन्तर श्रेणी को प्रगट करने के उपाय कुछ और ही हैं।

राजन्! तू मूढ़ पुरुषों की अपेक्षा तुच्छ बुद्धि है। राजा यह सुन कर बहुत ही नर्म पड़ गया और बोला कि मुने! आप ने मुझे जिस मूढ़ शब्द की उपमा दी है तब क्या कुछ ऐसी कोई बात भूल की होगई है? आप मुझे मूढ़तर-तुच्छतर कह रहे हैं, तब मेरी भूल को भी बताएँ। जिसके उत्तर मे मुनि ने लकड़हारों का हेतु देकर बताया कि मूर्ख लकड़हारे ने अरणी की लकड़ी के टुकड़ेर करने

पर भी अग्निको प्राप्त न कर सका। इसके उदास होकर बैठने का यही कारण है। वह सोचता है कि वे सब भूखे आयँगे उन्हें खाने को क्या दूगा। इतने मे वे सब भी आगये उन मे एक मनुष्य बड़ा ही चतुर है, वह ऐसी रीति से बोला कि जिस से औरों को अशान्ति न आवे। इसे इन भूखों का अनादर भी नही करना है, इस बुद्धिमान् ने अपने साथियों से कहा कि भाइओ ! तुम सब स्नान कर आओ, मै अभी भोजन तैयार किये देता हूं। लोगों का यह कहना भी है कि खाली पेट न लडना चाहिये, शायद कड़वे शब्दों का आदान-प्रदान करते समय कुछ नया कार्य न कर बैठे। अत एव कहने लगा कि तुम जाओ और मै रसोई तैयार करता हूं। यह कह दो अरणी के टुकड़े लेकर उन्हें आपस मे घिस दिया जिस से उस में एक दम आग प्रगट होगई। तदनन्तर रसोई बनाई सब को भोजन कराया और आराम से बैठ गये फिर उस चतुर पुरुष ने उसे उपालंभ देकर कहा कि तू निरा जड़-मूर्ख है, अविद्या युक्त तथा विज्ञान रहित है। क्या हम लकड़ी मे आग भरगये थे जो टुकड़े करने से निकल पड़ती। पर यह उलाहना उन्होंने भोजन जीमने के बाद दिया।

राजन् ! उस लकड़हारे के समान टुकड़े करके तू भी तो आत्मा को देखने लगा था न ! क्या इस प्रकार आत्मा दीख पड़ेगा ? हठयोग-नौलीकर्म-नेतिधौति या किसी बाहरी कष्ट आदि से आत्मदर्शन या आत्मज्ञान नहीं होता।

सूय-गडांग-सूत्र के १२ वें समोसरण नामक अध्याय मे फ़र्माया है जिस का सारांश यह है कि जीव अनादिकाल से कर्म के आने के मार्ग (आस्रव) से क्रिया और कर्तव्य अथवा हिंसा और पुण्यके परिणाम द्वारा (चाहे वे पुण्य और पापके ही परिणाम

क्यों न हों) जब तक आस्रव आता रहता है तब तक जीव कृतकर्म का क्षय नहीं कर सकता।

कर्म-रहित अबंध-स्वभाव मे ज्ञान ध्यान की श्रेणी के द्वारा आत्मा धीर-वीर और गंभीरता मे विकास करता है। उस मे उस के अन्तरंग ज्ञान लक्ष्य-गत निर्मित कर्म को जीव भोगता हुआ नवीन कर्म का अवरोध करता है। कर्म रहित भाव से पुराने कर्म क्षय कर देता है, कुछ बाह्य क्रिया द्वारा कर्म घट नहीं जाते। कार्मण-शरीर की कोथली को जहां तक जला कर नष्ट न कर दिया जाय वहां तक कर्म नष्ट नहीं होंगे प्रत्युत नवीन नवीन शरीर होते ही रहते हैं। नवीन कर्म न आने की श्रेणी द्वारा धीर पुरुष पुराने कर्म क्षय करके आत्मा की शुद्ध-अवस्था को प्रगट करता है वही बुद्धिमान् और विचारशील है। ज्ञानी कहते हैं कि वे ही अन्तरात्मा को अन्तर श्रेणी से शोध कर पाते है।

राजन्! तेरे समान और लकड़हारे होते तो वे भी बाह्य श्रेणी से, बाहर की करणी द्वारा चाहे जितने टुकड़े करते तथापि आत्मा को शोधित करके प्राप्त नहीं करसकते। आत्माके ज्ञानसे ज्ञान श्रेणी निकालने पर ही आत्माका अनुभव हो सकता है। मगर अन्तरात्मा के लक्ष्यके विना बाह्य क्रिया करने वाला आत्माकी विशुद्ध दशाको नहीं पा सकता। अशुद्ध-परिणति को मिटाकर शुद्ध परिणति प्रगट करने वाला ही बुद्धिमान है। आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ मेरे नहीं है। आत्मा शुद्ध-स्फटिक की तरह निर्मल है इस के विना मेरा अन्य क्या है? आत्म स्वरूप मे सतोप प्रगट करने वाले पुरुप भव-भ्रमण मे सतत रूप से रुलाने वाले पुरुप नवीन कर्म का उपार्जन नहीं करते।

लकड़हारे ने लकड़ी के टुकड़े२ बना डाले किन्तु आग अलग

होकर न निकली। परन्तु चतुर पुरुष ने उसे संघर्ष के बल से प्राप्त कर लिया। इसी भांति जब तक अन्तर से राग-द्वेष कषाय आदि को घिसकर आग को अलग न करदे तब तक आत्मा भिन्न रूप में न दीखेगा।

राजन्! लकड़हारे के समान तुझे तुच्छ और मूर्ख तक कहने का कारण यही है। × × ×

आचार्य भगवान् ने धार्मिक कार्य करने के आठ दिन बतलाए हैं। इसमें धर्म साधन करने के लिये अवकाश पाना चाहिये। यह धर्म वस्तु भाव स्वरूप है, ज्ञान-दर्शन-चरित्र आत्मा का मुख्य स्वभाव है। धर्म भाव धर्म के अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव को मान देता है। पर्यूषण धर्म के अनुकूल काल है। वास्तव मे ये वैसे भी महान् दिवस समझे गये है। 'निशीथ सूत्र में' प्रभु ने मुनिओं को सावधान करते हुए फर्माया है कि! हे भिक्षुओ! पर्यूषण काल में यदि पर्यूषण की क्रिया न करे और दिन का परिवर्तन करदे तब उसे चार मास का प्रायश्चित आता है इसे सब प्रकारसे अपनी स्मृतिमें रक्खे। धर्म साधन करने के लिये यह महान् पर्व है इसी लिय इतनी दृढ़ता की बात कही है। पर्यूषण के दिन धर्म साधन न करे तब भी प्रायश्चित्त और यदि पर्यूषण का दिन न हो और फिर करे तब भी वही प्रायश्चित्त। इस दिन में यह माहात्म्य समाया हुआ है कि "उस दिन छठवाँ आरा समाप्त होकर पहले आरे का आरंभ होगा" और दोनों आरों में वनस्पति का नाश हो जायगा। यों ही गंगा सिधु नदी के किनारे पर थोड़ी सी वनस्पति रह जायगी। अधिकाश मनुष्य पशु आदि मांस खाकर समय वितायेंगे। गंगा सिधु नदी के विल (गुफा) में मनुष्य निवास किया करेंगे छठवें और पहले आरे मे धर्म और

उसके साधकों का नाम मात्र नहीं है। किसी समय के पिछले कारण से कदाचित् किसी आत्मा मे धर्म का अंश प्रगट हो जाना संभव है मगर नीति धर्म राजधर्म आत्मधर्म आदिकों में से कोई धर्म न रहेगा। शायद कोई धर्मको पा भी जाय परन्तु बहुलता से प्रायः अभाव ही रहेगा। इन आरों मे पृथ्वी पर अग्नि आदि की वर्षा होने के कारण पृथ्वी राख के समान रूक्ष और गर्म होकर धधक उठेगी। सिद्धान्त के नियमानुसार श्रावण वदी १ को वर्तमान आरे के १८॥ हज़ार वर्ष वीतने पर पहला आरा चढ़ेगा। छठवें आरे के २१००० वर्ष तथा पहले के २१००० वर्ष व्यतीत होने पर फिर श्रावण वदी १ को दूसरे आरे का आरंभ होगा। इसमे सात दिन वर्षा होने पर भी जमीन राख जैसी ही रहेगी परन्तु उसमे कुछ सुधार और परिवर्तन अवश्य होगा जितना मेघ पड़ेगा ज़मीन मे उतनी ही सरसता बढ़ जायगी। इस प्रकार ७-७ दिन के दो तीन मेघ वरसेंगे जिससे भूमि शीतल हो जायगी। दो सप्ताह वंद रह कर तीन सप्ताह वर्षा रहेगी। इस प्रकार ४९ दिन का क्रम सिद्धान्त मे समझाया है। इन दिनों मे वह भस्म जैसी भूमि भी दूध तथा इक्षु रस जैसी रसवती बन जायगी फिर तो सब प्रकार की वनस्पतिएँ खूब होंगी। लगातार ४२००० वर्ष तक मास खाने वाले मनुष्य गुफा से वाहर निकल पड़ेंगे। हरी भरी वनस्पतिएँ देख कर वहुत से चतुर मनुष्य मांस न खाने का निर्णय करेंगे। वे यहाँ तक कहेंगे कि हम मास खाने वाले की छाया मे भी न रहेंगे। न उसे अपने मंडल मे ही वैठने देंगे। पर्यूषण काल की विशेषता यही है कि वह धर्म का काल स्थापन करने के लिये उस दिन लोगों मे से अनार्य वृत्ति को हटा कर आर्य वृत्ति मे ओत प्रोत करने मे सिद्ध हस्त होगा। वनस्पति और

फल फूलों को देखकर लोगों में आर्य वृत्ति का उद्भव होगा। ×××

बहुत से लोग इस दिन को ऋषि पंचमी भी कहते हैं और जैन कहते हैं पर्यूषण पर्व। जाति आर्य कुल आर्य चरित्र आर्य भाव आर्य क्षेत्र आर्य भाषा आर्य ज्ञान आर्य दर्शन आर्य शिल्प आर्य व्यापार आर्य आहार आर्य वेश भूषा आर्य सहयोग आर्य संस्कृति आर्य रहन सहन आर्य इत्यादि आर्य इसी कारण कहलाते हैं। आर्य वृत्ति के प्रगट होने पर मासाहार त्याग दिया। यह भी आर्य वृत्ति स्वाभाविक या प्राकृतिक रूप से जागृत हो उठी। वह जमीन के रस से वनस्पति के फूल फल आदि पदार्थों को देख कर परम्परा से अनार्यों को भी एक दिन आर्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। तब हमारे आचार्य आज भी पर्यूषण पर्व के दिन भाव आर्यता प्रगट करने की याद दिलाते हैं। जिस दिन चन्द्रमा की सोलह कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं उसी दिन पूर्णिमा होती है। सोलह कला समृद्ध होकर खिल उठने के लिये चन्द्रदेव ने सौभाग्य से एक दिन अर्थात् पूर्णिमा को ही पूर्णत्व प्राप्त किया है। इसी प्रकार सिद्धान्त के अनुसार श्रावण कृष्णा १ को युग आरंभ होता है और उसी दिन विलोम एव विकृत सांसारिकों की आर्य वृत्ति जागृत होती है। इसी लिये मुनिओं के लिये निशीथ सूत्र मे प्रभु फर्माते हैं कि यदि साधु उस पर्यूषण पर्व के दिन चावल के कण जितना भी आहार करे तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। उस दिन आर्य वृत्ति और अन्तर मे से आत्मा को जगाकर बाहर की सुश्रूषा को हमेशा के लिये छोड़ते हुये सर्वथा आत्मा के समीप में निवास करना है। उस दिन आत्म स्वभाव का तो रमण करता है। क्योंकि द्रव्य क्षेत्र काल भाव भी व्यावहारिक दृष्टिसे ही बतलाए गये हैं।

हे मुने ! उस दिन मस्तक के बालों का लुंचन न करे तब भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। किये गए अपराध का दंड ग्रहण करने को प्रायश्चित्त कहते हैं। इस पर्यूषण पर्व के दिन वैर विरोध छोड़ कर नम्रता पूर्वक अन्य के अपराध की शुरुआत होने पर भी उसे क्षमा देकर अनुकूलता से उस दिन को सफल करना चाहिये। इस प्रकार तीन काल के आचार्यों ने इस दिन का निर्माण इसी भांति किया है। विवाह के अवसर पर भी तीन चार दिन का उत्सव मनाया करते हैं इसी रीति से पर्यूषण पर्वाधिराज का भी आठ दिन का मण्डप होता है।

× × × × ×

परदेशी राजा ने भी केशी मुनि से आठ प्रश्न पूछ कर प्रतीति की है। लकड़हारे का हेतु देकर कहा कि राजन् ! तू भी मूढ़ और तुच्छ है। आत्मा में भाव अग्नि अर्थात् अन्तर श्रेणी उत्पन्न करनी है तो बाहर के दिखावे मात्र के लिये यह क्रिया कांड किया जाय तब तो इससे कोई लाभ नहीं तथापि बाह्य क्रियाओं का सर्वथा निषेध भी नहीं है फिर भी शरीर की अपेक्षा आत्मा की शुद्धता को प्रगट करने के लिये भेद द्वारा अशुद्धता को मिटा कर अन्तर श्रेणी की सुविशेष शुद्धि करनी चाहिये तथा आत्मा के विशुद्ध करने का मार्ग यही है।

आचारांग सूत्र के १५वें अध्याय में वर्णित है कि अरे मुने ! तुझ में इतनी शक्ति भी नहीं है कि कान में शब्द न आये ! मगर कानमें डाट लगानेसे तो वे विकार वशमें न होंगे। वे तो राग-द्वेष पर विजय पाने के अनन्तर ही वश होते हैं। निन्दा और प्रशंसा के शब्द कान में पड़ें तब राग और द्वेष तनिक भी न कर। शौच भूमि जाते समय या कार्य वश विचरते समय प्रतिकूल शब्द

कानमे आपड़ें तो कान मे क्या डाट लगाता फिरेगा। नहीं नहीं मुनियों का तो यही कर्तव्य है कि अनुकूल अथवा प्रतिकूल शब्द कानमे पड़ जायँ तब भी राग-द्वेप न करे।

हे मुने! आखें फुड़वा कर अन्धा बन जाने से आंखों का विकार नहीं जा सकता। बल्कि आंख के बिना तो दया का पालन करने से भी रह जायगा। आखें फूटने से मात्र स्त्री का रूप नहीं देख सकता परन्तु इसके अन्तर मे रहने वाला विकार कैसे जा सकता है। असली मार्गको तो न पकड़े और मात्र आंखें ही निकाल डालने मे लाभ समझना जड़ताके अतिरिक्त और कुछ नहीं बल्कि टुकड़े २ करके आत्मा को देखने वाले जैसा मूर्ख है। यों आँखें फुड़वाने पर आत्म गुण प्रगट न होगा। यदि अनुकूल वस्तुको देख कर राग न आता हो तथा प्रतिकूल वस्तुको देखकर द्वेष न होता हो तब समझो कि आत्म गुण प्रगट होने की पूरी आशा है। साथ ही पांच इन्द्रियों के विकार मे भी इसी भांति की विरागता रख।

प्रथम सुदृष्टि सौं शरीर रूप कीजे भिन्न,
तामैं और सूच्छम शरीर भिन्न मानिए।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोऊ कीजे भिन्न,
ताहूमें सुबुद्धि को बिलास भिन्न जानिए॥

(बनारसीदास)

आत्मा देह से भिन्न है इसे इस प्रकार समझने के लिए इन्द्रियों को फोड़ने से तथा टुकड़े२ करने से आत्मा प्रगट नहीं होता। बल्कि सबसे पहले अपनी दृष्टि को निर्मल कर तथा श्रद्धा पूर्वक आत्मा को शरीर से भिन्न समझ। इतना स्मरण रहे कि आत्मा इस देह से निकल कर जब अन्य कोठड़ी में जायगा तब कार्मण शरीर तो साथ ही रहेगा परन्तु वह अपना नहीं है, १५८

प्रकृतिएँ कर्म की हैं इसी लिये यह समझ कि यह शरीर मेरा नहीं है। इस प्रकार कार्मेण-शरीर के संबंध मे इतना कहना चाहिये।

× × × ×

पूर्व जन्ममे उत्पन्न किए हुए भावकर्म के राग-द्वेष मेरे स्वभाव से कुछ संबंध नहीं रखते। कारण ये जन्मान्तरमे बुरे अभिप्राय से उपस्थित किये हुये भाव हैं। वास्तवमे मेरा स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन और चरित्र ही है भाव कर्म के संबन्ध मे यह बात है।

जो संकल्प विकल्प के द्वारा यह मानता है कि यह स्वरूप मेरा है, यह नहीं है, बल्कि मेरा स्वरूप तो सम्यक् ज्ञान है। क्रोध मान-माया-लोभ-विषय-कषाय-असुर शरीरादि अपवित्र तथा कलुषित करने वाले है। इनसे आत्मा अपवित्र होता है परन्तु मेरा स्वरूप पवित्र और अकलुषित है। इस प्रकार भेद विज्ञान से भेदन करे तो विकल्प जाल से एकदम छूटे। इस प्रकार से कई कोटिएँ अलगर बतलाई हैं।

कार्मेण शरीर राग-द्वेष के कोष संबन्धी आधार से होता है योंही नहीं होता। औदारिक शरीर से इसकी उत्पत्ति नहीं है। हां अलबत्ता राग-द्वेष उत्पन्न होने का स्थान भूत कार्मण शरीर ही है। आत्मा के शुद्ध भाव मे तो विकार का लेश मात्र भी नहीं है। यह विकार भाव तो कार्मण शरीर से उत्पन्न होता है। इस निर्णय पर आकर समझो कि कलुषित भाव मेरा नहीं है। इस प्रकार भेद के द्वारा विकल्प जाल को दूर कर क्योंकि शुद्ध ज्ञान में विषय-वासना व्याकुलता या कालुष्य नहीं है।

प्रथम भेद-ज्ञान होने मे श्रुतज्ञान होता है, मतिज्ञान के ऊपर अनेक तर्क होते हैं। ज्ञानस्वरूप चेतन अखंड मात्र है। ज्ञेय भेद से ज्ञान मे कोई भेद नहीं पड़ता है, जानने के भेद से अरूपी पन

के ज्ञान स्वरूप आत्मा का प्रवाह छूटने पर निर्विकल्प अरूपी स्वभाव आत्म स्वरूप मे ही प्रगट है शरीर के टुकड़े करने से नहीं क्योंकि अज आत्मा ज्ञान-गोचर है इन्द्रिय गम्य नहीं। इसे साक्षात् प्रगट करने का यह क्रम है। प्रथम औदारिक शरीर को अलग करो फिर कार्मण शरीर को पृथक करो तदनन्तर विकल्प जाल को अलग करो, फिर सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर आत्मा का भान होगा इसी से आत्मा की प्रतीति होगी।

केशी मुनि ने परदेशी राजा से कहा कि जिस प्रकार अरणी की लकड़ी के खंड२ करने से अग्नि को नहीं देखा जा सकता इसी भांति शरीर को टुकड़े करने से आत्मा भी आंखों द्वारा नहीं दीख सकता। ठीक ही तो है अन्तःध्यान की श्रेणी प्रगट किए बिना आत्मा कैसे देखा जाय। इस लिए राजन् ! तुझे मूढ़ कहा है इसके अतिरिक्त राजन ! पत्तो को हिलाने वाले वायु को भी तो आँखों से नही देखते।

राजा—मुने ! आप अतिशय चतुर हैं आपके लिये यह युक्त भी है आप प्रतिष्ठा प्राप्त महापुरुषो मे से हैं लाखों करोड़ों धार्मिक पुरुषों मे आपकी प्रतिष्ठा अवाच्य है। आप तीक्ष्ण बुद्धि हैं। अवसर के जानने वाले महाज्ञानी निरभिमानी और विनयवान्‌भी आप ही हैं। विज्ञानी अर्थात विशेषतया धर्म प्राप्त हैं तो भी प्रभो! इस महती सभा मे मुझे मूढ़ और तुच्छ कहते हुए आप शोभित हैं। यह कहकर अत्यन्त लज्जित होकर नत मस्तक होगया। + +

(१) ज्ञानी वही है जो खेत मे बोता है।

(२) अज्ञानी अक्षेत्र मे फेंकता है।

(३) एक क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों मे बोता है।

(४) एक क्षेत्र या अक्षेत्र इन म से कहीं भी नही बोता। × ×

चार प्रकार के मेघ

(१) एक मेघ क्षेत्र मे वरसता है और ऊषर भूमि मे नहीं वरसता।

(२) एक मेघ ऊषर क्षेत्र मे वरसता है परन्तु क्षेत्र मे नहीं वरसता।

(३) एक मेघ सुन्दर खेत और ऊषर क्षेत्र दोनों मे वरसता है।

(४) एक मेघ न खेत मे वरसता है न ऊषर की भूमि मे।

इस राजा के विवेकी हृदय की भूमि सुदर क्षेत्र के समान है और केशी मुनि इस भूमि को उचित क्षेत्र समझकर ज्ञान का बीज वो कर शिक्षामृत वरसाने वाले सजल मेघ के समान हैं। ये मुनि राज कहते हैं कि राजन्! रमणीय होकर विचरना। तव राजा भी आखें पोंछ कर कहता है कि भगवन्! अब मैं अरमणीय होने वाला नहीं। अब यशके स्थानमे अपयश न लूगा, प्रभो मैंने आत्मा को खूब जाना और पहचाना है। भदन्त! मेरी वड़ी अपकीर्ति होती थी, मैं पापी और अधर्मी के नाम से प्रख्यात था, इसी कारण मात्र मेरा अपयश ही गाया जाता था परन्तु अब आपकी कृपा से मेरी काया पलटा खाती है। किन्तु सर्व साधारण आत्मा यह क्योंकर जान सकेंगे कि मैंने देह से आत्मा को अलग मान लिया है साथ ही उन्हे कैसे विश्वास होगा कि मैं उस मार्गका अनुसरण करूंगा जिससे आत्मा के सर्वोपरि मोक्ष सुख की ओर चलते समय औरों को मेरे पहले और पिछले जीवन सम्बन्धी वर्ताव मे अन्तर मालूम दे, इसे असली जामा पहनाने के हेतु अपने राज्य के चार भाग किये देता हू।

७००० ग्राम मेरे अधिकार मे हैं, जिस मे १७५० ग्रामों की

आमदनी दानशालाओं में अर्पण करता हूं। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसका आत्मा व्यवहार दृष्टि से अधर्मी था निश्चय से अधर्मी नहीं, तब ही तो बाहरी काली छाप के धब्बे मिटाने के लिये एक भाग दानशाला के लिये निकालता है। धर्म का स्वरूप समझने के अनन्तर जैसा सम्यक्त्व धारक का ज्ञान होता है वैसा ही केवली भगवान् का ज्ञान होता है, भेद भिन्नता की बाड़ हटजाती है यह है चतुर्थ भूमिका की स्वीकृति। इसी प्रकारका ज्ञान १४वें गुणस्थान मे भी है क्योंकि आत्माके ज्ञानकी जाति एक है। यह राजा ज्ञान के प्रसंग में ज्ञान और धन दोनों का सदुपयोग कर रहा है। मुनि ने यह भी स्मरण कराकर टकोर सी करदी है कि देखना राजन्! अब रमणीय होकर फिर अरमणीय न हो जाना, इस संदेश को सार्थक करने के लिए यह घोषणा कर रहा है कि,

(१) एक भाग दानशाला के लिये समर्पित।

(२) एक भाग अन्त:पुर के लिये।

(३) एक भाग राज्य-कार्य के अर्थ।

(४) एक भाग भविष्य और प्रजा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कोष मे सुरक्षित है। इस भाँति चार भाग करदेगा। पहले परदेशी था पर अब स्वदेशी-स्वावलम्बी बनने के लिये यह बोध पाया, केशी मुनि ने भी क्षेत्र मे वर्षा बरसाई है, अर्थात् परदेशी जैसे योग्य पात्रको कितना उत्तम ज्ञान दिया है।

(१) महान् लाभ का कारण देखकर क्षेत्र में ज्ञान देने वाला पहला वर्ग है।

(२) एक क्षेत्र मे न देने वाला दूसरा वर्ग है बल्कि वह तो अक्षेत्र में अर्पण करता है।

(३) क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों मे ही न देने वाला।

(४) क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों मे ही प्रदान करता है।

(१) मेरी प्रशंसा होगी इसलिये अक्षेत्र मे भी प्रदान करता है।

(२) क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों मे इस कारण से देता है कि वह ज्ञानी है और हेतु को समझ कर अर्पण करता है।

(३) यह इतना अधिक समझता है कि धर्म का द्वेषी अमुक व्यक्ति है अतः इसे महाबंधन के करने को देना चाहिये क्योंकि यदि उपकार के भार तले ऐसे को दबा दिया हो तो कभी विपरीत न बोलेगा।

(४) ये महाज्ञानी होने के कारण क्षेत्र या अक्षेत्र आदि मे नहीं देते। समय पर प्रसंग को समझाए विना नहीं रहते मगर वर्षा जिस प्रकार यथा समय होती है असमय नहीं, इसी प्रकार का बर्ताव इनका भी है। भाल प्रदेश मे आश्लेषा की वर्षा की भाँति ये प्रशंसनीय होते है। × × × × ×

(१) काल मे वर्षा होती है अकाल मे नही।

(२) अकालमे बरसता है जैसे खेत पक जाने के समय वर्षा आती हो अर्थात् उचित समय पर वर्षा न होती हो।

(३) काल और अकाल दोनों मे न बरसता हो यानी आशा दिखा कर बादल बिखर जाता हो।

(४) काल और अकाल दोनों समय वर्षा होती हो।

इस प्रकार चार प्रकार के मेघ उदाहरण से चार प्रकार के मनुष्यों की जाति इस प्रकार है।

इन अवतरणों से यह सिद्ध है कि विवेकी और विचारवान् व्यक्ति बहुत कम मिलते है। लोग यह भी कहते है कि इसके हाथ तो खून मे रगे रहा करते थे, ऐसे परदेशी के साथ ये क्यों

वार्ता ... कर रहे हैं परन्तु ये तो अवसर के जाता है। जहां २ प्रसंग और समय के अनुसार थोड़ा या अधिक प्रमाण में कुछ न कुछ लाभ होता है।

(१) एक वर्ग ऐसा भी है जो समय को देख कर समय पाते ही बरस जाता है। यथा समय कुछ न कुछ थोड़ा बहुत होने से सन्तोष होता है।

(२) दूसरा वर्ग कुसमय बरसता है, जैसे कोई मनुष्य अपने नौकर से कहता है कि सिगार लाओ, वह हाथ बांधकर कहता है कि इस समय एक भी सिगार नहीं बचा। इतना सुनकर मालिक ५०० रुपयों के नोटों का बंडल फेंककर बोला कि जाओ अति शीघ्रतासे ले आओ इस प्रकार धनको पानी के मोल बहाकर पी गया। परन्तु क्या इस व्यवहार को उदारता कहा जा सकता है बल्कि इसे तो मूर्खता कहे विना न रहा जायगा। पाई पैसे से जहां काम निकल सकता है वहां ५००की होली करना उदारता तथा बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। प्रसंग को पहचाने विना इस प्रकार उदारता दिखलाने वाला उड़ाऊके लक्षणों से अलंकृत समझा जाता है। समय और पात्र को समझकर प्रसंग में व्यय करने वाले से थोड़ा बहुत लाभ का कारण बन सकता है। उदारता भी वही कहलाती है।

(३) अकाल में भी वर्षा होती है। जैसे धार्मिक प्रभावना उत्साह जागृति और वात्सल्य आदि के उद्देश्य से अकाल असमय में भी द्वेषी का मुख बंद करने के लिये की जाती है।

(४) जो काल या अकाल में कुछ भी न करता हो इस प्रकार चारों कारण ज्ञानियों द्वारा वर्णित है। परन्तु इनके उपरान्त पांचवां कारण नहीं बन सकता। इसे प्रत्येक मुमुक्षु बांधव अपने ऊपर सोलह आने पूर्णता से घटाने का प्रयत्न करें। × × ×

इस प्रकार मुनि ने कटु शब्दों की वर्षा भी की है। तथा इस का स्पष्टीकरण मुनिराज कुछ विशेष रूप से इस तरह करते हैं। × × × आठवें प्रश्न के उत्तर को पा कर राजा धर्म रत्न को प्राप्त कर चुका है। राजा धर्म का रहस्य सुनकर आत्म-स्वभाव को पवित्र एवं निर्मल करने के अनन्तर ज्ञान व क्रिया के अनुसन्धान मे भी लग पड़ा है। संसार के भोगों से इसका मन और राग उतर गया। इधर रानी भी विषयादि अनुकूलता न रहने के कारण उन्हें विष देने का प्रयास करती है। इसे निश्चय होगया कि यह राजा अब मेरे काम का न रहा, इसी कारण अपने राजकुमार को बुला कर कहती है कि पुत्र! तेरा बाप धर्मी बन गया, अब वह राज्य-कार्य मे भाग नहीं ले रहा है अत किसी प्रयोग से मार ही डाल तथा राज्य को तू स्वीकार कर। साथ ही समस्त राज्य पर अपना अधिकार जमा ले।

राजकुमार—माता पिता परम उपकारी होते हैं, उनकी सदैव मुझ पर कृपा और प्रेम की पूर्ण दृष्टि ही रही है, उन्होंने मुझे सब प्रकारकी अनुकूलताएँ दी है हाय! हाय! क्या अब मैं उन्हें जरावस्था मे जरा से स्वार्थ-साधन के लिये मार डालू। मैया! यह दुर्वृत्ति तुम मे क्योंकर उत्पन्न हुई? 'बहुत गई थोड़ी रही' इस लोकोक्ति के अनुसार कुछ समय के अनन्तर यह राज्य मेरा ही तो है। मैं राजद्रोह-पिता द्रोह-विश्वासघात कृतघ्नता आदि के पापसे कलंकित होना कभी न चाहूगा।

माता—(स्वगत) मेरे लड़के ने भी मेरी बात न मानी, मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया। गुप्त-रहस्य चार कान से फूटकर भी निकल सकता है। न जाने इस भंडाफोड़के पीछे मेरा कितना अनिष्ट छिपा है। यदि इसके मुह से मेरा रहस्य भेदित होगया तो 'राजा

को तो मैं जानती हूं' वह तो बड़ी क्रूर प्रकृति का और निरा कुटिल मनुष्य है। न जाने मेरी कैसी दुर्गत बना कर मारेगा। इस लिये जहां तक हो सके शीघ्र ही विष देकर अपने हाथ से मैं ही क्यों न मार डालूं। इस प्रकार से तो यह मामला मुझ तक ही रहेगा राजाका अंत और मेरा कष्टसे उद्धार दोनो कार्य एकसाथ हो जायँगे, फिर न रहेगा बांस और न बजेगी बंसरी। + + +

राजा के कपड़े-जोड़े-अन्न-पानी-निवासस्थान-शय्या-आसन-पान-सुपारी-कत्था-चूना-मुखवास-तैल-जूता-खड़ाऊँ-आदि सब मे विष ही विष, प्रत्येक वस्तु मे अनुमान से अधिक विष, विष से अछूत कुछ नही छोड़ा। + + +

राजा १३ वे बेले का पारणक करने जाता है, उसे यह ज्ञात होगया है कि प्रत्येक वस्तु विष पूर्ण है, फिर भी निःसंकोच सब वस्तुओं का उपयोग किया। यहां तक कि यह विष क्रिया जूतो तक मे भी की गई है। राजा को भोजन करते समय यह ध्यान आया कि रानी ने मुझे इस लिये विष दिया है कि मैं इस के लिये विषय सेवन करने की दृष्टि से अब निकम्मा होगया किसी काम का न रहा अतः इस ने स्वार्थ वश अपना सोचा किया किन्तु अब मैं भी तो अपना विचारा ही करूंगा न? जब इस ने अपना दुष्ट-स्वार्थी-क्रूर और घातकी स्वभाव न छोड़ा तो मैं अपना उत्तम स्वभाव क्योंकर छोड़ दूं, इस का यही स्वभाव है कि इस की आवश्यकताएँ अपूर्ण रहने के कारण मै इसे बुरा लगने लगा। जो जगत् का स्वभाव है वही इस का भी है। जगत् से इसका स्वभाव कुछ नवीन या निराला नही है। इस ने मुझ से कोई निराला या विलक्षण सलूक नहीं किया। सब कुछ अपने स्वभावानुसार किया है अधिक कुछ नहीं। ज्ञानियों का स्वभाव

है कि इस समय दुःख और कष्ट का स्वागत किया जाय। इन स्वकृत आपदाओं का मैं भी आह्वान करूं। यद्यपि राजा का स्वभाव बहुत समय से कठोर या क्रूर रहा है चाहे तो रानी को थोड़ी सी देर मे ठिकाने लगादे पर राजा को इस विषय मे दृढ़ विश्वासहै कि यह मेरा स्वभाव नहीं, मैंने अब अपना मूल स्वभाव प्रगट किया है। मुझे अपने आत्म-स्वभाव मे स्थिर रहना चाहिये। यहा सन्यासी और विच्छू वाली आख्यायिका खूब मेल खाती है।

+ + +

ब्राह्मण नदी के किनारे बैठा है, विच्छु पानी मे बहा जा रहा है। उसे उसपर दया आई, बाहर निकालने के लिये उसे अंगुली पर उठाया कि उसने अपने स्वभावानुसार उसीदम डंक मारा उस का हाथ काप उठा, जिस से वह फिर पानी मे गिर गया, अनुकम्पा भावने उसे बचाने के लिये फिर कहा ऊंगली पर सवार किया तो फिर डंक मारा। इसी तरह फेंक कर फिर तीसरी बार निकाला और किनारे पर डाल दिया। किनारे के आदमियों ने कहा कि यह तीन बार डंक मार चुका है तब बार२ किस लिये उठाते हो। तीन डक खाकर भी ऐसे क्रूर प्राणी को बचाने की धारणा को नहीं बदल रहे हो। विप्र ने कहा कि दुर्जन की दुर्जनता छोड़ने योग्य है तथापि यह नहीं छोड़ रहा है तब सज्जन प्रकृति का स्वामी अपने अच्छे स्वभाव को क्योंकर छोड देगा? हमारा तो मात्र इसके प्रति एक ही कर्तव्य है कि इसे दुःख से मुक्त करदें। छोड़ने योग्य स्वभाव को ही जब नहीं छोडता है तो न छोडने योग्य स्वभाव किस प्रकार छोडा जायगा। + + +

सूरीकान्ता विच्छू जैसी है, और धर्म स्वभावरूप परदेशी राजा है रानी ने राजा को विष दे दिया है यह खबर सुनकर और लोग

को तो मैं जानती हूं' वह तो बड़ी क्रूर प्रकृति का और निरा कुटिल मनुष्य है। न जाने मेरी कैसी दुर्गत बना कर मारेगा। इस लिये जहां तक हो सके शीघ्र ही विष देकर अपने हाथ से मै ही क्यों न मार डालूं। इस प्रकार से तो यह मामला मुझ तक ही रहेगा राजाका अंत और मेरा कष्टसे उद्धार दोनों कार्य एकसाथ हो जायँगे, फिर न रहेगा बांस और न बजेगी बंसरी। + + +

राजा के कपड़े-जोड़े-अन्न-पानी-निवासस्थान-शय्या-आसन-पान-सुपारी-कत्था-चूना-मुखवास-तैल-जूता-खड़ाऊँ-आदि सब मे विष ही विष, प्रत्येक वस्तु मे अनुमान से अधिक विष, विष से अछूत कुछ नहीं छोड़ा। + + +

राजा १३ वे बेले का पारणक करने जाता है, उसे यह ज्ञात होगया है कि प्रत्येक वस्तु विष पूर्ण है, फिर भी निःसंकोच सब वस्तुओं का उपयोग किया। यहां तक कि यह विष क्रिया जूतों तक में भी की गई है। राजा को भोजन करते समय यह ध्यान आया कि रानी ने मुझे इस लिये विष दिया है कि मै इस के लिये विषय सेवन करने की दृष्टि से अब निकम्मा होगया किसी काम का न रहा अतः इस ने स्वार्थ वश अपना सोचा किया किन्तु अब मैं भी तो अपना विचारा ही करूंगा न? जब इस ने अपना दुष्ट-स्वार्थी-क्रूर और घातकी स्वभाव न छोड़ा तो मैं अपना उत्तम स्वभाव क्योंकर छोड दूं, इस का यही स्वभाव है कि इस की आवश्यकताएँ अपूर्ण रहने के कारण मै इसे बुरा लगने लगा। जो जगत् का स्वभाव है वही इस का भी है। जगत् से इसका स्वभाव कुछ नवीन या निराला नही है। इस ने मुझ से कोई निराला या विलक्षण सलूक नहीं किया। सब कुछ अपने स्वभावानुसार किया है अधिक कुछ नहीं। ज्ञानियों का स्वभाव

है कि इस समय दुःख और कष्ट का स्वागत किया जाय। इन स्वकृत आपदाओं का मैं भी आह्वान करूं। यद्यपि राजा का स्वभाव बहुत समय से कठोर या क्रूर रहा है चाहे तो रानी को थोड़ी सी देर मे ठिकाने लगादे पर राजा को इस विषय मे दृढ़ विश्वासहै कि यह मेरा स्वभाव नहीं, मैंने अब अपना मूल स्वभाव प्रगट किया है। मुझे अपने आत्म-स्वभाव मे स्थिर रहना चाहिये। यहां सन्यासी और विच्छू वाली आख्यायिका खूब मेल खाती है।

\+ + +

ब्राह्मण नदी के किनारे बैठा है, विच्छु पानी में बहा जा रहा है। उसे उसपर दया आई, बाहर निकालने के लिये उसे अंगुली पर उठाया कि उसने अपने स्वभावानुसार उसीदम डंक मारा उस का हाथ काप उठा, जिस से वह फिर पानी मे गिर गया, अनुकम्पा भावने उसे वचाने के लिये फिर कहा ऊंगली पर सवार किया तो फिर डंक मारा। इसी तरह फेंक कर फिर तीसरी वार निकाला और किनारे पर डाल दिया। किनारे के आदमियों ने कहा कि यह तीन वार डंक मार चुका है तब वार२ किस लिये उठाते हो। तीन डंक खाकर भी ऐसे क्रूर प्राणी को बचाने की धारणा को नहीं बदल रहे हो। विप्र ने कहा कि दुर्जन की दुर्जनता छोड़ने योग्य है तथापि यह नहीं छोड़ रहा है तब सज्जन प्रकृति का स्वामी अपने अच्छे स्वभाव को क्योंकर छोड़ देगा? हमारा तो मात्र इसके प्रति एक ही कर्तव्य है कि इसे दुःख से मुक्त करदे। छोड़ने योग्य स्वभाव को ही जब नहीं छोड़ता है तो न छोड़ने योग्य स्वभाव किस प्रकार छोडा जायगा। + + +

सूरीकान्ता विच्छू जैसी है, और धर्म स्वभावरूप परदेशी राजा है रानी ने राजा को विष दे दिया है यह खबर सुनकर और लोग

रानी पर क्रोध करेंगे इस से रानी को बड़ा कष्ट सहना होगा इसी लिये इसने किसी अन्य के कान तक खबर न होने दी। बल्कि स्वयं अपने पैरों के बल पौषधशाला मे आकर आलोचना और प्रतिक्रमण किया तथा आत्मनिन्दा से बिल्कुल निश्शल्य होकर ध्यानस्थ होगया।

"जगत ने मरण तणी बीकछे एने आनन्द लहर जो"

आत्म-धर्म का परिणाम देखते हुए इस देहसे जो धर्म क्रिया धर्म करणी की कमाई की हो तब उसका श्रेय (उत्तम फल) देनेके लिए मृत्यु निमित्त भूत है।

मरण के सन्मुख होकर तथा उसे आत्म-दृष्टि से देख कर निज स्वभाव मे रमण करता हुआ वह मुमुक्षु महानुभाव मृत्यु से आनन्द पूर्वक भेट करता है। इसे राणी के प्रति मन मात्र से भी द्वेष नहीं आया। इतनी सी कल्पना भी न आई कि देखो भाई! रानी ने अच्छा न किया इतना अनुराग था सब कहां चला गया बल्कि उसे तो यह विचार आया कि यह सब अनादि काल का स्वभाव है। साथ ही मुक़ाबले पर क्षमा करना मेरा स्वभाव है। इस गम्भीरता मे पहुंचने के लिये बहुत कुछ अभ्यास किया परन्तु आत्मा के सहज एवं स्वतन्त्र स्वभाव के लक्ष्य मे कुछ अपूर्ण रह गया यानी परिपूर्ण वीतराग स्वभाव प्रगट न हो पाया। अतः स्वतन्त्र दशा की जागृति करने मे कुछ शुद्ध आत्म-दशा अधूरी रह गई। जिस से सर्वथा निर्जरा न होकर अनायास पुण्य का उपार्जन होगया और उसका फल प्रथम स्वर्ग पाया वहांसे विदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर दशांगी सुख मे उत्पन्न होगा। यह पुण्य कुछ इस प्रकार का है कि आत्मा के स्वरूपके लक्ष्य मे प्राप्त कर सकने के हेतु जो धर्म-क्रिया उपार्जन की है और उसके द्वारा पुण्य का

बन्ध होता है जिसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा जाता है यद्यपि बन्ध तो अच्छा किया है परन्तु इस पुण्य के जोड़ मे भविष्य मे त्याग भाव उत्पन्न करके मोक्ष मे चला जाता है। क्यों कि इसने बन्ध के लक्ष्य मे पुण्य नहीं किया है 'मेरा आत्मा अबन्ध स्वरूप है' इस प्रकार के लक्ष्य मे पुण्य किया है। उसका फल भविष्य मे बन्ध की परम्पराका कारण नहीं बन सकता। आत्मा के प्रति जिसका लक्ष्य न हो तब यदि वह पुण्य का उपार्जन भी करे तब भी आत्मा के लिये न होकर उल्टा आत्मा की सत्ता को भी दबा देता है। यह पुण्य किसी भी वस्तु को पाने के लिये होता है जिस से चैतन्य सत्ता दबती चली जाती है। यद्यपि श्रेष्ठ मन-वचन-काय के शुभ योग से पुण्य का उपार्जन हुआ है फिर भी पुण्य के भोग्य काल में आत्मा की सत्ता दब जाती है।

संत बीज प्रगटे नहीं, भल युग जाय अनन्त।
ऊंच नीच घर अवतरे, लो य सन्त नो सन्त॥

× × × + + + + + +

आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य मे उपार्जन किया गया पुण्य दश भाति के अनुकूल संयोग का मिलान कराता है जिसका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्रके तृतीय अध्याय से जानलें। आत्मा की शक्ति आवृत होजाय ऐसे प्रशस्त रागसे उपार्जित पुण्य हो तो उसे विशेष रूप से १० वस्तुओं का संयोग प्राप्त होता है।

दश बोल का संयोग

(१) खेत—पुण्यानुबंधी पुण्यवान् को लंबे चौड़े खेतों की विस्तृत भूमि भी पुष्कल रूप से मिलती है। उसका संपादन करते

समय उसका बाप भी किसी पर जोर जुल्म न करेगा। मनुष्य समुदाय को अन्त मे यह बात कल्पना मे भी न आ पायगी कि इस लड़के के बाप ने हमारा खून चूस कर हम से जमीन छीन ली है। ऐसे वाक्य उस पुण्य के स्वामी के कानों तक भी न पहुंचेंगे।

(२) वस्तु—किसी पर दबाव डाले बिना ही स्वतन्त्र अधिकार मिल जाते हैं। औरों का हक़ छीन कर वर्तमान की भोग्य वस्तुएँ लेने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। जिसने जन्मान्तर में आत्मा की सत्ता लूटी है उसी लूट मे से लाभ लेना चाहेगा। मन वचन काय के योग से पुण्य का उपार्जन किया है जिससे औरों को दबा कर इसका लाभ ले रहा है। दबाव डाल कर लाभ लेना ही मात्र पापानुबन्धी-पुण्य है। वह कदाचित् वर्तमान में ५-७ लाख की आसामी बन भी जाय अथवा राज्य तक मिल जाय तब भी ग़ैरों का हक़ दबा कर औरो का खून चूस कर ही यह वस्तु प्राप्ति का लाभ लेता है और यह पापानुबन्धी-पुण्य कहलाता है। आत्मा की सत्ता के दबाव से पाया गया पुण्य औरों को दाब कर उपभोग्य सामग्रिएँ लेता है। आत्माके लक्ष्य मे यदि पुण्य का उपार्जन किया है तब उसमें से भोग्य पदार्थ पाते समय औरों को किसी भी तरह की प्रतिकूलता नहीं प्रदान करता। स्वतंत्रता के स्थान में पुण्य उपार्जन किया है जिस से इसकी स्वतन्त्रता के ऊपर किसी का पदाघात नहीं हो सकता।

मकान दुकान बंगला हवेली आदि ढकी जमीन भी पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले को जन्म होते ही मिल जाती है। आत्मा के निरावरण होने के स्थान से जिसने पुण्य किया है उसे कोई यह न कहेगा कि इसके पिता ने विधवा तथा निःसंतान की जमीन लाग

लपेट या धोके बाजी से छीन कर अपना अधिकार कर लिया। ये वाक्य उसके लिये श्रवण करने योग्य नही हो सकते। बल्कि पहले जन्म मे आत्मा की स्वतत्र दशा को दबाने से मात्र वस्तु लाभ लेना है क्योंकि पुण्य बंध करते समय आत्मा की अपनी सत्ता दबती थी किन्तु आत्मा की जागृत दशा मे पुण्य उपार्जन किया हो तो उसे बगले और नौ महलो का घाटा नहीं रहता, ये सब पदार्थ तो उसे बने बनाए तैयार मिलते है।

किसी अन्य ने भी दबाव डाल कर या लहू चूस कर नहीं बनवाया है और वह स्वयं आकर यह कहता है कि सेठ! यह मकान आपके मकान से लगता है इस से यह जमीन तुम्हारे काम मे आयेगी और मुझे आप ५००० देकर इस पर आप अपना अधिकार जमा कर अपना कार्य बनाएँ। क्योंकि मुझे किसी अन्य से इतना धन मिलना कठिन है। आप इतना दें तो हमे इतने में ही बहुत सन्तोष है। किसी के दबाव से नही बल्कि अपनी इच्छा से कह रहा हूं।

स्वतंन्त्रताके स्थानमे जिसने पुण्य उपार्जन कियाहो उसके कान पर भी यह बात न आयगी कि इस मकान को बनवाते समय मजदूरो को आठ आने ठहरा कर छ. आने दिए थे। हम अब अपने इस दुःख को किस से जाकर कहें।

(२) हिरण्य—लक्ष्मी की प्राप्ति कुटुम्ब अथवा किसी विधवादि दुर्बल प्राणी को, दबा कर नही होती बल्कि उसके जन्म लेते समय कोई नवीन खान निकल आती है या कोई खजाना प्रगट अथवा समुद्रसे मोती ही उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु किसी का हक्क छीन कर न लेगा, क्योंकि इसने जन्मान्तर मे आत्माकी स्वतंत्रता का अधिकार नहीं छीना था। यदि राजा के यहा जन्म ले तो भी

संसार यह कहेगा कि कितना सुन्दर और भाग्यशाली राजकुमार जन्मा है, जिसके उत्पन्न होते ही सुभिक्ष होगया, खेती का पाक निर्विघ्नता से पक रहा है, सब प्रजा एक ही आवाज मे कहती है कि यही हमारा स्वामी है, पहले कोई भी राजा अपनी मर्जी से नहीं बनता था लोग ही सर्व-मतसे अपना राजा स्वीकार करते थे। आज कल तो बहुतों को बड़ाई बघारने के लिये जल्से करने पड़ते हैं परन्तु ये आचरण पापानुबंधी पुण्य वालों के हैं। पहले औरों की सत्ता दबाई हो और फिर परतन्त्र दशामें पुण्य का उपार्जन न किया है वह पापानुबन्धी पुण्यवान् होता है। कुमारका जन्म होतेही नदी के बालु रेत मे मोती या माणिक्य बह कर आ जाते हैं, सोने की खानें निकल आती हैं, पुण्यानुबधी पुण्यवान् प्राणीकी सहायता प्रकृति स्वयं करती है। उसे किसी का गला दबा कर धन लेने की तनिक भी आवश्यकता नही पड़ती। वर्तमानकाल को बुरे कार्यों से बिगाड़ कर जो स्वतन्त्रता लेने दौड़ता है उसका भोग्य परिणाम भविष्य में कैसा होगा। जिसकी आत्मामें स्वतन्त्र त्याग का लक्ष्य होता है उस इच्छा-निरोधरूप त्यागके प्रतापसे भविष्यमे उसे भोग्य वस्तुएँ अनायास मिल जाती है किन्तु फिर भी वह वस्तु के उपभोग में तन्मय नही होता। गरीब अथवा दरिद्र के लिये एक मिट्टी के बर्तन का त्यागना भी कठिन है लेकिन पुण्यवान् प्राणी को करोड़ों का धन त्याग देना हो तो उसे तुनका समझ कर उसी दम छोड़ देता है, क्षण मात्र का विलंब भी नहीं करता।

जिस को आत्मा की स्वभाव-दशा का भान होता है वह आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थों को स्व-आत्मलक्ष्मी को लूटने वाला मानता है। इस धारणा से उसे पर-पदार्थ मे आसक्ति-प्रेम-तन्मयता आशा-वाञ्छा-पिपासा आदि कोई विकार नहीं छूता।

४-५-पशु तथा दास—पशु तथा दास-दासियां भी आवश्यकतानुसार पुष्कल रूप से प्राप्त होते है। नौकर चाकर उचित आज्ञा पालन करने मे सदा काल तत्पर रहते हैं। हाथी-घोड़े आदिकी कमी नही रहती। दास दासी कहते हैं कि आप की सेवा मे रहने से हमारी स्वतंत्रता प्रगट होती है। नौकर भी उस की संगति मे कर्तव्य परायण बन जाते हैं। इन पाच बातों के मिलने से एक बोल बन गया।

(२) मित्रवान्—पुण्यवान् प्राणी के पास मित्रगण प्रेम से रंजित होकर आते हैं। आज यदि किसी को मित्र बनाना हो तो जल्सा या पार्टी करके सिगरेट-बीडी का धन के साथ धुआँ उड़ाना पडता है परन्तु पुण्यानुबन्धी पुण्यके स्वामीको लक्ष्मीवान्-पुण्यवान् जातिमान्-कुलीन आदि आकर स्वयं कहते हैं कि महानुभाव ! मुझे अपनी मित्रता का पवित्र लाभ दीजिये, आप जैसे मित्रों का प्राप्त होना अति कठिन है।

(३) जातिमान्—उस का जन्म उच्च जाति मे होता है उस की जाति लोगों की दृष्टि मे पूजनीय समझी जाती है। उसे किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होता। क्योकि पुण्यका बंध शुभ भावों की विशालता मे किया है। इसी से विशाल और सदाचार समन्वित जाति मे उसका जन्म होता है।

(४) ऊँच गोत्र—उच्च गोत्र मे जन्म प्राप्त करता है, जिस के माता-पिता का चरित्र अत्यन्त श्रेष्ठ और पुनीत होता है, लोग भी कहते है कि उनके सत्य-शील आदि चरित्र प्राय: मुनिओं जैसे है जिनकी प्रशंसा करते नही बनता। कीर्ति और इनके गुणका बखान करने के लिये कोष मे शब्द नहीं मिलते। इन की सात सात पीढ़ियें निष्कलंक हैं। इस कुल मे आज तक किसी ने अनीति

का समाचरण नहीं किया है। उनके कौटुम्बिक आचरण आदर्श रूप हैं। ऐसे कुलों मे उन महापुरुषो का जन्म होता है।

(५) वर्णवान्—उत्कोटिका सुंदर वर्ण और मनोमोहक रूप प्राप्त होता है, शरीर की आकृति लाखों मनुष्यों मे अद्वितीय और दर्शनीय होती है, आत्म स्वरूप के कर्तव्य मे इन्हें सुदर अथवा वज्र के समान देह उपलब्ध हुई है, जिसे देखकर लोगों मे यह भावना उठती है कि न जाने यह आगे चलकर कितना भारी पुण्यवान् बनेगा।

(६) अपाय—वह शरीर भी नीरोग ही पाता है, पूर्व भव मे आत्मा को सजग करने का आराधन किया है अत एव इसे अब यह मात्र अन्तिम देह का योग मिला है क्योंकि यह चरम शरीर है और इसी भव (शरीर) से मुक्त होना है। शरीर मे किंचिन्मात्र भी रोग नही है। जेब मे शीशियाँ रखकर औषधालय से औषध लेने जाने के लिये इसे जरासी भी जरूरत नहीं है।

(७) महाप्रज्ञावान्—इसका तेज और प्रताप दुसह्य होता है, प्रताप के द्वारा ही नीति और अनीति का पृथक्करण कर सकता है, प्रज्ञाशक्ति इतनी विशाल है कि ससार इसके प्रभाव से प्रभावित हो जाता है।

(८) अभिज्ञात—विनयशील अथवा नम्रप्रकृति है, तुच्छता लेशमात्र को भी नहीं है। यह छोटे से बालक को भी बहुमान पूर्वक सम्बोधित करता है। 'रे' 'तू' 'अबे' 'तबे' आदि असभ्य शब्द का व्यवहार करना तो मानो यह बिल्कुल जानता ही नहीं है। माता पिता या बड़े बूढ़ोंके साथ बडी ही मर्यादित रीतिका व्यवहार साधता है। अपनी लघुता और औरों की महनीयता पर प्रसन्नता प्रगट करता है। यथा-संभव सब को मान-महत्व ही प्रदान करता

है। स्वयं बड़प्पन लेने की तुच्छता का व्यवहार कभी भूलकर भी करने वाला नही।

(९) यशस्वी—उस के कार्यों का परिणाम यशःकीर्ति ही है, प्रकृति की ओर से मानों बटवारे मे उसे कीर्तिदान ही मिला है। बिना किसी प्रकार की चापलूसी किए विश्वभर में उस की प्रतिष्ठा फैलती है। ज्ञानी और सज्जन पुरुष भी उसका वाणी द्वारा स्वागत गान करते है तब साधारण मनुष्य यदि उन के गुणों का कीर्तन करें तो इसमे क्या नवीनता है! जिस ने आत्मा की स्वतन्त्रता मे पुण्य का उपार्जन किया हो उस का सन्मान सब लोग करते है। उसकी प्रतिष्ठा प्राकृतिक होती है अप्राकृतिक नहीं। लेकिन आज कल बहुत से लोग खास अपने ही विषय मे यह शिकायत करते हैं कि अजी ये लोग इतने ढीठ और रूखे हैं कि किसी को भलीभाँति सम्मान भी नही देते परन्तु इसने तो पूर्वकाल में यश का अन्तराय किया है फिर भी बलपूर्वक यश लेना चाहे तो कैसे मिल पाये?

(१०) बलवान्—नीरोग शरीर के साथ ही पूर्ण शक्तिमान् भी होता है, बलवान् के बिना आत्मसाधन होना कठिन है निर्बल और कायर का धर्म-जीवन-और अधिकार आदि मे से कुछ नही होता।

× × ×

ये दश बोल उस के सन्मुख होजाते है, ऐसे अनुकूल सामग्री युक्त स्थान मे जन्म लेकर पहले भव मे जो अध्यात्म कार्य अपूर्ण छोडा है उसे यहां पूर्ण करता है। केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाता है। यदि किसी ने पहले आत्मा की परतन्त्रता मे पुण्य का उपार्जन किया हो तो उसे पुण्यके बंधन मे पड़ा रहने का अवसर मिलता है कभीनिकलने का प्रसंग नही आता। यह राजा परदेशी

भविष्य में दशांगी लक्ष्मी को भोगकर केवल ज्ञान को हस्तसिद्ध कर मोक्ष को प्राप्त होगा।

× × × ×

नवकार मंत्र पढ़ने के अनन्तर जो गाथाएँ पढ़ी जाती हैं इसे महावीर भगवान् वार वार कहा करते थे, ये सूत्र कृतांग सूत्र के सातवें अध्याय की गाथाएँ हैं। इनका भाव यह है कि "अनन्त काल व्यतीत होने पर भी मनुष्यत्व का प्राप्त करना कठिन है। अतः सम्यक् रूप से जगज्जीवों को समझाने के अर्थ महावीर प्रभु यह फ़र्माते हैं कि जगत् की अन्यान्य वस्तुएँ प्राप्त करना कुछ दुर्लभ नहीं है बल्कि मनुष्यत्व का पाना महँगे मोल है। अतः भली भांति प्रतिबोध को प्राप्त करो। जिसके मन में दुर्लभता का ज्ञान जँच गया है उसे संसार के भोग विलास महँगा न लगकर मनुष्यत्व महँगा प्रतीत होगा। उसे यह ज्ञात होगा कि मुझे क्या करना और कब करना चाहिए। एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय देव नारक और मनुष्यादि के जन्म तो मैंने बहुत वार किए हैं। इन सब की अपेक्षा बहुत थोड़े जन्म मनुष्य के ही कर पाया हूं। ये किस लिये कम किए गए? इसका पहला कारण क्या है? जिसे समझना आवश्यक है। क्या मनुष्यत्व शारीरिक सुख के लिए है? क्या अनित्य देह का पोषण के लिये है? क्या विषय सुख के उपभोग के अर्थ है? क्या अपने अधिकारादि की बड़ाई तथा औरों की अवज्ञा-मानहानि करने के लिये मनुष्य जन्म प्राप्त है? ऐसे नीच कार्य तो अधम प्राणी भी करते देखे जा रहे है। तब मानुषी दुर्लभता और उसका महंगापन क्या है? इस सम्बन्ध मे चिदानन्द जी महाराज द्वारा वर्णित है कि—

अवसर पाय न चूक चिदानन्द, सद्गुरु यूं दर्शाया जी।
आतम गुण तिहुं काल कहो, जिम वाचा सुख निपजायाजी॥

वे कहते हैं कि 'मनुष्य देह की सहायता के बिना संसार के माया मोह से छूटने का मार्ग और कोई नहीं है। इस सुनहरी अवसर को कठिनाई से पाकर फिर वृथा न खोना चाहिये। इस समय देख तो यही रहे है कि देह को सुख देने के ही लिये सब कुछ न्याय अन्याय कर रहा है। अवसर को हाथ से गवाँने का कार्य कर रहा है। सच है जिसे देह महँगा जान पड़ा है वह देह की ही चिन्ता मे मगन है। किन्तु देवों के उत्तम मनोरथों मे तो मनुष्यत्व का भाव ही बसा हुआ है, जिसकी इच्छा देव भी करते हैं इसे उसी मनुष्यत्वकी प्राप्ति हुई है, किन्तु खेद है कि ऐसे मानुषी जीवन को अहिंसा-सत्य-अचौर्य-निर्ममत्व-क्षमा-सन्तोष निस्पृहता आदि गुणों से समृद्ध न किया, यदि सम्यक्त्वादि गुणों से उज्वल कर लेता तो मृत्यु के समय डंके की चोट से भव बधनादि तोड़ कर अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करके मोक्ष प्राप्त करता। मनुष्यत्व की दुर्लभता को यों न समझ सके तो "दुनिया के दुःख और भय के त्रास से ही कोई समझे" यह वीर प्रभु का उपदेश है। सच्ची समझ को पाये बिना छः छः मास के उपवास तो अनन्त वार कर चुका है। वीतराग प्रभु कहते है कि जब तक सत्य ज्ञान और ठीक श्रद्धा की प्राप्ति न हो तब तक परिभ्रमण का चक्कर सिर पर ही चला करेगा। अनत काल से जिस पथ को नहीं समझ सका उस सम्यग्ज्ञान को पाकर दुनिया के दुःखों का अनुभव कर! और दुःख कूप से वापस मुड़ एव कुछ अपने हित को भी समझ!

तीसरे पद मे कहा है कि सत्य विवेक की शक्तिके अभाव मे

मनुष्य जीवन का उचित लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। आत्म भाव को जागृत करने के हेतु एक वार फिर कहा गया है कि धैर्य रख! इस तरह संसारकी प्रवृत्तिमे फंसा रहने से मोक्ष न होगा क्योंकि उसका मार्ग तो विलक्षण ही है किन्तु इस समय जो कुछ कर रहा है उसके वेग को कमती कर। "हमने सब शास्त्रों का सार पा लिया तथा हमने सब कुछ पढ़ लिया' इस अभिमान-भाव से जिह्वाग्र ज्ञान अनन्त काल से अनन्त वार करता आ रहा है परन्तु धैर्य गुण तथा सम्यग्ज्ञान [परीक्षा शक्ति] के अभाव मे मनुष्य का भव पाकर भी उसका आनन्द न ले सका। सत्य है ज्वर से घिरा हुआ मनुष्य खीर का स्वाद कैसे ले सकेगा? ठीक अविवेकाविष्ट पुरुष अविवेक के कारण धर्म शासन का लाभ किसी प्रकार भी नहीं पा सकता। इस दृष्टि से मनुष्यत्व की दुर्लभता को समझ! क्योंकि पहला बोल महंगा है अतः सुजनता का अंश मात्र भी है तो इसे समझ!

दूसरा बोल—दुनिया के दुःख और भय से समझ।

तीसरा बोल—अविवेकी को धर्म भाव प्राप्त होना दुर्लभ है।

इस जगत् मे आत्म धर्मार्थ सम्यग्दर्शन पाए विना सब प्राणी अत्यन्त दुखी है। नरक से लगा कर सर्वार्थ सिद्धि तक के देव सम्पूर्ण वीतरागता के विना एकान्त दुःखी हैं, वायु शूल के रोगी को जिस प्रकार असह्य पीड़ा हो उठती है उसी भांति आत्म भान के विना कोई सम्पूर्ण सुख भोक्ता नहीं है। इसे जान कर भी समझो और चेत करो यह चतुर्थ वोल मे समझाया है।

पांचवां बोल—दुनियामे विचार द्वारा निश्चित की हुई धारणा से भी उलटा परिणाम आ जाता है। इसे समझ कर भी प्रतिवोध को प्राप्त कर। अनन्त काल से अव तक कोई सत्पुरुष नहीं मिला

है इसी कारण वस्तु का वास्तविक ज्ञान अवगत नहीं हुआ न अब तक उसे जान ही सका है। यही कारण है कि बाजी को जीतने का प्रयास तो करता है परन्तु पासा उल्टा पड़ता है। इस तत्व को पाकर भी कुछ भान कर। इस प्रकार तत्व की पांच बातें भगवान् ने फर्माई हैं। इनमे प्रभु समझने के लिये बार बार जोर देते है। यदि ये तत्व अन्तर मे समाविष्ट हो जायें तो मोह और ममत्व घट सकता है। त्याग भी आत्म ज्ञान के द्वारा ही करता है। अधिक क्या कहा जाय उत्तम समझ को संसार मे भी सार वस्तु ही समझा गया है। समझदार आदमी ही दोषों से निवृत्त हो सकता है। अब तक समझ बूझ कर ही अनन्त जीव मोक्ष मे गये हैं। × × ×

अरणक श्रावक श्री मल्ली भगवती के समकालीन हो गया है, वह गृहस्थाश्रम मे रह कर भी बड़ा श्रद्धालु था, आत्मा की प्रतीति सहित गृहस्थाश्रम का संचालन किया करता था। एक बार इन्द्र ने सौधर्मिकी देव सभा मे उसकी खूब प्रशसा की और बोला कि देव वृन्द ! चम्पा नगर मे अरणक दृढ़ धर्मी श्रावक है। देवों द्वारा चलित किया जाने पर भी अपने विचारों को बदलने वाला नहीं है। यह प्रशंसा किसी अविश्वासी देव को अच्छी न लगी वह मनही मन यों बड़बड़ाया कि क्या मनुष्य इतने दृढ़ होते हैं ? अरे ! देव तो बाल की खाल भी उतार सकता है, किन्तु इसे आत्म भान होने के कारण श्रद्धा और प्रतीति मे दृढ़ कहा गया है अर्थात् यह चलित होने वाला नहीं है ? कदाग्रही और श्रद्धालु ये दोनों अपने अपने विचार मे निश्चल रहते है, दोनों का एक ही भाव होता है परन्तु लक्ष्य भिन्न २ होता है, यही महान् अन्तर है। जैसे उड़ाऊ को उदार-कृपण को मित

व्ययी-मानी को स्थायी भाव वाला और कदाग्रही को श्रद्धालु कहा जाता है, ये चारों बातें समान हैं। मात्र विचार और भाव का ही अन्तर है कदाग्रही इन्द्र से डिगाया जाने पर भी नहीं डिगता। श्रद्धालु के विषय में भी समान कथन किया है, परन्तु एक का मार्ग सीधा है और दूसरे का झूठा। × ×

देव ने समझा कि मनुष्य से मनुष्य शायद न डिग सकता हो मगर देव मनुष्य को न डिगा सके यह असंभव सी बात है। स्वर्ग से चलकर भूतके रूपमें यह भूमि पर आया क्योंकि डरपोक को भयंकर तथा विकराल भूत के नाम से ही डर जाना बस है। अरणक श्रावक उस समय जहाज द्वारा समुद्र पथ से प्रवास कर रहा है। दूर से भयानक आकृति को देखकर उसे यह विचार आया कि 'संभव है यह मुझे डराने आया है, मेरे विचारोंकी आज कसौटी होने वाली है'। यदि इस उपसर्ग से शरीर की स्थिति छूट जाय तो आहार और शरीर की देख रेख करने का यावज्जीवन पर्यन्त के लिये त्याग है, यह नियम लेकर समाधि में बैठ गया।

देव—अरे! ग्रहण किये हुए व्रत और नियम को छोड़, साथ ही आत्म श्रद्धा (आत्म-विश्वास) से भी पिंड छुड़ा।

अरणक मन ही मन इस बात को दुहरा रहा है कि 'चाहे यह न करने योग्य भी कर डाले तब भी मुझे तीन कालमें भी न डिगना चाहिये' किसी में इतना सामर्थ्य कहां जो मुझ को अपने मेरे भावों से विचलित कर सके ?

देव—तेरा सब माल और जहाज आज पानी में डुबो दूंगा।

अरणक—(स्वगत) भाई! तुझे जो कुछ करना हो कर! कसर बाक़ी न रख! मेरे आत्मा का बिगाड़ तुझ से होने वाला नहीं है। साथ ही मैं तुझ पर ज़रा सा द्वेष करने वाला भी नहीं हूं। यह

देव की धमकियों मे न आया, उस ने जहाज़ को ऊंचा उठा कर डुबो देने के समान भाव दिखाया। औरों की समझ मे यह समा गया कि यह अभी डूबने वाला ही है।

अरणक—मेरी श्रद्धा अटल रहेगी, बाहरी पदार्थों की हानि आत्मा की हानि का कारण नहीं बन सकती। मैं तो अपनी धारणा मे परिपुष्ट हू।

देव—यह डिगने वाला नहीं जान पड़ता, तब ही तो इन्द्र ने इसकी प्रशंसा की है और वह उचित ही जान पड़ती है इतना सोचते विचारते वह स्वयं झुक गया, पैरों में लोट गया। उसकी दृढ़ श्रद्धा पर मस्त होगया और हाथ जोड़ कर बोला कि 'देव-दर्शन ख़ाली नहीं जाता'। इस दृष्टि से श्रावक को दो जोड़ी कुंडल देकर वह यथास्थान चला गया।

अरणक देशान्तर मे व्यापार करने जा रहा है जहां मल्ली-तीर्थंकरी विराजमान हैं वहीं। जहाज को किनारे पर लगाकर स्वयं नगर मे आता है, मार्ग में यह मन ही मन समझता है कि ये कुंडल मेरे किस काम के हैं। अतः एक जोड़ी यहां के राजा को दे दूं। उसे यह ध्यान न आया कि मेरी अपनी बहन-बेटी पुत्र वधू के लिये भी तो कुछ रख लूं। नहीं इसे तो यही विचार आता रहा कि हमारे जैसे सादा जीवन बिताने वालों के लिये जब कान का भूषण-दिव्य कुंडल जैसा बहुमूल्य पदार्थ पहिनने मे आवेगा तब अन्यान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये न जाने हमे कितना वैभव चाहिये?

अतएव हम से सादा जीवन निभाने वाले श्रावकों के लिये ये किस काम के हैं। सत्य है ज्ञानिओ की तृष्णा टूटी हुई होती है। दुःख सह कर नियमित प्रकृति की नीतिसे ये कुंडल प्राप्त हुए हैं न!

तो भी यह समझता है कि हमारे घर मे ये शोभा न देंगे। ये राजसी वस्तु है राजाओं के ही काम की होती हैं। यह राजघरानों में शोभा देने वाली वस्तु सादगी से जीवन बिताने वालों को शोभा न देगी। देव ने ये अपनी इच्छा से दिये है मैंने माग कर कत्र लिये हैं, इनके लिए अनीति नही की है प्रत्युत नीति मय जीवन बिताते हुए अपने आप मिल गए हैं, उसकी अपनी भेंट से प्राप्त है, वह वृथा ही मेरे गले मॅढ़कर चला गया है फिर भी अपने मन में पास ही रख लेने का विकल्प तक नहीं उठने दिया ठीक ही तो है क्या वह अनीति से पैसा पैदा कर सकता है? कभी नहीं। × ×

एक जोड़ी कुंभ राजा को अर्पण कर दी, राजा को भी इस व्यवहार से कितनी प्रतीति हो सकती है, अहा हा! गृहस्थाश्रम भी कितनी निर्मल रीति से पालन किया जाता है। राज्योचित वस्तु को पाकर स्वयं न रख कर मेरी भेंट कर रहा है, तृष्णा का तांता कितनी अच्छी रीति से टूटा। दूसरी जोड़ी अपने चम्पा नगर के राजा की भेंट करदी।

इस हेतु से सिद्धान्तकार का यह आशय है कि इसे यह विकल्प तक न आया कि 'शोभारूप बहु मूल्य दिव्य कुण्डल अपने घर रखलूं' मेरी बहन बेटी भानजी दोहिती आदि को चाहे अच्छा न लगे परन्तु देवता की निशानी तथा शोभा रूप ही पड़े रहेंगे। गृहस्थाश्रम मे जिसका जीवन इतना उच्च कोटि का हो उसे देव के द्वारा दुष्प्राप्य वस्तु के संग्रह करने का भी मन नहीं होता, क्योंकि उसकी तृष्णा का तार टूटा हुआ होता है।

परन्तु आज के लोग एक रुपया कमाने के लिये औरों का हजारों का नुकसान कर डालते हैं साथ ही सामायिक-संवर-पौषध

प्रतिक्रमणादि भी करते हैं बताओ इसका मेल कैसे खायगा? जिस की पर वस्तु से ममता छूटगई है वह पहलेसे ही जान जाता है कि अन्याय अनीति और अत्याचार से एक पाई मे करोड़ रुपया या देशका राज्य भी मिलता हो तब भी लेने को इनका मन न होगा। इस साधनाके आरम्भकी पहली सीढ़ी यही है। यह प्रारंभ इस बात की शिक्षा देता है कि 'मुझे अनुचित परिग्रह की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है'। वह भी यहां तक कि अनीति से मेरा लड़का किसी की हत्या कर आया है और वह अधिकांश सत्य है, यदि मुक़दमा जिता दे तो पांच हज़ार रुपया दूंगा, यह सिद्ध कर दो कि 'इसने खून नहीं किया है' तब तो पाँच लाख ले लो, वह यह न कहेगा। अनीति से कमाने वाला १०-५ के लाभ को पाकर फूला नहीं समाता इतनी तृष्णा भरी पड़ी है परन्तु आत्म-गवेषक नीतिसे समस्त संसार का राज्य मिलता हो उसे भी लेने को प्रस्तुत न होगा।

जो प्रतिलोम रीति से लोहे का पैसा पचा लेता है तब क्या वह अनुलोम रीति से जगत्को न पचा जायगा? इन्द्र सीधी तरह असंख्य धन दे तो उस समय वह न लेकर क्या त्याग देगा? परन्तु जिसे आत्माके अतिरिक्त परवस्तु की आवश्यकता ही नहीं है उसका आरभ यहीं से है कि अनीति से वह कुछ न लेगा और नीति से लेते समय अपने पुरुषार्थ से अधिक न स्वीकार करेगा। अर्थात् नीति से लेने की भी सीमा बांधता है 'इतने से अधिक की चाह नहीं रखता'। जैसे किसी को ब्रह्मचर्य से प्रेम है वह विना प्रयोजन स्त्री से बात तक नहीं करता। स्त्रीके पास भी नहीं बैठता, वह नव वाड़ मे से किसी का भग न करेगा।

ब्रह्मचर्य के लक्ष्य मे जब इतना नियमन है तब फिर जिसे

सम्पूर्ण आत्मा का भान होगया हो तब तो उस के आरंभ मे भी कुछ भेद दीख पड़ेगा न ? अर्थात् पूर्णता के लक्ष्य मे जिस का आरंभ है वह साधारण क्रोध भी न करेगा, क्योंकि आत्मा का स्वरूप क्षमा भी है जिसे समझनेपर भला क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है। 'मेरे प्रतिपक्षी को कष्ट होगा' ऐसी भावना भी उत्पन्न हो उठे तो सामान्य अपराधकी क्षमा मांगे बिना न रह सकेगा। 'तथा अन्यसे मुझे कष्ट हुआ है' ऐसी भावना जागृत होते ही औरों को क्षमा दान कर देता है, किसी भावको भी वह कषाय की गांठ नहीं रहने देता। छोटे से पाप का भय भी जिसे न हुआ हो वह यह कहे कि 'बड़े बड़े पापों से छुटकारा पा गया हूं' यह कह कर समाधान करने वाला मानो आत्मा को ठगने के समान व्यवहार कर रहा है।

आत्मा उत्तम क्षमा का स्वरूप है और क्रोध अपना स्वभाव (स्वरूप) नहीं है, इसे घटाया जानेपर कम भी होजाता है, इसको चाहें तो जड़ से भी मिटाया जा सकता है किन्तु क्षमा आत्मा का गुण होनेसे वह नष्ट नहीं होता तब अत्यन्ताभाव की तो बात ही नहीं चल सकती। यदि उसका अत्यन्ताभाव हो जाय तो आत्मा जड़ हो जायगा मगर यह कब होने वाला है।

यह अघटित घटना तीन काल मे भी न होगी, यानी आत्मा कभी जड़ नहीं बन सकता। + + +

जो मनुष्य मट्टी का तेल छिड़क कर खड़ा ही खड़ा जल कर भस्म हो जाता है, जरा चू तक नहीं करता, यहां तक कि नाक पर बल भी नहीं पड़ने देता, किन्तु लक्ष्य बदल जाय तो कहना होगा कि क्रोध के लक्ष्य से जल रहा है, यदि वह क्षमा के उद्देश्य से

लक्ष्य से सहन कर सकता है तब क्या अनाकुलता के लक्ष्य में सहन न हो ?

गजसुकुमार के मस्तक पर उसके श्वसुरने आग डाल दी थी तब उनमे क्षमा के गुण का इतना अधिक विकास होगया कि जिस से वे आत्म भानमे मगन होकर बोले कि जो कुछ जल रहा है वह मैं नहीं हूं और जो कुछ मैं हूं वह जलने वाला नहीं है इतने से संकल्प मात्र से आरम्भ करते हुये अनन्त क्षमा का गुण प्रगट कर दिया। + + +

उसने "मोक्ष दीजिये या मोक्ष होने का आशीर्वाद दीजिये" इस प्रकार की माँग न करके यह प्रार्थना की कि भगवन्! अंतरमे वाञ्छा है कि बारहवीं भिक्षु पडिमा को सिद्ध करने द्वारकापुरीके श्मसान मे जाऊं? इतना पाठ तो है मगर यह पाठ नहीं आता कि मोक्ष होनेका आशीर्वाद प्रदान करें, इस प्रकार गजसुकुमार का पावर कितना बढ़ा। इस लिये नेमनाथ भगवान् कहते है कि अहो देवानुप्रिय! देव वल्लभ! जो भाव अदर से उठा है उसके बढ़ाने मे किसी प्रकार का प्रतिबंध न करो, विलब भी न करो, ठीक ही तो है गोशालाएँ होती है 'सिंहशाला नहीं' न कहीं सिंहोंके महल्ले ही होते है। इसी प्रकार गजसुकुमारकी भी सिंही वृत्ति है, मक्खन के लौंदेकी तरह सुकुमार शरीर वाले नहीं है जो पिघल कर बहने लगें, ये तो वज्र शरीर धारी हैं उस पथकी ओर तुरन्त जा निकले। उस समय प्रभु ने भी किसी साधुको साथ जाने के लिये नहीं कहा। सत्य है सिंहको किस का डर होता है? इधर सोमिल श्वसुर भी आ निकला, नजर पड़ते ही एडी से चोटी तक तप उठा और मन ही मन बुडबुड़ाया कि हाय! मेरी पुत्री सोमिला को दुहाग देकर चला आया, वह बेचारी सारी उमरके लिये दुःखिनी

और निःसहाया हो गई। क्यों न इस के अपराध का मज़ा चखा कर जाऊं, जिससे ज़रा मालूम तो पड़े कि त्याग मे यह स्वाद भी सम्मिलित हैं। उसीदम छोटे सरोवर से मट्टी लाकर सिर पर अंगीठी सी बनादी और जलते हुये श्मशान से अग्नि ला कर मस्तक पर डालदी और भाग गया। जलने की क्रिया एक है हां भाव में कुछ हेर फेर है। यदि एक लक्ष्य से जलता है तब दूसरी ओर से सुलग उठती है। क्रोध के उद्देश्य से जलते समय चूँ तक नहीं करता यदि कुछ 'हूं हां' करे तो मालूम होनेपर कोई कहेगा कि जल क्यों न जाय प्रतिष्ठा को धब्बा जो लगाता है। इस भांति यह पर भाव (विभाव) से सहन करता है। परन्तु स्वभाव और अपने लक्ष्य मे सहन करे तो उसका संसार का फेरा मिट सकता है तथा यहीं से इसका आरंभ भी है। × × ×

वास्तविक शत्रु तो कर्म ही हैं और अपने किए आत्म धर्म के अतिरिक्त कोई धर्म नही है बस आत्मविद् के यही विचार होते हैं। जिसने आत्माको क्षमा रूप समझा है वह उसकी पूर्णता को प्राप्त किए बिना पीछा नही छोड़ता।

+ + +

चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक बाग मे एक बार ज्ञातपुत्र महावीर भगवान् पधारे थे वहाका राजा कुणिक उनका परमभक्त उपदेश श्रवण करने के लिये आया। देशना सुनकर मन वचन कायके शुभ योग से लक्ष्य बांधकर प्रभु से इस प्रकार प्रार्थना करने लगा!

प्रभो! कृपा के सागर! आपकी श्रेणी धर्मको समझाते समय कहां तक पहुँचती है? यानी आप की देशना का अर्थ चार शब्दों में विभक्त हो जाता है, जिस मे पहली बात 'उपशम' है, धर्म का

प्रतिपादन करते समय आपका यह फर्मान है कि धीरता के गुण को प्राप्त करो। सम्यक्त्व व्रत प्रत्याख्यान प्राप्त करने से पहले विवेक से ध्यान पूर्वक समझो। विरमण होने से पहले आपका उपदेश है कि 'उपशमका' पालन करो। कषाय प्रकृति को दवा दो। वृति को वापस मोड़ो। मात्र सर्वप्रथम आपकी यही आज्ञा है। जैसे प्रभु की आज्ञानुसार गजसुकुमार जैसों ने कर्तव्य और मनन किया है, जहां क्षमा का गुण होता है वहीं पर वीरता भी है, किन्तु क्रोध मान रखने वाला कभी भी वीरप्रभु का अनुयायी नहीं हो सकता। महान् पुरुष महा पथ पर विचरते हैं। वे प्राणीमात्र को क्षमा प्रदान करते हैं मन वचन कायमे पूर्ण योग्यता आनेपर मार्गानुसारी का पहला कर्तव्य है कि वह क्षमा रखना न भूले अतः पहला आदेश क्षमा है इसका उम्मीदवार जाति पांति तक मे से वैर का जहर निकाल कर वाहर फैंक देता है शान्ति और सहिष्णुता के साँचे मे ढल जाता है। सदैव इसी ध्यान मे रहता है कि अंतमें मर जाना निश्चित है तथा यहां रहना अनिश्चित है अतः क्रोध की अवधिको न वढ़ाओ।

आतमा की वृति को वापिस मोड़ो। इस पर वहुत से यह कहते हैं कि क्या करें अमुक ने मेरा कितना वुरा कर दिखाया है, उस की क्रूर-घटना दिल से भुलाई नहीं जा सकती, अन्तर मे घाव की तरह कसक रहा है। ऐसों को वीर प्रभु कहते है कि ये किसी प्रकार भी वीरत्व के अधिकारी नहीं, वल्कि जहरीले विच्छू के समान डक मारने वाले हैं ऐसों से पद पद पर सतर्क रहना चाहिए प्रभो! आप के ये सकेत भावपूर्ण हैं तथा हम इन्हें पद्धति पूर्वक (क्रमशः) समझ पाए है। यही कारण है कि सव से पहले आपने उपशम भाव रखना आवश्यक वतलाया है। उपशम के अनन्तर

आपने विवेक रखने का संकेत किया है।

जड़ और चैतन्य के अन्तर्गत भेद पैदा करो। इस प्रकार जिस पर आपने स्वयं लक्ष्य रक्खा है वही कह सुनाया। विवेकके अनन्तर व्रत या प्रत्याख्यान को स्वीकार करने का कथन किया है। इस साधन से पाप-आस्रव और बंध का सर्वथा नाश होता है।

चौथा साधन संसार भाव को सर्वथा त्याग कर आत्मा मे स्थिर होना कहा है। स्थिर (सम्यक्त्वी) रहने वाला पुरुष शान्त हो सकता है। प्रभो! आपने इस रीति से जैन-शासन का जो भी तत्व-रहस्य समझाया है उसका यह सार है जिसे मैंने ठीक तरह समझ कर निर्धारण किया है। प्रभो! आप की वाणी की बलिहारी है। मैं इसे अपना सच्चा हृदय प्रदान करता हूं। आप की वाणी और मेरा मन तथा प्रकृत ज्ञान यह त्रिवेणी तीर्थ किसी भाग्यशाली के हिस्से मे ही आता है।



ग्रन्थ में आये हुए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

परिशिष्ट

[अ]

अरिहंत या अर्हन्

'अरि' अर्थात् शत्रुओं को 'हननात्' यानी नाश करने से 'अरिहंत' संज्ञा होती है। नरक-तिर्यंच-कुमनुष्य और प्रेतादि पर्यायों मे निवास करने के कारण आने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह अरि=शत्रु के समान है।

प्रश्न—मात्र मोह को अरि मानने पर शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है ?

उत्तर—यह बात नहीं है, क्योंकि बाकी के सब कर्म मोह के आधीन है, मोह के बिना शेष कर्म अपने अपने कार्य की उत्पत्ति मे व्यापार करते हुये नहीं पाए जाते जिस से कि वे भी अपने कार्य मे स्वतंत्र समझे जायें। इस लिये वास्तविक अरि मोह है और बाकी कर्म उस के आश्रय मे है।

प्रश्न—मोह का नाश होने पर भी बहुत काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती ही है अत एव उनको मोह के आश्रय मानना उचित नहीं जान पड़ता ?

उत्तर—'यह समझना ठीक नही है' क्योंकि मोहरूप अरिके नष्ट होने पर जन्म-मरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में न रहने से उन कर्मों का स्वत्व असत्व के समान होजाता है।

तथा केवल ज्ञानादि सम्पूर्ण आत्म-गुणों के आविर्भाव के रोकने मे समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रु के नाश करने से 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है। अथवा—

रज अर्थात् आवरण-कर्मों का नाश होने से भी 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूल की भॉति बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकाल के विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबंधक होने से रज कहलाते हैं, मोह को भी रज कहते हैं क्योंकि जिस प्रकार जिन का मुँह रेत से भरा होता है उन मे कार्य की मंदता देखी जाती है उसी भांति मोह से जिन का आत्मा व्याप्त है उन के अन्तर मे भी मंदता होती है। उन की अपनी स्वानुभूति मे कालुष्य-मांद्य और कुटिलता पाई जाती है।

प्रश्न—यहां मात्र तीनों (मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरण) कर्म के विनाश का ही उपदेश क्यों दिया गया है ?

उत्तर—शेष सब कर्मों का विनाश भी इन तीन कर्मों के विनाश का अविनाभावी है अर्थात इन तीन कर्मों के नष्ट होने पर बाक़ी कर्मों का नाश अवश्यंभावी है। इस प्रकार उनका नाश करने से अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा 'रहस्य' के अभाव से भी 'अरिहंत' संज्ञा होती है। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन

घातिक कर्म के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के क्षय होने पर अघातिक कर्म भुने बीज के सदृश दुर्बल होजाते हैं अतः अन्तराय-कर्मके नाशसे 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा सातिशाय सपर्या के योग्य होने से 'अर्हन्' संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि गर्भ-जन्म दीक्षा-केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकों मे देवों द्वारा की गई भक्ति देव-असुर-और मनुष्यों को प्राप्त सेवा से वे अधिक-महान्-हैं अत. इन सब अतिशयों के योग्य होने से 'अर्हन्' संज्ञा जानना चाहिए।

अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-शक्ति, अनन्त-विरति,क्षायिक-सम्यक्त्व,क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिकभोग, और क्षायिक उपभोग आदि प्रगटित अनन्तगुण-स्वरूप होने से जिन्हों ने यहीं पर सिद्ध स्वरूप [आत्मा का साक्षात्कार] प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये सूर्य-बिंब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्हों ने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) मे ही सम्पूर्ण प्रमेय रहने के कारण [प्रतिभासित होने से] जो विश्वरूपता को प्राप्त होगए है, संपूर्ण आमय यानी रोगों के दूर होजाने के कारण निरामय है,सपूर्ण पाप नामी अंजन के समूहके नष्ट होने से निरंजन है और दोषों की कलाएँ अर्थात् सम्पूर्ण दोषो से रहित होने के कारण निष्कल है वे ही 'अरिहत, हैं।

अथवा जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञान-समुद्रसे उत्तीर्ण (पार) होगये है, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक तरह की बाधा-पीड़ाओं से रहित है, जो अचल है, जिन्हों ने कामदेव के प्रताप को दलित

उत्तर—'यह समझना ठीक नहीं है' क्योंकि मोहरूप अरिके नष्ट होने पर जन्म-मरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में न रहने से उन कर्मों का स्वत्व असत्व के समान होजाता है।

तथा केवल ज्ञानादि सम्पूर्ण आत्म-गुणों के आविर्भाव के रोकने में समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रु के नाश करने से 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है। अथवा—

रज अर्थात् आवरण-कर्मों का नाश होने से भी 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूल की भाँति बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकाल के विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबंधक होने से रज कहलाते हैं, मोह को भी रज कहते हैं क्योंकि जिस प्रकार जिन का मुँह रेत से भरा होता है उन मे कार्य की मंदता देखी जाती है उसी भांति मोह से जिन का आत्मा व्याप्त है उन के अन्तर में भी मंदता होती है। उन की अपनी स्वानुभूति में कालुष्य-मांद्य और कुटिलता पाई जाती है।

प्रश्न—यहां मात्र तीनों (मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरण) कर्म के विनाश का ही उपदेश क्यों दिया गया है?

उत्तर—शेप सब कर्मों का विनाश भी इन तीन कर्मों के विनाश का अविनाभावी है अर्थात् इन तीन कर्मों के नष्ट होने पर बाकी कर्मों का नाश अवश्यंभावी है। इस प्रकार उनका नाश करने से अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा 'रहस्य' के अभाव से भी 'अरिहंत' संज्ञा होती है। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते है। अन्तराय कर्मका नाश शेप तीन

घातिक कर्म के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के क्षय होने पर अघातिक कर्म भुने बीज के सदृश दुर्बल होजाते हैं अत: अन्तराय-कर्मके नाशसे 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा सातिशाय सपर्या के योग्य होने से 'अर्हन्' संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि गर्भ-जन्म दीक्षा-केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकों मे देवों द्वारा की गई भक्ति देव-असुर-और मनुष्यों को प्राप्त सेवा से वे अधिक-महान्-हैं अत: इन सब अतिशयों के योग्य होने से 'अर्हन्' संज्ञा जानना चाहिए।

अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-शक्ति, अनन्त-विरति,क्षायिक-सम्यक्त्व,क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिकभोग, और क्षायिक उपभोग आदि प्रगटित अनन्तगुण-स्वरूप होने से जिन्हों ने यहीं पर सिद्ध स्वरूप [आत्मा का साक्षात्कार] प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये सूर्य-बिंब के समान जो दैदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्हों ने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) मे ही सम्पूर्ण प्रमेय रहने के कारण [प्रतिभासित होने से] जो विश्वरूपता को प्राप्त होगए हैं, संपूर्ण आमय यानी रोगों के दूर होजाने के कारण निरामय हैं,सपूर्ण पाप नामी अंजन के समूहके नष्ट होने से निरंजन हैं और दोषों की कलाएँ अर्थात् सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण निष्कल हैं वे ही 'अरिहंत, है।

अथवा जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञान-समुद्रसे उत्तीर्ण (पार) होगये है, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक तरह की बाधा-पीड़ाओं से रहित हैं, जो अचल है, जिन्हों ने कामदेव के प्रताप को दलित

कर दिया है, जिन्होंने तीनो कालोंको विषयकरणरूप तीन आँखों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, जिन्होंने 'त्रिपुर' अर्थात् मोहराज-कामराज-मृत्युराजके नगरों को भली भांति भस्म कर दिया है, जो मुनि व्रती अथवा मुनिओं के स्वामी हैं, जिन्हों ने सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूलों को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबंधवृन्द का हरण किया है, जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय का भी अन्त कर दिया है, ऐसे अर्हन [अरिहंत] परमेष्ठी कल्याण और मंगल रूप होते है।

अजीव या जड़

मोक्ष मार्ग में मुख्य अभिप्राय केवल ज्ञानादि गुण सम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझना है परन्तु जिस प्रकार सोने की परख का ज्ञान कराने के लिये सोने के अतिरिक्त पीतल आदि का स्वरूप बताना अथवा हीरे की परीक्षा का ठीक रहस्य समझाने के लिये काच की परीक्षा करना आवश्यक है उसी भांति जीव पदार्थ का स्वरूप दृढ़ करने के लिये अजीव पदार्थ का जानना आवश्यक है। अजीव या जड़ पदार्थ जीव पदार्थ से सर्वथा भिन्न है अर्थात जीव का लक्षण चेतना और अजीव का लक्षण अचेतना है। यह अचेतन पदार्थ पुद्गल आकाश धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और काल के नाम से पांच प्रकार का है। उनमें से अन्त के चार अरूपी पदार्थ और पहला पुद्गल पदार्थ रूपी अर्थात् इन्द्रिय गोचर है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श रस गंध और वर्ण वाला है। यह जीव द्रव्य के चिन्हों से बिल्कुल अलग [निराली] वस्तु है। जीव सचेतन है तब पुद्गल अचेतन है, जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी

है। जीव अखड है तो पुद्गल सखंड है । अधिकांश जीव को ससार मे घुमाने मे पुद्गल ही निमित्त कारण है, इस पुद्गलमय शरीर से प्रतिबद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मों से वह सब आत्म प्रदेशों मे बंधा है, इन्हीं पुद्गलों के निमित्त से उसकी अनन्त शक्ति ढंकी हुई है । इन्हीं पुद्गलों के निमित्त से उसमे विभाव उत्पन्न होते हैं। अज्ञान के उदय मे वह इन्हीं पुद्गलों से रागद्वेष करता है, तथा इन्हीं पुद्गलों मे इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। अगर पुद्गल न होते तो आत्मा मे अन्य वस्तु का संबंध न होता, न उसमे विकार अथवा रागद्वेष ही होता न संसार भ्रमण । संसार मे जितनी विडम्बना है वह सब पुद्गल जनित है।

यदि तुम कहीं चिऊटी से दबाओ तो तुम्हें बोध होगा कि हमे दबाया है, हमे दुःख का बोध होता है, बस यह जानने की शक्ति रखने वाला जीव है और वह तुम स्वयं हो चेतन्य नित्य आत्मा हो। आत्मा के अतिरिक्त एक और पदार्थ जिसे तुमने चिऊटी से दबाया है वह नर्म २ और काला सा कुछ खारा सा कुछ सुगंध-दुर्गंधवाला सा प्रतीत होता है उसे शरीर कहते है। यह शरीर जड़ अचेतन नाशवान् पर पदार्थ और आत्म स्वभाव से भिन्न है। इस शरीर से अहं बुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीर संबधी धन स्त्री पुत्रादि को अपना समझना मिथ्या ज्ञान है। लक्षण भेद के द्वारा निज आत्मा को स्व और आत्मा से रहित सब अचेतन पदार्थों को पर जानना भेद विज्ञान है, जिसका अपर नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी को अलग २ कर देता है उसी प्रकार विवेक के द्वारा जीव व पुद्गल को पृथक्करण करना पद्गलों से अह बुद्धि अथवा राग-द्वेष हटा कर निज स्वरूप मे लीन होना चाहिये, और "तेरो घट सर तामें तुही है कमल

ताको तुही मधुकर है स्वचास पहचान रे" वाली शिक्षा का निरन्तर अभ्यास बढ़ाना आवश्यक है।

[आ]

आचार्य

जो ज्ञान दर्शन चरित्र तप और वीर्य का स्वयमेव आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्या स्थानों के पारंगत ग्यारह अंग शास्त्र धारक अथवा आचारांग निशीथ मात्र के धारक अथवा तत्कालीन स्वसमय और पर समय में प्रवीण मेरु के समान निश्चल पृथ्वी के समान सहनशील जिन्होंने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर कर दिया हो और जो सात प्रकार के भय से रहित हो उन्हें आचार्य कहते हैं।

प्रवचन रूपी समुद्र के जल मध्य मे स्नान करने से पानी परमागम के पूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर है, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य आकार तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, वे आचार्य पद के योग्य हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देने मे कुशल हैं, जो सूत्र परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और साधन यानी व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं मे निरन्तर उद्युक्त हैं वे आचार्य होते हैं।

आस्रव

राग-द्वेष और मोह ये भाव आस्रव हैं और अशुद्ध आत्मा के द्वारा कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्य आस्रव है। तथा इन द्रव्य आस्रव और भाव आस्रव से रहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान का उदय होते ही जीव का वर्तमान ज्ञान सम्यग्ज्ञान है इस सम्यग्ज्ञान की दशा मे आस्रव का अभाव है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हो तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अन्तरंग मे सम्यग्दर्शन का उदय होने से वे शरीर आदि में अहं-बुद्धि नही रखते और विषयादि मे तल्लीन नहीं होते। यद्यपि बाह्य दृष्टि से लोगों के देखने मे मिथ्या दृष्टि और अव्रती सम्यग्दृष्टिओं की विषय भोग परिग्रह संग्रह आदि की प्रवृत्ति समान दिखती है परन्तु दोनों के परिणामों मे बड़ा अन्तर होता है, अज्ञानियों की शुभ-अशुभ क्रिया फल की अभिलाषा सहित होती है और ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया फलकी अभिलाषा से शून्य रहती है, इसलिये अज्ञानिओं की क्रिया आस्रव के हेतु और ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा के अर्थ होती है, जिनके ज्ञान और वैराग्य की यह महिमा है। जिस प्रकार रोगी अरुचि होने पर भी औषध सेवन करता है इसी भांति ज्ञानियों के उदय बल से आसक्ति रहित भोगे हुये भोगों मे और आमोद प्रमोद के लिये गृद्धि-युक्त अज्ञानियों के भोगों मे बड़ा अन्तर है।

आस्रव का दौरदौरा तेरहवें गुण स्थान तक योगों की प्रवृत्ति होने से रहता है और चौथे गुण स्थान मे तो सत्तर प्रकृतियों का बंध कहा है, फिर सम्यग्दृष्टि जीवों को अव्रत की दशा मे जो

निरास्रव कहा है उसका अभिप्राय यह है कि अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है और उसके साथ अनुबंध करने वाली अनन्तानुबंधी चौकड़ी का उदय सम्यक्त्व की दशा में नहीं रहता इसलिये मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी जनित इकतालीस प्रकृतियों का तो संवर ही रहता है, । शेष प्रकृतियों का बहुत ही कम अनुभाग व स्थिति में बंध होता है और गुण श्रेणी निर्जरा का आरंभ होता है इसलिये अज्ञानीके सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण और तीव्रतम अनुभाग के समक्ष ज्ञानी का यह बंध किसी गिनती में नही है । इसलिये ज्ञानियों को निरास्रव कहा है । वास्तव मे मिथ्यात्व ही आस्रव है और वह सम्यक्त्व के उदय में नहीं रहता आस्रव विभाव परिणति है, पुद्गल मय है, पुद्गल जनित है, आत्मा का निज स्वभाव नही है ऐसा जान कर ज्ञानी लोग अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं और अतुल अखंड अविचल अविनाशी चिदानन्द रूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करते है ।

आहार

औदारिकादि शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड के ग्रहण करने को आहार कहते हैं, कहा भी है कि औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से उदय को प्राप्त हुए किसी एक शरीर के योग्य तथा भाषा और मन के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को जो नियम से ग्रहण करता है उसको भी आहारक कहते हैं । औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गल पिंड के ग्रहण न करने को अनाहारक कहते हैं ।

कहा है कि विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गति के जीव, प्रतर और लोक पूरण समुद्घातको प्राप्त हुए सयोगी केवली

तथा अयोगी केवली और सिद्ध ये नियम से अनाहारक होते हैं, शेष जीवों को आहारक समझना चाहिये।

[६]

इन्द्रिय

जो प्रत्यक्ष मे काम करे उसे इन्द्रिय कहते हैं, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है, अक्ष इन्द्रिय को कहते है और जो अक्ष-अक्ष के प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियों का विषय अथवा इन्द्रिय जन्य ज्ञान रूप पड़ता है। उस इन्द्रिय विषय अथवा इन्द्रिय ज्ञान रूप प्रत्यक्ष मे जो व्यापार करती है उन्हे इन्द्रिय कहते हैं। वे इन्द्रियां शब्द रूप रस गंध और स्पर्श नाम के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियों के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है इस लिये भावेन्द्रियाँ कारण है और द्रव्येन्द्रियां कार्य है और इस लिये द्रव्येन्द्रियों को भी इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। अथवा उपयोगरूप भावेन्द्रियों की उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियो के निमित्त से होती है इस लिये भावेन्द्रिया कार्य है और द्रव्येन्द्रिया कारण हैं। इस लिए भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रियसंज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है क्योंकि कार्यगत धर्म के कारण मे और कारणगत धर्म के कार्य मे उपचार जगत् मे प्रसिद्धरूप से पाया जाता है। अथवा इन्द्रियाँ अपने अपने विषयमे रत है, ऐसा लक्षण कहना चाहिये। अपने अपने विषय को स्वविषय कहते है, उस मे जो निश्चय से अर्थात् अन्य इन्द्रिय के विषय मे प्रवृत्ति न करके केवल अपने

विषय मे ही रत हैं उन्हे इन्द्रिय कहते है।

प्रश्न—संशय और विपर्यय रूप ज्ञान की अवस्था मे निर्णयात्मक रति अर्थात प्रवृत्ति का अभाव होने से उस अवस्था मे आत्मा को अनिन्द्रियत्व की प्राप्ति हो जायगी ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि रूढि के बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन दोनों अवस्थाओं में इन्द्रिय शब्द की प्रवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

अथवा अपनी अपनी वृत्ति मे जो रत है उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं। इस का स्पष्ट-निर्णय यह है कि संशय और विपर्ययज्ञान के निर्णयादि करने मे जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति कहते हैं। उस अपनी अपनी वृत्ति मे जो रत है उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न—जब इन्द्रिया अपने विषय में व्यापार न करे तो उन्हें व्यापार रहित अवस्था मे इन्द्रसंज्ञा प्राप्त न हो सकेगी ?

उत्तर—यह न कहो, क्योंकि रूढि के बल से ऐसी अवस्था में भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है।

अथवा—जो अपने अर्थ मे निरत हैं उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं। 'अर्यते' अर्थात् जो निश्चित किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। उस अपने विषयरूप अर्थ में जो व्यापार करे उन्हें भी इन्द्रियां कहते हैं। इन्द्रियों का यह निर्दोष लक्षण होने के कारण इस विषय मे अधिक कुछ वक्तव्य नहीं है। अर्थात् इन्द्रियों का यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषो को यहां अवकाश प्राप्त नहीं है।

अथवा अपने२ विषय का स्वतन्त्र आधिपत्य करने से इन्द्रियां कहलाती हैं। कहा भी है कि-जिस प्रकार नव ग्रैवेयकादि मे उत्पन्न देव परस्पर स्वामी सेवक भाव से रहित होने के कारण सब देव अपने को स्वामित्व सिद्ध करते है उसी भांति सब इन्द्रियां भी अपने

अपने स्पर्शादि विषय का ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित है अत एव अहमिन्द्रों की तरह इन्द्रियों को भी स्वतन्त्र जानना चाहिये।

[उ]

उपाध्याय

चौदह विद्या-स्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय हैं। वे सग्रह अनुग्रह आदि गुणों को छोड़ कर आचार्य वाले समस्त गुणों के अधिपति होते हैं अर्थात् जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र मे प्रवेश करके, परमागम का अभ्यास करके मोक्ष मार्ग मे स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों [मुनियों] को उपदेश देते हैं उन मुनीश्वरों को उपाध्याय कहते हैं।

[क]

कषाय

सुख दुःख रूपी नाना प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करते हैं अर्थात् फल उत्पन्न करने के योग्य करते है उन्हें कषाय कहते हैं।

प्रश्न—'कषन्तीति कषाया:' अर्थात् जो कसें उन्हें कषाय कहा जाता है ऐसी व्युत्पत्ति क्यों न की ?

उत्तर—'कसें उन्हें कषाय कहते हैं' ऐसी व्युत्पत्ति करने पर कषने वाले किसी भी पदार्थ को कषाय मान लिया जायगा अत:

कषायों का स्वरूप समझने में संशय उत्पन्न हो सकता है इस लिये यह व्युत्पत्ति उचित नहीं है। तथा उक्त व्युत्पत्ति से कषायों का स्वरूप समझने में कठिनता भी पड़ेगी। कहा भी है कि सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिस की संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र को जो कृषण करे वह कषाय है।

कर्ता-कर्म-क्रिया

क्रिया करने को-किया जाय वह कर्म तथा जो करे वह कर्ता है। अभिप्राय यह कि क्रिया का व्यापार करने वाला कर्ता कहलाता है, जिसमें क्रिया का फल रहता है यानी किये हुये काम को कर्म कहते हैं। जो कार्यवाही की जाय वह क्रिया है। जैसे कुम्हार घड़े का कर्ता है, घड़ा बनाना कर्म है और उसके बनाने की विधि क्रिया है अथवा ज्ञानदास आम तोड़ता है इस वाक्य में ज्ञानदास कर्ता है, आम कर्म है और तोड़ना क्रिया है।

यह स्मरण रहे कि ऊपरके दो दृष्टान्तोंसे जो स्पष्ट किया है वह भेद विवक्षा की अपेक्षा से है क्योंकि कुम्हार कर्ता अलग पदार्थ है, घट कर्म अलग वस्तु है, घट सृष्टि की क्रिया पृथक् है। इसी भांति दूसरे वाक्य में ज्ञानदास कर्ता अलग है आम कर्म पृथक् है और तोड़ने की क्रिया भिन्न है। जैसे भेद-व्यवहार में कर्ता कर्म क्रिया भिन्न २ रहते हैं वैसे अभेद दृष्टि में नहीं होते एक पदार्थ में ही कर्ता कर्म क्रिया ये तीनों रहते हैं। जैसे कि "चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहाँ" अर्थात् चिदेश आत्मा कर्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना [जानना] क्रिया है, अथवा मृत्तिका कर्ता, घट कर्म और मृत्तिकाका पड़ पिर्याय

से घटपर्याय रूप होना क्रिया है। इस अधिकार मे कर्ता-कर्म-क्रिया शब्द कही भेद दृष्टि से और कहीं अभेद दृष्टि से आये हैं, इन्हें खूब गभीरता पूर्वक विचार बल से समझना चाहिये।

अज्ञान की दशा मे जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति को अपनी मानता है और उनका कर्ता आप बनता है परन्तु यह ध्यान रहे कि लोकमे अनन्त पौद्गलिक कार्मण वर्गणाएँ भरी पडी है, इन कार्मण वर्गणाओ मे ऐसी शक्ति है कि आत्मा के राग द्वेष का निमित्त पाकर वे कर्मरूप होजाती हैं। इस से स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्गल रूप है-अचेतन हैं इनका कर्ता भी पुद्गल ही है-आत्मा नही है। हा राग-द्वेष और मोह आत्मा के विकार अवश्य हैं। ये आत्म जनित हैं या पुद्गल जनित है इसका समाधान आगम सूत्रों से समझें। वह संक्षेप से इस प्रकार है कि जैसे सन्तान मात्र माता या पिता से उत्पन्न न होकर दोनों के सयोग से सन्तान की उत्पत्ति है। उसी भाति राग-द्वेष और मोह न केवल इकले आत्मा से उत्पन्न होते है और न इकले पुद्गल से ही उत्पन्न होते है वल्कि जीव और पुद्गल दोनो के संयोग से राग-द्वेष और मोह भाव से कर्म की उत्पत्ति है। यदि अकेले पुद्गल से राग-द्वेष उत्पन्न होते तो कलम-कागज-ईंट-पत्थर आदिमें भी राग-द्वेष और मोह पाये जाते, यदि इकले आत्मा से ही उत्पन्न होते तो सिद्ध आत्मा मे भी राग-द्वेष मिलते, अधिक क्या कहें ये तीनों उभय संयोगी है। जीव पुद्गल परस्पर एक दूसरे के लिये निमित और नैमित्तिक है किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा राग-द्वेष और मोह पुद्गलजनित ही सिद्ध है। ये आत्माके निज स्वरूप नहीं है। इसी तरह शुभाशुभ क्रिया पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव मे होती है। अतः क्रिया भी पुद्गल जनित है। साराश यह कि

शुभाशुभकर्म या शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना और उन दोनों का कर्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रिया का कर्ता है और पौद्गलिक कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है। मिथ्यात्व के उदयसे जीव साता असाता आदि कर्म और दया दान दम शम या विषय कषाय आदि शुभा शुभ क्रिया में अहं बुद्धि करता है कि मेरे कर्म हैं मेरी क्रिया है, यह मिथ्या भाव है, बंध का कारण है, बंध परम्परा को बढ़ाता है, और शुभाशुभ क्रिया में अहं बुद्धि न करना अर्थात् अपना न मानना और उनमे तन्मय न होना सम्यक् स्वभाव और निर्जरा का कारण है।

काय

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, परन्तु ऐसी व्याप्ति करनेपर कायके अतिरिक्त ईट पत्थर आदि के संचय रूप विपक्ष मे भी यह व्याप्ति घट जायगी इसलिये व्यभिचार दोष आता है। इस शंकाको मिटाने के लिये आचार्यवर्य्य कहते हैं कि ईट आदि के संचय के साथ व्यभिचार दोष नहीं आता क्योंकि पृथ्वी आदि कर्मों के उदय से इतना विशेषण जोड़ कर ही 'जो संचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं यहीतो व्याख्या की है।

प्रश्न—पुद्गल विपाकी औदारिकादि कर्मों के उदय से 'जो संचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों न की ?

उत्तर—यह नहीं, क्योंकि सहकारीरूप पृथ्वी आदि नामकर्म का अभाव रहने पर केवल औदारिकादि नाम कर्म के उदय से नो कर्म वर्गणाओं का संचय नहीं हो सकता।

प्रश्न—कार्मणकाययोगमे स्थित जीवके पृथ्वी आदि के द्वारा संचित हुये नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायत्व प्राप्त होजायगा?

उत्तर—यह न समझें, क्योंकि नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचय का कारण पृथिवी आदि कर्मसहकृत औदारिकादिक नामकर्मका उदय कार्मणकाययोगरूप अवस्था मे भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्था में भी कार्यत्व का व्यवहार बन जाता है ।

अथवा योगरूप आत्मा की प्रवृति से संचित होने वाले औदारिकादि पुद्गलपिडको काय कहते हैं ।

प्रश्न—काय का यह लक्षय करनेपर भी पहले जो दोष दिया गया है वह दूर नहीं होगा ? अर्थात् इस प्रकार भी जीवके कार्मण काययोगरूप अवस्था मे अकायत्व की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—यह न कहो, क्योंकि योगरूप आत्मा की प्रवृति से संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिंड का कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है अर्थात् जिस समय आत्मा कार्मणयोगकी अवस्था मे होता है उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका सद्भाव रहता ही है अतः इस अपेक्षा से उस मे कायत्व स्वयं सिद्ध है ।

प्रश्न—कार्मणकाययोगरूप अवस्था मे योगरूप आत्मा की वृति से सचय प्राप्त नोकर्म पुद्गलपिंडका असत्व होनेके कारण कार्मणकाययोग मे स्थित जीव के 'काय' यह व्यपदेश नही बन सकता ?

उत्तर—नोकर्म पुद्गलपिड के संचय के कारणभूत कर्म का कार्मणकाय योगरूप अवस्था मे सद्भाव होने से कार्मणकाययोग मे स्थित जीवके 'काय यह सज्ञा बन जाती है । कहा भी है कि योगरूप आत्मा की प्रवृत्तिसे सचय प्राप्त औदारिकादिरूप पुद्गलपिंडको काय

समझना चाहिये। यह काय जिनमतमे पृथ्वी काय आदि के भेद से छः प्रकार का कहा गया है और वे पृथिवी आदि छह काय मे त्रसकाय और स्थावर काय के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जिस प्रकार बोझ ढोनेवाला पुरुष कावड़ को लेकर भार को ढोता है उसी प्रकार यह जीव शरीररूपी कावड़को लेकर कर्मरूपी बोझ को ढोता रहता है।

(आ)

गति

जो प्राप्त कीजाय उसे गति कहते हैं, गतिका ऐसा लक्षण करने से सिद्धोंके साथ अति व्याप्ति दोष भी नहीं आता, क्योंकि सिद्धों के द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणों का अभाव है यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जाय वह भी नहीं बनता क्योंकि केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मा में प्राप्य प्रापक भावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावो को ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है परन्तु वे सिद्धों मे नही पाये जाते। इस लिये सिद्धों के साथ तो अतिव्याप्ति दोप नही आता।

प्रश्न—'जो प्राप्त कीजाय उसे गति कहते हैं' गति का ऐसा लक्षण करनेपर गमनरूप क्रियामे परिणत जीव के द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिक को भी गति संज्ञा प्राप्त हो सकती है क्योंकि गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते है ?

उत्तर—यह अनुचित है, क्योकि गतिनामकर्मके उदय से जो आत्मा के पर्याय उत्पन्न होते है वह आत्मा से कथंचित भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है और इसीलिये प्राप्ति रूप क्रिया के

कर्मवत्ता को प्राप्त नरकादि आत्म-पर्याय के गतित्व को मानने में पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अथवा एक भवसे दूसरे भव मे जानेको गति कहते हैं। ऊपर जो गति नामी नामकर्मके उदय से प्राप्त होनेवाली पर्याय विशेषको अथवा एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाने को गति कह आये हैं, ठीक इस से विपरीत-स्वभाव वाली सिद्ध गति होती है, कहा भी है कि गति नामी नामकर्म के उदय से जो जीव की चेष्टा विशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहतेहैं, अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गतिरूप संसार मे जाताहै उसे गति कहते है।

गुणस्थान

प्रश्न—जीव किसमे निवास करते है?

उत्तर—जीव ज्ञानादि गुणोंमे रहते है।

प्रश्न—उन गुणों के नाम क्या क्या है?

उत्तर—औदयिक-औपशमिक- क्षायिक- क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पांच गुण या भाव है,इनका स्पष्ट विवरण इसप्रकार है। जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक-भाव कहते है जो कर्मों के उपशमसे होता है उसे औपशमिक-भाव कहते है। है। जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक-भाव कहते है। जो वर्तमान समय मे सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और अनागतकाल मे उदयमे आनेवाले सर्वघाती स्पर्धको के सदवस्था-रूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं। जो कर्मों के उदय उपशम-क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा के विना जीव के स्वभाव मात्र से उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते है। इन गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त

होता है। कहा भी है कि,

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय उपशम आदि अवस्थाओं के होनेपर समुत्पन्न जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं सर्वज्ञदेवने उन जीवों का गुण संज्ञक कहा है।

पहला मिथ्यात्व गुणस्थान

पहली भूमिकाम रहने वाले जीवों की मिथ्यादृष्टि सज्ञा है। मिथ्या वितथ-व्यलीक और असत्य ये सब एकार्थवाचक नाम है। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन अथवा श्रद्धान है इसका यह तात्पर्य है कि जिन जीवों के विपरीत एकान्त विनय संशय और अज्ञान-रूप मिथ्यात्व कर्मके उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते है।

जितने भी वचन मार्ग है उतने ही नय-वाद अर्थात् नयके भेद होते हैं और जितने नय के भेद (नयवाद) है उतने ही परसमय [अनेकान्त-बाह्यमत] होते हैं।

इस वचन के अनुसार 'मिथ्यात्व के पांच ही भेद हैं' यह नियम नहीं है किन्तु मिथ्यात्व पांच प्रकार का है यह कथन उपलक्षणमात्र है। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि श्रद्धा या प्रत्यय है इसलिये जिन जीवों की रुचि असत्यमे होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते है। कहा भी है कि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभाव का अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला होता है जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा नहीं लगता।

जो मिथ्यात्वकर्म के उदय से तत्वार्थ के विषय मे अश्रद्धान

उत्पन्न होता है अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके पांच भेद कहे हैं, जैसे अभिगृहीत अर्थात् एकान्त मिथ्यात्व, अभिनिवेषिक यानी विपरीत मिथ्यात्व, अनभिगृहीत अर्थात् विनय मिथ्यात्व, चित्तको भवॅरमे पड़े हुये जहाज के समान डावॉडोल करनेवाला साशयिक मिथ्यात्व-अनाभोगिक अर्थात् अज्ञान मिथ्यात्व-यह सर्वथा असावधानीका पुतला है। ये पांचों मिथ्यात्व जीव का ससारचक्र मे भ्रमण कराने वाले है और इन के नष्ट हाने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

एकान्त मिथ्यात्व

जो किसी एक नय का हठ ग्रहण करके उसी मे लीन होकर अपने को तत्ववेत्ता कहता है वह पुरुष एकान्तवादी अर्थात् साक्षात् मिथ्यात्वी है।

विपरीत मिथ्यात्व

जो आगम कथित मार्गका खडन करके स्नान छुवाछूत जड़पूजा पर्वत नदी आदि मे यात्रा करके धर्म बतलानेवाला जो अपना मन कल्पित पाखंड पुष्ट करता है या अपनी नामवरी के लिये बड़ा बना फिरता है वह जीव विपरीत मिथ्यात्वी है।

विनय मिथ्यात्व

जो सुगुरु सुदेव और सद्धर्म और कुगुरु कुदेव और कुधर्मको समान गिनता है और विवेक रहित होकर सबकी भक्ति वन्दना करता है वह जीव विनय मिथ्यात्वी है।

संशय मिथ्यात्व

जो जीव अनेक कोटिका अवलंबन करके चंचल चित्त रहता है और स्थिर चित्त होकर पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता वह संशय मिथ्यात्वी है।

अज्ञान मिथ्यात्व

जिसको शारीरिक कष्ट के उद्वेग से अपनी किञ्चिन्मात्र भी सुध नहीं है और सदैव तत्वज्ञान से अनभिज्ञ रहता है, वह जीव अज्ञानी है साक्षात पशु के समान है।

सादि मिथ्यात्व

जैन सिद्धान्त मे जो ये मिथ्यात्व वर्णित है उनके सादि और अनादि से दो प्रकार भी बताए है, जैसे जो जीव दर्शनमोहनीय का दल अर्थात मिथ्यात्व-सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति को उपशम करके मिथ्यात्व गुणस्थान से चढ़कर सम्यक्त्व का स्वाद लेता है और फिर मिथ्यात्वमे गिरता है वह सादि मिथ्यात्वी है।

अनादि मिथ्यात्व

जिसने मिथ्यात्व का कभी भी अनुदय नही किया, सदैव शरीरादि से अहं बुद्धि रखता रहा है वह जड़ जड उपासक आत्म ज्ञान से शून्य अनादि मिथ्यात्वी है।

दूसरा सासादन गुणस्थान

सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं। आसादन से

युक्त को सासादन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी के किसी एक कषाय के उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट होगया है किन्तु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से समुत्पन्न मिथ्यात्व रूप परिणामों को न पासका हो तो भी मिथ्यात्व कर्म के अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं।

प्रश्न—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व कर्म का उदय न होने से मिथ्यादृष्टि नही है, समीचीन रुचिका अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनों को विषय करने वाली सम्यक् मिथ्यात्व रूप रुचिक अभाव होने से सम्यद् मिथ्या दृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है ही नहीं, क्यों कि समीचीन-असमीचान और उभयरूप दृष्टिके अवलम्बनभूत वस्तु के अलावा दूसरी कोई वस्तु नही पाई जाती अतः सासादेन-गुणस्थान असत्स्वरूप ही है अर्थात् सासादन नाम का कोई स्वतन्त्र गुणस्थान न मानना चाहिये ?

उत्तर—सासादन गुणस्थान मे विपरीत अभिप्राय रहता है इसलिये उसे असद्दृष्टि ही समझना उचित है।

प्रश्न—यही सही फिर भी इसे मिथ्यादृष्टि ही समझा जायगा सासादन संज्ञा बनाना निरर्थक है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चरित्र का प्रतिबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से समुत्पन्न विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान मे पाया जाता है इस लिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता, इस लिये उसे मिथ्यादृष्टि नही कहा जाता, केवल सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

कुछ विशेष—विपरीताभिनवेश दो तरह का है अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्व जनित इनमे से दूसरे गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी जनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है इसलिये इसे मिथ्यात्व गुण स्थान से अतिरिक्त स्वतन्त्र गुणस्थान माना गया है।

प्रश्न—ऊपर के कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्या दृष्टि संज्ञा क्यों न दी गई ?

उत्तर—सासादन गुण स्थान को स्वतन्त्र कहने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का द्विस्वभावता का कथन सिद्ध होता है।

सरलाशय—सासादान गुणस्थान को स्वतन्त्र मानने का फल जो अनन्तानुबन्धी की द्विस्वभावता बताई है वह द्विस्वभावता दो प्रकारकी है, एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चरित्र इन दोनों की प्रतिबंधक मानी गई है और यही उसकी द्विस्वभावता है। इसी कथन की पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र मानकर की है। दूसरे अनन्तानुबन्धी जिस प्रकार सम्यक्त्व के विघात मे मिथ्यात्व प्रकृति का काम करती है, उसी प्रकार वह मिथ्यात्व के उत्पाद मे मिथ्यात्व प्रकृति का काम नहीं करती है। इस प्रकार की द्विस्वभावता को सिद्ध करनेके लिये सासादनगुण स्थान को स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीय के उदय-उपशम-क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादनरूप परिणाम तो नही होते जिस से कि सासादन-गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा

'अथवा' जिस प्रकार भूखा मनुष्य शक्कर मिली खीर खाने और वमन होने के बाद उसका किंचिन्मात्र स्वाद लेता रहे उसी प्रकार चौथे-पाँचवे-छठवे गुणस्थान तक चढ़ते हुये किसी उपशमी सम्यक्त्वी को कषाय का उदय होता है तो उसी समय वहाँ से मिथ्यात्व मे गिरता है, उस गिरती हुई दशा में एक समय और अधिक से अधिक छ आवली तक जो कुछ सम्यक्त्व का स्वाद मिलता है वह सासादन गुणस्थान है।

सम्यङ्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान

दृष्टि-श्रद्धा-रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम है। जिस जीव मे समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टि हो वह सम्यङ् मिथ्यादृष्टि [मिश्र] गुणस्थान होता है।

प्रश्न—एक जीव मे एक साथ सम्यक् और मिथ्यात्वरूप दृष्टिका होना संभव नहीं है, क्योंकि इन दोनों दृष्टियों का एक जीव मे एक साथ रहने मे विरोध आता है, यदि यह कहा जाय कि दोनो दृष्टि या क्रम से एक जीव मे रहती हैं तो उन का सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम के स्वतन्त्र गुणस्थानों मे ही अन्तर्भाव मानना चाहिये। इसलिये सम्यङ् मिथ्यादृष्टि नामी तीसरा गुणस्थान असिद्ध है?

उत्तर—'युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यङ्मिथ्यादृष्टि है' इस मान्यता मे विरोध इस लिये नहीं कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है इस कारण उसमे अनेक धर्मों का सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है अर्थात् एक साथ अनेक धर्मों के रहने मे कोई बाधा नहीं आती। यदि यह कहा जाय कि आत्मा का अनेकधर्मात्मक होना ही असिद्ध है तब अनेकान्त

के विना इस के अर्थक्रियाकारित्व न बन सकेंगे।

प्रश्न—जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने मे विरोध नहीं है, वे रहें, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक आत्मा में रह नहीं सकते ?

उत्तर—यह कौन कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा मे रहना सभव है ? यदि सम्पूर्ण धर्मों का रहना एक साथ मान लिया जाय तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ एक आत्मा मे रहने का प्रसग आ जायगा अतः सपूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मा मे रहते हैं, अनेकान्त का यह अर्थ न समझना चाहिए किन्तु अनेकान्त का यह अर्थ समझना चाहिए कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामे अत्यन्त-अभाव नहींहै वे धर्म उस आत्मा मे किसी काल और क्षेत्र की अपेक्षा युग त् भी पाये जासकते हैं, ऐसा मन्तव्य निश्चित है। इस प्रकार जब कि समीचीन और असमीचीन रूप इन दोनों श्रद्धाओं का क्रमसे एक आत्मामे रहना सभव है तब कदाचित् किसी आत्मामे एक साथ भी इन दोनों का रहना बन सकता है। यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि पूर्व स्व कृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ२ अरिहत भी देव है ऐसी सम्यङ्मिथ्यारूप श्रद्धा भी पुरुषों मे पाई जाती है।

प्रश्न—पाच प्रकार के भावों मे तीसरे गुणस्थान मे कौनसा भाव है ?

उत्तर—तीसरे गुणस्थान मे क्षायोपशमिक भाव है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे सभव है ?

उत्तर—वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय मे मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय होने से सत्तामे रहने वाले उसी मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण उपशम होने से और सम्यङ्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होनेसे सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है इस लिये वह क्षायोपशमिक है।

प्रश्न—तीसरे गुणस्थान मे सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति के उदयसे वहां औदयिकभाव क्यों न कहा ?

उत्तर—नही, क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता, इस लिये तीसरे गुणस्थान मे औदयिक भाव न कह कर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

प्रश्न—सम्यङ्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शनपूर्णता का प्रतिबंध करता है, इस अपेक्षासे सम्यङ्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है।

प्रश्न—जिस तरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यङ् मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति बतलाई है उसी प्रकार वह अनन्तानुबंधीकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशमसे होता है, यह क्यों न कहा ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अनन्तानुबंधीकषाय चरित्र का प्रतिबंध करता है, इस लिये यहां उस के क्षयोपशम से तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया। जो आचार्य अनन्तानुबंधीकर्म के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति मानते हैं उन के मत से सासादन

गुणस्थान को औदयिक मानना पडेगा, पर ऐसा नहीं है क्योंकि दूसरे गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया।

अथवा, सम्यक्प्रकृति कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदयक्षय होनेसे सत्ता मे स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण उपशम होने से और सम्यङ्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है इसलिये वह क्षायोपशमिक कहा है यहां इस प्रकार जो सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठ का प्रारंभ करनेवालों के परिज्ञानार्थ कहा है। वास्तवमे मिश्रगुणस्थान का कर्म निरन्वयरूप से आप्त आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाके नाश करने के लिये असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसेसत् समीचीन और असत् असमीचीन पदार्थ को युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होतीहै इसलिये सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। यदि इस गुणस्थान मे सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सत् और असत् पदार्थ को विषय करने वाली मिश्ररुचि रूप क्षयोपशमता न माना जाय तो उपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होनेपरउस सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान मे क्षयोपशमता नहीं बन सकेगी। क्योंकि ऐसी अवस्थामे उपशम सम्यक्त्व से तृतीय गुणस्थानमे आये हुये जीव के सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी इन तीनों का उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।

प्रश्न—उपशम सम्यक्त्व से आये हुये जीव के तृतीय गुणस्थान मे सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी इन तीनो का उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो तीसरे गुणस्थान में

औपशमिक भाव को मानना पड़ेगा।

प्रश्न—तब तो तीसरे गुणस्थान मे औपशमिक भाव भी मान लिया जाय ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि तीसरे गुणस्थान मे औपशमिक भाव का प्रतिपादन करने वाला कोई आर्षवाक्य नही है अर्थात् आगमों ने तीसरे गुणस्थान मे औपशमिक भाव नहीं कहा। दूसरे यदि मिश्रगुणस्थानमे मिथ्यात्वादि कर्मों के क्षयोपशमसे क्षयोपशम भाव की उत्पत्ति मान ली जाय तो मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिक मानना पडेगा। क्योंकि सादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वगुणस्थान मे भी सम्यक्प्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्व कर्म के उदय अवस्था को प्राप्त हुए स्पर्धकों का क्षय होने से सत्ता मे स्थित उन्हीं का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति पाई जाती है। इस कथन से यह तात्पर्य सिद्ध है कि तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृति और अनन्तानुबंधी के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्रभाव होता है। कहा भी है कि,

जिस प्रकार दही और गुड को मिलाने पर उनको अलग नहीं किया जा सकता किन्तु उन दोनों का रस मिश्रता को प्राप्त होताहै, इसी प्रकार एक ही काल मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप से मिले हुए परिणामों को मिश्र गुणस्थान कहते है।

आशय यह है कि उपशम सम्यग्दृष्टि अथवा सादिमिथ्यादृष्टि जीव को यदि मिश्र मिथ्यात्व नाम कर्म की प्रकृति का उदय हो पड़े और अनन्तानुबंधी की चौकड़ी तथा मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय इन छह प्रकृतियों का उदय न हो, वहां एक

साथ सत्यासत्य श्रद्धानरूप ज्ञान और मिथ्यात्व मिश्रित भाव से रहते हैं वह मिश्रगुणस्थान है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है।

असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान

जिस की दृष्टि [श्रद्धा] समीचीन है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते है। वे तीन प्रकार के होते हैं, क्षायिक-सम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र गुण का घात करनेवाली चार अनन्तानुबंधी प्रकृतिया और मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियाँ इस प्रकार इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उपशम से जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। तथा जिसकी सम्यक्त्व सत्ता है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेदरूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है। उनमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकारके संदेह को भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय भी नहीं होता। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकार का होता है, किन्तु परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है, कभी सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त करता है। कभी सम्यक् मिथ्यात्व तथा कभी वेदकसम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है तथा जो वेदक सम्यक्त्वदृष्टि जीव है उस की श्रद्धा शिथिल होती है इस लिये वृद्ध पुरुष जिस प्रकार अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलता से पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिलग्राही होता है, अत कुहेतु और

कुदृष्टान्त से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने मे विलम्ब नहीं लगता।

पांच प्रकारके भावों से किन किन भावोंके आश्रयसे असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते है कि सात प्रकृतियोंके क्षय से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है और सम्यक्त्व का एक देश घात रूप से वेदन करनेवाली सम्यक्प्रकृति के उदयसे उत्पन्न होने वाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

प्रश्न—मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी के उदय में आने वाले सर्वघाती स्पर्धकों केउदयाभावी क्षयसे तथा आगामी कालमे उदय में आने वाले उन्ही के सर्वघाती स्पर्धकों के सदवस्थारूप उपशम से अथवा सम्यङ्मिथ्यात्वके उदय मे आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों केउदयाभावी क्षय से आगामी काल मे उदय मे आनेवाले उन्ही के सदवस्थारूप उपशम से तथा इन दोनों ही अवस्थाओं मे सम्यक्-प्रकृतिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से जब क्षयोपशमरूप सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। बहुतसे आचार्योंका यही मत है। उसे यहा क्यों न स्वीकार किया?

उत्तर—यह ठीक नही, क्योंकि इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है।

विशेष—जिस प्रकार मिश्र गुणस्थानकी उत्पत्ति सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की मुख्यता से बतला कर आए हैं उसी प्रकार यहा पर भी सम्यक्प्रकृति के उदयकी मुख्यता समझनीचाहिए। यदि इस सम्यक्त्व मे सम्यक् प्रकृति के उदय की मुख्यता न मान कर केवल मिथ्यात्वादि के क्षयोपशम से ही इसकी उत्पत्ति मानी जाय

तो सादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति के उदयाभाव क्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिथ्यात्वगुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ पर भी क्षयोपशम का लक्षण घटता है। इसलिए इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोपशमकी प्रधानता से न मानकर सम्यक्प्रकृतिके उदय की प्रधानतासे समझनी चाहिए।

सूत्रमे सम्यग्दृष्टि के लिए जो असयत विशेषण दिया गया है वह अन्तदीपक है, इस लिए वह अपने से नीचे के भी समस्त गुणस्थानों के असयतत्व का निरूपण करता है।

वह असयत पद ऊपर अर्थात् पांचवें आदि गुणस्थानों मे असयम भाव का निरूपण क्यों नहीं करता ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते है कि पांचवें आदि गुणस्थानो मे वह असंयत पद असंयम भावका प्ररूपण नहीं करता, क्योंकि ऊपर सब जगह संयमासंयम और संयम विशेषण ही पाया जाता है। कहा भी है कि-

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है किन्तु किसी तत्व को न जानता हुआ गुरुके उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि पद गंगा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के सब गुणस्थानों मे अनुवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

अथवा जिस किसी जीव के [illegible] समझाना वाला अधिक

कुदृष्टान्त से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने में विलम्ब नहीं लगता।

पांच प्रकारके भावों से किन किन भावोंके आश्रयसे असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते है कि सात प्रकृतियोंके क्षय से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है और सम्यक्त्व का एक देश घात रूप से वेदन करनेवाली सम्यक्प्रकृति के उदयसे उत्पन्न होने वाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

प्रश्न—मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के उदय मे आने वाले सर्वघाती स्पर्धकों केउदयाभावी क्षयसे तथा आगामी कालमे उदय मे आने वाले उन्ही के सर्वघाती स्पर्धकों के सदवस्थारूप उपशम से अथवा सम्यड्मिथ्यात्वके उदय मे आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों केउदयाभावी क्षय से आगामी काल मे उदय मे आनेवाले उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा इन दोनों ही अवस्थाओं मे सम्यक्-प्रकृतिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से जब क्षयोपशमरूप सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहुतसे आचार्योंका यही मत है। उसे यहा क्यों न स्वीकार किया?

उत्तर—यह ठीक नही, क्योंकि इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है।

विशेष—जिस प्रकार मिश्र गुणस्थानकी उत्पत्ति सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की मुख्यता से वतला कर आए है उसी प्रकार यहा पर भी सम्यक्प्रकृति के उदयकी मुख्यता समझनीचाहिए। यदि इस सम्यक्त्व मे सम्यक् प्रकृति के उदय की मुख्यता न मान कर केवल मिथ्यात्वादि के क्षयोपशम से ही इसकी उत्पत्ति मानी जाय

तो सादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति के उदयाभाव क्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिथ्यात्वगुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ पर भी क्षयोपशम का लक्षण घटता है। इसलिए इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोपशमकी प्रधानता से न मानकर सम्यक्प्रकृतिके उदय की प्रधानतासे समझनी चाहिए।

सूत्रमे सम्यग्दृष्टि के लिए जो असयत विशेषण दिया गया है वह अन्तदीपक है, इस लिए वह अपने से नीचे के भी समस्त गुणस्थानों के असयतत्व का निरूपण करता है।

वह असंयत पद ऊपर अर्थात् पांचवें आदि गुणस्थानों में असंयम भाव का निरूपण क्यों नहीं करता ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि पांचवें आदि गुणस्थानों मे वह असंयत पद असंयम भावका प्ररूपण नहीं करता, क्योंकि ऊपर सब जगह सयमासंयम और संयम विशेषण ही पाया जाता है। कहा भी है कि-

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है किन्तु किसी तत्व को न जानता हुआ गुरुके उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि पद गंगा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के सब गुणस्थानों मे अनुवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

अथवा जिस किसी जीव के संसार संसरणका काल अधिक

से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन और कम से कम अंतर्मुहूर्त शेष रहता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन ग्रहण करके चतुर्गतिरूप संसार को पार करने वाले मोक्षसुखकी वानगी लेता है। अंतर्मुहूर्त लगा कर अर्द्धपुद्गल परावर्तन कालके जितने समय हैं उतने ही सम्यक्त्व के भेद हैं। जिस समय जीव को सम्यक्त्व प्रगट होता है तभी से आत्मगुण प्रगट होने लगता है और सासारिक दोष नष्ट हो जाते हैं।

जो अधःकरण अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण पूर्वक मिथ्यात्व का अनुदय करता है उसे आत्मानुभव गुण प्रगट होता है और वही सम्यक्त्व कहलाता है। तथा सम्यक्त्वका स्वरूप उत्पत्ति चिन्हगुण भूषण दोष नाश और अतिचार ये सम्यक्त्व के आठ विवरण हैं।

(१) सम्यक्त्व का स्वरूप—आत्म-स्वरूप की सत्य प्रतीति होना, प्रतिदिन समताभावमे उन्नति होना और क्षणक्षण परिणामों की विशुद्धि होना, सम्यग्दर्शन है।

(२) सम्यक्त्व की उत्पत्ति—चतुर्गति मे संज्ञी जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह अपने आप [निसर्गज] और गुरु के उपदेश से [अधिगमज] होता है।

(३) सम्यक्त्व के चिन्ह—आत्म स्वरूप का परिचय अपने आप मे ही पाता है, कभी सन्देह भी पैदा नही होता, छल कपट रहित वैराग्य भाव रहता है, यह सम्यग्दर्शनका चिन्ह है।

(४) सम्यग्दर्शन के आठ गुण—करुणा मैत्री सज्जनता स्वलघुता समता श्रद्धा उदासीनता और धर्मानुराग ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

(५) सम्यक्त्व के पांच भूषण—जैन धर्म की प्रभावना

करने का अभिप्राय हेय उपादेय का विवेक धैर्य सम्यग्दर्शन के साक्षात्कार होने का आत्मानन्द और तत्व विचार मे चातुर्य ये पांच सम्यक्त्व के भूषण हैं।

(६) पच्चीस दोषों से रहित जीवन—आठ मद आठ मल छह अनायतन और तीन मूढ़ता ये सब मिल कर २५ दोष हैं। जाति-धन-कुल-रूप तप-बल विद्या और अधिकार इनका गर्व करना महामद है। जिन वचन मे संशय आत्म स्वरूप से चिगना [अस्थिरता का होना], विषयों की अभिलाषा, शरीरादि से ममत्व, अशुचि मे ग्लानि, सहधर्मियों से द्वेष, दूसरों की निन्दा, ज्ञान की वृद्धि आदि धर्म प्रभावनाओं मे प्रमाद ये आठ मल सम्यग्दर्शन को दूषित करते हैं। कुगुरु कुदेव कुधर्म के उपासकों और कुगुरु कुदेव कुधर्म की प्रशंसा करना ये छह आयतन हैं। देव मूढ़ता अर्थात् सच्चे देव का स्वरूप न जान कर गारा मट्टी पत्थर लकड़ी और कागज आदि चित्र मूर्ति मे देव की कल्पना करना, गुरु मूढ़ता अर्थात् निर्ग्रंथ मुनि का स्वरूप न समझ कर कनक कामिनी के भोगी को गुरु भाव से स्वीकार करना और धर्म मूढ़ता अर्थात् जिन भाषित धर्म का स्वरूप न समझ कर आरभ परिग्रह मे धर्म मानना ये तीन मूढ़ताएँ है। आठ मद आठ मल छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता ये सब मिलाकर पच्चीस दोष होते है।

(७) पाच कारणों से सम्यक्त्व हानि—ज्ञान का अभिमान वुद्धि की हीनता निर्दय वचन वोलना क्रोधी परिणाम और प्रमाद ये पाच सम्यक्त्व के घातक है।

(८) सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार—लोगो की हँसी का भय अर्थात् सम्यक्त्व रूप प्रवृत्ति का सेवन करने मे लोगों के उपहास से डरना, इन्द्रियों के विषय भोगने मे अनुराग, आगामी

[आने वाले] समय की चिन्ता, कुशास्त्रों में श्रद्धा [भक्ति] और कुदेव वंदन या उनकी सेवा, ये सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं। ये पाँच प्रकार के अतिचार सम्यग्दर्शन की उज्वल परिणति को मलिन करते हैं। सम्यग्दर्शन की सदोष अथवा निर्दोष दशा को प्राप्त कराने का बोध देने वाले आठ विवरण हैं।

सम्यग्दर्शन का प्रगट होना

मोहनीय कर्म की जिन सात प्रकृतियों के अनुदय से सम्यक्त्व दर्शन प्राप्त होता है वे जिनशासन के अनुसार इस प्रकार हैं। प्रथम उनके नाम इस भांति है जैसे सम्यक्त्व की घातक चरित्र मोहनीय की चार और दर्शन मोहनीय की तीन सब मिला कर सात प्रकृतिएँ हैं। उनमे से पहली अनन्तानुबंधी की क्रोध, दूसरी अभिमान के रंग से रंगी हुई अनन्तानुबधी मान, तीसरी अनन्तानुबन्धी माया, चौथी परिग्रह को पुष्ट करने वाली अनन्तानुबंधी लोभ पांचवीं मिथ्यात्व, छट्ठी मिश्रमिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्व मोहिनी है। इनमे छह प्रकृतियां व्याघ्री के समान सम्यक्त्व [आस्तिक विचार] के पीछे पड़ कर भक्षण करने वाली हैं। और सातवी कुलटा अथवा कर्कशा स्त्री के समान सम्यक्त्वको सकम्प व मलिन करने वाली है। इस प्रकार ये सात प्रकृतिएँ सम्यक्त्व के सद्भाव को रोकती हैं।

सम्यक्त्व के नामकरण—जो ऊपर कथित सात प्रकृतियों को उपशम करता है वह उपशम है। क्षय करने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि है [यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता], सात प्रकृतियों में से कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तब वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी है [उसे सम्यक्त्व का मिश्ररूप स्वाद मिलता है] छह

प्रकृतियां उपशम हों या क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्व मोहनी का उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्व धारक है।

सम्यक्त्व के नव प्रकार—क्षयोपशम सम्यक्त्व तीन प्रकार का है वेदक सम्यक्त्व चार प्रकार का है और उपशम तथा क्षायिक ये दो प्रकार और सबके मिलाने से सम्यक्त्व के नव भेद होते हैं।

क्षयोपशम के तीन भेद—(१) चार [अनन्तानुबंधी की चौकड़ी] का क्षय, तीन [दर्शन मोहनीय त्रिक] का उपशम, (२) पांच [अनन्तानुबंधी की चौकडी और महा मिथ्यात्व] का क्षय और दो [मिश्र मोहनी और सम्यक्त्व मोहनी] का उपशम, (३) छह [अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी, महा मिथ्यात्व और मिश्र] का क्षय और एक का उपशम इस तरह क्षयोपशम सम्यक्त्व के तीन भेद हैं।

वेदक सम्यक्त्व के चार भेद—(४) जहां चार [अनन्तानुवंधी की चौकड़ी] प्रकृतियों का क्षय दो [महा मिथ्यात्व और मिश्र] का उपशम और एक [सम्यक् प्रकृति] का उदय है वह प्रथम क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है, (५) जहाँ पाच [अनन्तानुबन्धी की चौकडी और महा मिथ्यात्व] प्रकृतियों का क्षय और एक का उपशम तथा एक का उदय है वह द्वितीय क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है, (६ जहां छह [अनन्तानुवंधी की चौकडी, महा मिथ्यात्व और मिश्र] प्रकृतियों का क्षय और एक का उदय है वह क्षायिक वेदक सम्यक्त्व है, (७) जहां छह [अनन्तानुबन्धी की चौकडी, महा मिथ्यात्व और मिश्र] प्रकृतियों का उपशम और एक का उदय है वह उपशम वेदक सम्यक्त्व है। क्षायिक (८) (९) उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप पहले कह चुके हैं इसलिये

नहीं लिखा है । क्षयोपशम सम्यक्त्व के तीन, वेदक सम्यक्त्व के चार प्रकार और उपशम सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व, इस भांति सम्यक्त्व के मूल भेद चार और उत्तर भेद नव हैं। साथ ही सम्यक्त्व सत्ता की निश्चय व्यवहार सामान्य और विशेष इस प्रकार चार विधि है । जैसे मिथ्यात्व के नष्ट होने से मन-वचन काय के अगोचर जो आत्मा की निर्विकार श्रद्धा की ज्योति प्रकाशित होती है उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये । जिसमे योग मुद्रा मति ज्ञान श्रुतज्ञान आदि के विकल्प है वह व्यवहार सम्यक्त्व है। ज्ञानकी अल्प शक्ति के कारण मात्र चेतना चिन्हके धारक आत्मा को पहचान कर निज और पर के स्वरूप का जानना सामान्य सम्यक्त्व है। तथा हेय ज्ञेय और उपादेय के भेदाभेद को सविस्तार रूप से समझना विशेष सम्यक्त्व है। इस अव्रत सम्यग्दृष्टि गुण स्थान की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, इस प्रकार चौथे गुण स्थान का कथन भव्यो का समझना आवश्यक है।

[५] देशविरति (संयतासंयत) गुणस्थान जो सयत होकर भी असयत रहते है उन्हे सयतासयत कहते है ।

प्रश्न—जो सयत होता है वह असंयत नही हो सकता, और जो असयत होता है वह सयत नही हो सकता है, क्योंकि संयम भाव और असयम भाव परस्पर विरोध रूप है इसलिये यह गुण स्थान नही बनता ।

उत्तर—विरोध दो प्रकार का है, परस्पर परिहार लक्षण विरोध और सहानवस्था विरोध । इनमे से एक द्रव्य के अनन्त गुणो मे परस्पर परिहार लक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि यदि गुणो का एक दूसरे का परिहार करके अस्तित्व न माना जाय तो

उनके स्वरूप की हानि का प्रसग आता है परन्तु इतने मात्र से गुणों में सहानवस्था लक्षण विरोध सभव नहीं है। यदि नाना गुणों का एक साथ रहना ही विरोध स्वरूप मान लिया जाय तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकता, क्योंकि वस्तु का सद्भाव अनेकान्त निमित्तक ही होता है। जो अर्थ क्रिया करने मे समर्थ है वह वस्तु है परन्तु वह अर्थ क्रिया एकान्त पक्ष मे नहीं बन सकती। क्योंकि अर्थ क्रिया को यदि एक रूप माना जाय तो पुनः २ उसी अर्थ क्रिया की प्राप्ति होने से और यदि अनेक रूप माना जाय तो अनवस्था दोष आने से एकान्त पक्षमे अर्थ क्रियाके होने मे विरोध आता है।

ऊपर के कथन से चैतन्य और अचैतन्य के साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता, क्योंकि चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं। जो सहभावी होते है उन्हें गुण कहते है। परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बंधरूप अवस्था के न रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनो एक साथ नहीं पाये जाते हैं। दूसरे विरुद्ध धर्मों की उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात एक मान लिया जाय तो विरोध आता है, परन्तु संयम भाव और असयम भाव इन दोनों को एक आत्मा मे स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता क्योंकि उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न भिन्न हैं। संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रस जीव की हिंसा से विरतिभाव है और असंयमभाव की उत्पादका कारण स्थावर हिंसा से अविरतिभाव है। इस लिये संयतासयत नामका पाचवां गुणस्थान बन जाता है।

प्रश्न—औदयिक आदि पाच भावों मे से किस भाव के आश्रय से संयमासयमभाव पैदा होता है?

उत्तर—संयमासंयमभाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल मे उदयमें आने योग्य उन्ही के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्योख्यान-चरित्र उत्पन्न होता है।

प्रश्न—संयमासंयमरूप देशचरित्र की धारा से संबंध रखने वाले कितने सम्यग्दर्शन होते है ?

उत्तर—क्षायिक-क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीनों मे से किसी एक सम्यग्दर्शन का विकल्प होता है, क्योंकि उन में से किसी एक के विना अप्रत्याख्यान चारित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के विना भी देशसंयमी हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो जीव मोक्ष की आकांक्ष से रहित हैं और जिनकी विषय-पिपासा नहीं गई है उनमें अप्रत्याख्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती कहा भी है कि –जो जीव जिनेन्द्रदेव के उपदिष्ट तत्वमे अद्वितीय श्रद्धा रखकर एक ही समय मे त्रसजीवों की हिंसासे विरत और स्थावर जीव की हिसा से अविरत होता है, उसको विरताविरत कहते है। जिन गुणो के ग्रहण करने और अभक्ष्य पदार्थों के त्यागनेसे श्रावकका पांचवाँ गुणस्थान सुशोभित होता है उसमे २१ गुण प्रवेश करते हैं और उसके लिये अभक्ष्य वस्तु सर्वथा त्याज्य है।

श्रावकके २१ गुण—लज्जा-दया-मंदकषाय-श्रद्धा-दूसरों के दोष ढकना, परोपकार-सौम्यदृष्टि-गुणग्राहकता-सहनशीलता-सर्वप्रियता-

सत्यपक्ष-मिष्टवचन-अग्रसोची-विशेषज्ञान-शास्त्रज्ञान की मर्मज्ञता-कृतज्ञता तत्वज्ञानी-धर्मात्मा-न दीन न अभिमानी किन्तु मध्यम व्यवहारिकता-स्वाभाविक विनयवान्-पापाचरण से रहित ये २१ गुण श्रावक-साधक के लिये उपादेय है।

अभक्ष्य पदार्थ

ओला-रात्रि भोजन-बहुत बीजवाले फल-बैंगन-पुराना अचार-पीपली-बड़बंटी-ऊमरफल-कठूमरफल-पाकरफल-अज्ञातफल कद्मूल-मट्टी-विष मांस-मदिरा-मधु-बासीमक्खन-मिरका-अतिसूक्ष्मफल-बर्फ-चलितरस आदि।

११ प्रतिमाओं का विकल्प

सम्यग्दर्शन में पवित्रता उत्पन्न करना-दर्शन प्रतिमा, बारह व्रतों का आचरण-व्रतप्रतिमा, सामायिक की प्रवृत्ति-सामायिक प्रतिमा, पर्व के दिन उपवासविधि करना-प्रौषध प्रतिमा, सचित्त का त्याग सचित्तविरति प्रतिमा, दिवस मे स्त्री स्पर्श का त्याग-दिवा मैथुनव्रत प्रतिमा, आठों पहर स्त्री मात्र का त्याग-ब्रह्मचर्य प्रतिमा, सब प्रकार के आरंभ का त्याग-निरारम्भ प्रतिमा, पाप के कारण भूत परिग्रह का त्याग-परिग्रह त्याग प्रतिमा, पापकी शिक्षा का त्याग-अनुमति त्याग प्रतिमा, अपने लिये बनाये हुये भोजन आदि का त्याग-उद्दिष्ट विरति प्रतिमा, जिनराजने ये ११ प्रतिमाएँ सम्यग्दृष्टि-धारक देशव्रती-साधक के लिये साध्य रूपा कही हैं।

प्रतिमा का स्वरूप

चरित्रगुण का प्रगट होना, भोगों से परिणामों का विरक्त होना और दृढ़प्रतिज्ञा का उदय होना प्रतिमा है।

(१) दर्शनप्रतिमा—इस मे सम्यक्त्व की निर्मलता, पंच परमेष्ठी मे भक्ति, जीवदया का पालन, अनछने जल का उपयोग न करना, शराब-मांस का त्याग, रात्रिभोजन त्याग, अभक्ष्य पदार्थ का त्याग करना, सप्त कुव्यसनों का त्याग दर्शन प्रतिमा है।

(२) व्रत प्रतिमा—पाच अणुव्रत-तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत के धारण करने को व्रत प्रतिमा कहते हैं। पांच अणुव्रत का पालन निरतिचार रूप से करता है, पर गुणव्रत और शिक्षाव्रत की निर्मलता को बढ़ाने का अभ्यास करता रहता है वह भी व्रत प्रतिमा है।

(३) सामायिक प्रतिमा—मन में समय की प्रतिज्ञा पूर्वक द्रव्य और भाव विधि सहित, एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी तक ममत्व भाव रहित साम्य-भाव ग्रहण करना, शत्रु और मित्र पर समान भाव रखना, आर्त और रौद्र दोनों कुध्यानों का निवारण करना और संयम मे सावधान रहना सामायिक प्रतिमा है।

(४) प्रौषध प्रतिमा—२४ घंटे तक सामायिक जैसी स्थिति अर्थात् समता भाव रखने को प्रौषध प्रतिमा कहते हैं।

(५) सचित्तविरति प्रतिमा—सचित्त भोजन का त्याग करना और प्राशुक जल पान करना सचित्त विरति प्रतिमा कहलाता है। इस मे सचित्त वनस्पती को मुख से विदारण नहीं कर सकता और गर्म पानी अथवा स्वाहा-[राख] के द्वारा स्वाद बदलने को प्राशुक जल कहते है।

(६) दिवा मैथुन व्रत प्रतिमा—नव बाड़ सहित दिन मे ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और पर्व तिथियों मे दिन रात ब्रह्मचर्य रखना दिवस मैथुन व्रत प्रतिमा है।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य पालन

सदाकाल करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा का धारक महा ज्ञानी जगद्विख्यात और शील शिरोमणि होता है।

नव वाड—स्त्रियों के समागम में रहना, स्त्रियों को सराग दृष्टि से देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमे सराग सम्भाषण करना, पूर्वकाल में भोगे हुये भोगों विलासों का स्मरण करना, आनन्द दायक गरिष्ठ भोजन करना, स्नान मज्जन आदि के द्वारा शरीर को आवश्यकता से अधिक सजाना स्त्रियों के पलंग आसन आदि पर सोना बैठना, कामकथा या कामोत्पादक कथा गीतों का सुनना, भूखसे अधिक अथवा खूब पेट भरकर भोजन करना, इनके त्याग को जैन धर्म मे ब्रह्मचर्य की नव वाड़ कहा है।

(८) निरारम्भ प्रतिमा—जो विवेक पूर्वक धर्म मे सावधान रहता है और सेवा कृषि वाणिज्य आदि का पापारभ नहीं करता, वह कुगति के रणस्तंभ को जीतने वाली आठवीं प्रतिमा का स्वामी है।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा—जो वैराग्य और संतोष का आनन्द प्राप्त करता है तथा दश प्रकार के परिग्रह मे थोडे से वस्त्र पात्र मात्र रखता है, वह साम्यभाव का धारक नवीं प्रतिमा का स्वामी है।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा—जो कुटुम्बी या अन्य जनों को विवाह वाणिज्य आदि पापारंभ करने का उपदेश नहीं करता, वह पाप रहित दशवीं प्रतिमा का उत्तराधिकारी है।

(११) उद्दिष्ट विरति प्रतिमा—जो घर छोडकर पोषधशाला मे निवास करता है और स्त्री पुत्र कुटुम्बादि से विरक्त होकर स्वतन्त्र रूप से विचरता है, तथा कृतकारित अनुमोदना रहित योग्य आहार ग्रहण करता है वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है।

प्रतिमाओं के सम्बन्धमें—देशव्रत गुणस्थान मे ११ प्रतिमाएँ ग्रहण करने का उपदेश है और आरंभसे उन्हें उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिये तथा नीचेकी प्रतिमाओंकी क्रिया न छोड़ना चाहिये।

प्रतिमाओं की अपेक्षा साधक के भेद—छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक, नवमी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक और १०-११ वीं प्रतिमा धारण करने वालों को उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं !

पांचवें गुणस्थान का काल—पाँचवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। सत्तर लाख छप्पन हजारसे एक करोड़ को गुणा करनेसे जो संख्या उपलब्ध होती है उतने वर्ष का एक वर्ष में पूर्व होता है। चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है। दो घड़ीमें एक समय कम अन्तर्मुहूर्त का उत्कृष्ट काल है और एक समय अधिक एक आवली [असंख्य समय की एक आवली] अंतर्मुहूर्त का जघन्य काल होता है तथा बीच के असंख्य भेद हैं।

संयतासंयत चरित्र की १२ साधनाएँ (१) वह ऐसा यत्न करता है, ऐसा वचन बोलता है जिस से किसी प्राण-भूत-जीव और सत्व को कष्ट न पहुंचे, अथवा कम से कम भूतों को कम से कम कष्ट भी न पहुँचे।

(२) साधक जिस बात को जिस रूप से जानता है, मानता है, वही बात उसी रूप मे कहता है। लाभ के डर से उस बात को छिन्न भिन्ननहीं करता, लोक भय नैतिक निर्बलता लोकैषणादि इन सब को गहरे और सूखे गढ़े में फेंक देता है। इसी प्रकार हँसी दिल्लगी परनिन्दा निरर्थक झूठी गपशप आदि हानिकारक या अनुत्पादक प्रवृतिमे अपने वचनका कभी भी दुरुपयोग नहींकरता।

(३) जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जिस अधिकार पर, जिस यश पर, जिस दुस्साहस पर तुम्हारा उचित अधिकार न हो उस वस्तु-मनुष्य-यश-अधिकार-साहसादि पर दाँत नहीं रखता और किसी के हक़ पर प्रहार नहीं करता।

(४) साधक को प्रकृति की ओर से जो वीर्य प्राप्त हुआ है उस से अपनी तथा औरों की अनेक प्रकार से उन्नति की साधके लिये प्रयत्न करना सब से पहला एवं अनिवार्यसाधन हस्त सिद्ध करना है। वह पाशववृत्ति को बुझा कर वैषयिक सन्तोष के लिये उसे नहीं उड़ादेता। वह उच्च कोटि के आनन्द को पहचानता है। यदि उचित समझता है तो यथा संभव अखंड ब्रह्मचारी बन कर भी रहता है। यदि यह न हो सकता हो तो उस के विचार के लिये विघ्नभूत न हो ऐसी सुशीला सहचारिणी की तलाश कर के उस के साथ स्वदार सन्तोष जीवी होकर सन्तोष से रहता है। 'एक दूसरेके लिये अनुकूल और सहायक रह सके' ऐसा पात्र न मिलने पर अविवाहित रहने की पूर्ण चेष्टा करता है। उसे ही वैवाहिक स्थिति समझता है जिससे उस के चारों ओर से उड़ने बिखरने वाली वृत्तिएँ रुक सकें। अथवा उन का संकोच हो सके। यदि वह स्थिति दोनों को या दोनों मे से किसी एक को असन्तोषका कारण हो तो हानि की संभावना है, अतः साधक शक्ति विचार स्थिति साधन और पात्रकी योग्यता का स्वयं गहरा विचार करके विवाह करता है या कुमार रहता है। विवाह करना मनुष्य का मुख्य नियम और कुमार रहना अपवाद मानता है। इस के बदले कुमार रहना और सब की सब या मुख्य विषयों की अनुकूलता हो 'तब ही विवाह करना' इस मुख्य नियमको मान्य रखता है और विवाहित स्थिति या विषयवासना की अमर्यादा को इच्छानुसार निरंकुशता

के रूप मे भूल कर भी नहीं मानता। अश्लील शब्दों से, अश्लील दिखाव और बनाव से, तथा अश्लील कल्पनाओं से सदैव अलग रहता है। किसी को 'विवाह करने मे' जोर देने की अनधिकार चेष्टा नही करता। विवाह के भाव को न समझने वाले सहचारित्व कर्तव्य को न पहचाननेवाले पात्रों को एक दूसरे के कर्तव्यको गुलामी मे फेंकने वाला चौथे व्रत का अवश्य भंग करता है, दया का खून और चोरी करता है।

(५) परिग्रह अर्थात् प्रभुत्व [मिलकियत] की इच्छा का संकोच करता ह। 'सब कुछ मैं ही भोग लूं' मैं ही करोड़पति बन जाऊं, 'मैं ही महलों का मालिक बनूं, ऐसे अहंमय स्वार्थमय संकुचित विचारों को सच्चा साधक एक दम कम कर डालता है।

इस आज्ञाका औद्देशिकरूपसे यह आशय नहीं है कि तुम नंगे फिरो, घर द्वार छोड़ कर नंगे बाबा बन जाओ, भूखे मरो, कुटुम्ब जाति-देश-समाज का भरण पोषण ही न करो और उन्हें यों ही दुःखित होकर मरने दो, यह नहीं बल्कि लोभ प्रकृति, मोह प्रकृति, ममत्वभाव, जड़ प्रकृति में या जड़ प्रकृति तथा पदार्थ की प्राप्ति मे आनन्द मानना छोड़ो। इन सब विकारशील वस्तुओं को छोड़ कर प्रामाणिक बुद्धि से सहनशीलता पूर्वक व्यवस्था पूर्वक यथोचित उद्यमसे मिलनेवाले धनके द्वारा अपने आश्रितों की आवश्यकताएँ पूर्ण करनेमें खर्च करने के अतिरिक्त उस धन पर मोह ममता न रखकर बाक़ी का भाग औरों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने मे तथा देश रक्षा में उल्लास के साथ खर्च करो, परिग्रह के ऊपर जितने प्रमाण में मूर्च्छा कम होगी साधकको उतनी ही चित्तशान्ति अधिक होगी।

(६) साधक आशय विना, उपयोग विना, परमार्थ रहित भ्रमण

करना यथा शक्य एक दम कम करता है।

(७) साधक उपभोग और परिभोग की मात्रा एवं लालसा को मर्यादित करता है, दिन रात की टेवों मे सादगी पैदा करता है, आत्म संयम पैदा करता है, नियमित और मिताहारी रहता है। साधक जितनी आवश्यकताएँ कम करता है उतनी ही चिन्ता-उपाधि और लालच भी कम होजाता है साथ ही अधिक महत्वकी प्रवृत्तिकी ओर लक्ष्य देनेका पूर्ण अवकाश मिलता है। देखा देखी से, खानदानी के झूठे विचारों से, बड़प्पन बताने की मूर्खता युक्त लोलुपता से, इच्छा दिखाने की लालसा से और गुणदोष समझने की बुद्धि के अभाव से अनेक अनावश्यक झंझट उत्पन्न हो जाते हैं और वे शारीरिक निर्बलता, मानसिक अधमता और मति मे मलिनता पैदा करती हैं अतः उपभोग परिभोग पदार्थ अनावश्यक उपयोगी अर्थात् उपयोग के सिद्धान्त के लिये जितना उत्तरदायित्व हो सके उतने प्रमाण मे रखकर अधिक न रक्खो।

(८) अर्थरहित-प्रयोजन रहित-व्यापार मे-प्रवृति मे मन-वचन काय को प्रवर्तित नहीं होने देता, खटपट निन्दा चिन्ता दुर्ध्यान कुतर्क खेद भय भेद आदि मे शरीर सम्पत्ति धन सम्पत्ति समय सम्पत्ति सकल्प सम्पत्ति को साधक व्यर्थ मे नहीं नष्ट करता, आर्तध्यान अथवा चिन्ता और रौद्रध्यान किसी पर क्रोधमय विचार करना निर्बलता सूचक और निकृष्ट है। आनन्दमय वीरत्वमय-आत्मप्रभु रा द्रोह करने के समान है, इससे मनुष्यत्व की क्षीणता होती है।

(९) प्रतिदिन नियमित समय पर जितना हो सके उतने समय तक के लिये समतोलन वृत्ति के सीखने का साधक उचित अभ्यास करता है।

(१०) स्वदेश के बाहर के पदार्थ वस्तु यथा शक्ति काम मे नहीं लेता है स्वदेश प्रेम और स्वदेशाभिमान सदैव रखता है। अपने देश को भूख से तड़पा तड़पा कर मारने में आप साधन भूत नहीं बनता ।

(११) प्रत्येक मास मे छः बार या इससे अधिक जब भी साधक को अवकाश मिलता है, शारीरिक मानसिक स्थिति अनुकूल होने पर भूखा रहता है, पर पदार्थ खाने की आदत को छोड़ देता है जिससे साधक का शरीर नीरोग और सहनशील बन सके। इस स्थिति मे २४ घंटे या २१ घंटे आत्म रमणता मे बिताता है।

(१२) उपकारी पुरुषों की सेवा भक्ति करने का प्रसंग मिलने पर उल्लास से उनकी सेवा करता है। जो पुरुप जगत् के उपकार में ही अपना जीवन बिता रहे हैं, जिन्हे अपने शरीर की सार संभाल करने तक का भी अवकाश नहीं है। उनके अस्तित्व आरोग्य और प्रवृत्ति की संसार को अत्यधिक आवश्यकता होने के कारण उनकी तंगी को जानना और उन्हें पूर्ण करने मे तत्परता बताना भी उपकृत वर्ग में सम्मिलित साधक का मुख्य कर्तव्य है। उनके उठाये हुये मिशन को निभाने के लिये अपना समस्त शरीर बल धन बल कर्तव्य परायणता बल लक्ष्य बल समय बुद्धि आदि की सहायता जी जान से करनी चाहिये। उनकी कठिनाई और दुखों एवं संकटों में सहानुभूति पूर्वक उन्हें दूर करने के लिये यथाशक्य सहायता और उनकी जय मे अपना जय तथा समाज का जय मानना चाहिये। यह साधक का सर्वोत्तम साधन है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान

प्रकर्ष से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं, और भली भांति विरत या संयम जीवन को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होकर भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं।

प्रश्न—यदि छठवें प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो वे संयत नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं होता। यदि वे सयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते। कारण संयम भाव प्रमाद का परिहार स्वरूप है?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा असत्य स्तेय अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से विरति भाव को संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित है। वह संयम वास्तव मे प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता, कारण संयम मे प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—छठवें गुणस्थान मे संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही विवक्षित है, संयम का नाश करने वाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, इसे क्योंकर निश्चित किया जाय?

उत्तर—छठवे गुण स्थान मे प्रमाद के रहते हुये संयम का सद्भाव अन्यथा नहीं बन सकता, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे छठवें गुण स्थान में होने वाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद सयम का नाश भी नहीं कर सकता, क्योंकि सकल संयम का उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव मे संयम का नाश नहीं पाया जाता।

यहाँ पर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिये वह छठवें गुण

स्थानसे पहलेके संपूर्ण गुण स्थानों में प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है।

प्रश्न—पाँच भावों मे से किस भाव का आश्रय लेकर यह प्रमत्त संयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

उत्तर—संयम की अपेक्षा यह गुणस्थानक क्षायोपशमिक है।

प्रश्न—प्रमत्त संयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है?

उत्तर—वर्तमान मे प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय-क्षय होने से और आगामी काल मे उदय मे आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय मे न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान [सयम] उत्पन्न होता है, इसलिये क्षायोपशमिक है।

प्रश्न—संज्वलन कषायके उदय से संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर— संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न—तब संज्वलन का व्यापार कहां होता है ?

उत्तर—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय [सदवस्था रूप उपशम] से उत्पन्न हुये संयम मे मल को उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है।

संयम के कारणभूत सम्यग्दर्शन की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव निमित्तक है।

प्रश्न—यहां सम्यग्दर्शन की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शन के विना भी संयम की उपलब्धि होती है ?

उत्तर—यह नहीं है, क्योंकि आप्त आगम और पदार्थों मे

जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न—यहा द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया यह कैसे जाना जाय ?

उत्तर—भली प्रकार जान कर तथा श्रद्धान कर जो यम सहित है उसे संयत कहते है। सयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है कि,

"जो व्यक्त अर्थात स्वसवेद्य और अव्यक्त अथात् प्रत्यक्ष ज्ञानियों के ज्ञान द्वारा जानने योग्य प्रमाद मे वास करता है, जो सम्यक्त्व ज्ञानादि संपूर्ण गुणों से और व्रतों के रक्षण करने मे समर्थ शीलसे युक्त है जो (देशसंयतकी अपेक्षा) महा व्रती है और जिसका आचरण प्रमाद मिश्रित है, अथवा चित्रल सारंग को कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सारग के समान है अर्थात अनेक प्रकारका है अथवा चित्तमे प्रमाद को उत्पन्न करने वाला जिसका आचरण है उसको प्रमत्तसयत कहते है।" स्त्री कथा भक्त-कथा राष्ट्रकथा राजकथा, ये चार विकथाएँ, क्रोध-मान माया-लोभ ये चार कषाये. स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इस प्रकार पन्द्रह प्रकार का प्रमाद होता है।

अथवा जो २७ मूल गुण का पालन करते हैं. परन्तु किञ्चित प्रमाद का वर्तन करते है। इस गुणस्थान में स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनो प्रकार के साधु होते है।

मुनिओं के २७ गुण

पांच महाव्रत, पांच इन्द्रिय निग्रह १० कषाय रहित १४ भाव सत्य १५, करण सत्य, जिनोक्त क्रिया १७, दर्शन सम्पन्न १८, ज्ञान सम्पन्न १६, चरित्र सम्पन्न २०, क्षमावान् २१, वैराग्यवान् २२, मन-वचन-काय निग्रह २५, शीतादि वेदना-परिषह सहन २६ मरणान्तीय उपसर्ग सहन २७। जैन साधुओं के ये मूल गुण होते हैं । स्थविरकल्पी-साधु शिष्य समुदाय वना कर सभा मे धर्मोपदेश करते है । जिनकल्पी साधु आत्म कक्षा को वढ़ा कर आत्मा से परमात्म स्वरूप मे लय रहते हैं। २२ परिषहों को सम भावसे सहन करते हैं ।

वेदनीय कर्म जनित ११ परिषह

उष्ण परिषह (१) गर्मी मे सूर्य के आतापन मे तपते है, शीत परिषह (२) शीतकाल मे सर्दी से नहीं डरते और परिमित वस्त्रों में रहते हैं, भूख परिषह (३) क्षुधा लगने पर विकलचित्त नहीं होते, तृषा परिषह (४) प्यास की प्रवलता होने पर अनुचित [अप्राशुक] जल का उपयोग नहीं करते, दंश मशक पहिषह (५) डांस मच्छरों से भय नहीं करते, शय्या परिषह (६) पृथ्वी या काष्ठ शय्या पर सोते हुये सुकुमार शय्या की वाञ्छा नहीं करते, बधपरिषह (७) किसी के द्वारा मारे-बांधे जाने पर भी अचल और शान्त रहते हैं, चर्या परिषह (८) पैदल चलने का कष्ट सहते है, तृण स्पर्श परिषह (६) तिनका-कॉटा लगने पर या बिछे हुये घास के कर्कश-स्पर्श से नही घबराते, मल परिषह (१०) शरीर के मैल से या दुगन्धित पदार्थों से ग्लानि नहीं करते, रोग परिषह (११)

रोग होने पर उसे समभाव से सहन करते हैं। इस प्रकार वेदनीय कर्म से उद्भूत ११ परिषह मुनिराज सहते हैं।

चरित्रमोह जन्य ७ परिषह

मैले वस्त्र या थोड़े वस्त्र होने पर संकोचजन्य कष्ट सहना लज्जा परिषह, कर्ण आदि इन्द्रियों के विषयों मे क़तई अनुराग न करना अरति परिषह, स्त्रियों के हाव भाव मे मोहित न होना स्त्री परिषह मान-अपमान को नगण्य समझना सत्कार पुरस्कार परिषह, भय रोग आदि पड़ने पर भी आसन-ध्यानादि से न हटना निषद्यापरिषह अधर्मी मूर्खादि के कटुवाक्य सहना आक्रोश परिषह, आहारादि के लिये दीनता की प्रवृत्ति का सेवन न करना याचना परिषह है। ये सात परिषह चरित्र मोहनीय के उदय से होते हैं।

ज्ञानावरणीय जन्य २ परिषह

अल्पज्ञान होने पर लोग छोटा गिनते हैं, उस दुःख का सहना अज्ञान परिषह, अधिक ज्ञान या मति की विशालता से गर्वित होना प्रज्ञापरिषह है। ये दो परिषह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होते हैं।

दर्शन-मोहनीय जनित १ परिषह

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन मे कदाचित दोष उत्पन्न होने पर भी चलायमान नहीं होना यह दर्शन परिषह है।

अन्तराय जन्य १ परिषह

वाञ्छित पदार्थ न मिलने पर जैन मुनि खिन्न नहीं होते यह अलाभ परिषह है। इन २२ परिषहों मे से कोई मन-जनित कोई वचन जनित और कोई काय जनित होते हैं। एक काल में

अधिक से अधिक उन्नीस परिषह तक उदय में आ सकते हैं। क्योंकि चर्या-आसन और शय्या में से कोई भी एक और शीत उष्ण में से कोई एक इस प्रकार पांच में से दो का उदय होता है शेष तीन का उदय नहीं होता। स्थविर कल्पी मुनि धर्मानुरागी अथवा किंचित् सरागी होते हैं और जिनकल्पी साधु अत्यन्त वैराग्यवान् होते हैं।

(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान

प्रमत्त [प्रमाद] रहित संयमवान् को अप्रमत्त संयत कहते हैं, अर्थात् सयत होते हुए जिन जीवों में प्रमाद नहीं रहता वे अप्रमत्त सयत समझे जाते है।

प्रश्न—शेष सम्पूर्ण संयतों का इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान मे अन्तर्भाव हो जाता है इस लिये शेष संयत गुण स्थानों का अभाव हो जायगा ?

उत्तर—जो आगे चल कर प्राप्त होने वाले अपूर्व करणादि विशेषणों से विशेषता अर्थात् भेद को प्राप्त नहीं होता और जिन का प्रमाद नष्ट होगया है ऐसे संयतों का ही यहां ग्रहण किया है। इस लिये आगे के समस्त संयतगुणस्थानों का इस मे अंतर्भाव नहीं होता।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाय कि यहाँ पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से भेद को प्राप्त होने वाले संयतों का ग्रहण नहीं किया गया ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि यह न माना जाय तो आगे के संयतगुणस्थानों का निरूपण नहीं हो सकता, इस लिये यह ज्ञात होता है कि यहां पर अपूर्व करणादि विशेषणों से रहित केवल

अप्रमत्त संयत गुणस्थान का ही ग्रहण किया गया है।

वर्तमान समय मे प्रत्याख्यानावरणीयकर्मके सर्वघाती स्पर्धकों का उदय क्षय होने से और आगामी काल मे उदय मे आने वाले उन्हीं के उदयाभावी लक्षण उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय के मंद उदय से प्रत्याख्यान की उत्पत्ति होती है इस लिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है। सयमके कारणभूत सम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यक्त्व के प्रतिबंधक कर्मोंके क्षय क्षयोपशम और उपशम से यह गुणस्थान उत्पन्न होता है इस लिये क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक भी है। कहा भी है कि-

जिसके वक्तव्य और अवक्तव्य सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रतगण और शील से मण्डित है, जो निरन्तर आत्म और शरीर के भेद-विज्ञान से युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हुआ है और जो उत्तम ध्यान मे लय है उसे अप्रमत्तसयतगुणस्थान कहते हैं।

अथवा अप्रमत्त गुण स्थान स्थिरता का स्थान है, यहा धर्म ध्यान मे चंचलता उत्पन्न करने वाली प्रमाद क्रिया नही है, और मन धर्म ध्यान मे स्थिर रहता है, जिस गुणस्थान के अंत तक चारित्र मोह के उपशम व क्षय का कारण अध.प्रवृत्तिकरण चारित्र रहता है और आहार विहार नहीं रहता अर्थात सातवें गुणस्थान के दो भेद है पहला स्वस्थान और दूसरा सातिशय जब तक छठवे से सातवे और सातवें से छठवे मे अनेक बार चढ़ उतर रहती है तब तक स्वस्थान गुणस्थान रहता है, और सातिशय गुणस्थान मे अध.करण के परिणाम रहते है, यहा आहार विहार नही है।

अधिक से अधिक उन्नीस परिषह तक उदय मे आ सकते है। क्योंकि चर्या-आसन और शय्या मे से कोई भी एक और शीत उष्ण मे से कोई एक इस प्रकार पांच मे से दो का उदय होता है शेष तीन का उदय नहीं होता। स्थविर कल्पी मुनि धर्मानुरागी अथवा किंचित् सरागी होते हैं और जिनकल्पी साधु अत्यन्त वैराग्यवान् होते हैं।

(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान

प्रमत्त [प्रमाद] रहित संयमवान् को अप्रमत्त संयत कहते हैं, अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवों में प्रमाद नहीं रहता वे अप्रमत्त सयत समझे जाते हैं।

प्रश्न—शेष सम्पूर्ण संयतों का इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान मे अन्तर्भाव हो जाता है इस लिये शेष संयत गुण स्थानों का अभाव हो जायगा?

उत्तर—जो आगे चल कर प्राप्त होने वाले अपूर्व करणादि विशेषणों से विशेषता अर्थात् भेद को प्राप्त नहीं होता और जिन का प्रमाद नष्ट होगया है ऐसे संयतों का ही यहां ग्रहण किया है। इस लिये आगे के समस्त संयतगुणस्थानों का इस मे अंतर्भाव नही होता।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाय कि यहाँ पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से भेद को प्राप्त होने वाले सयतों का ग्रहण नहीं किया गया?

उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि यह न माना जाय तो आगे के संयतगुणस्थानों का निरूपण नहीं हो सकता, इस लिये यह ज्ञात होता है कि यहां पर अपूर्व करणादि विशेषणों से रहित केवल

अप्रमत्त संयत गुणस्थान का ही ग्रहण किया गया है।

वर्तमान समय में प्रत्याख्यानावरणीयकर्मके सर्वघाती स्पर्धकों का उदय क्षय होने से और आगामी काल मे उदय मे आने वाले उन्हीं के उदयाभावी लक्षण उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय के मंद उदय से प्रत्याख्यान की उत्पत्ति होती है इस लिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है। संयमके कारणभूत सम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यक्त्व के प्रतिबंधक कर्मोंके क्षय क्षयोपशम और उपशम से यह गुणस्थान उत्पन्न होता है इस लिये क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक भी है। कहा भी है कि-

जिसके वक्तव्य और अवक्तव्य सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रतगण और शील से मण्डित है, जो निरन्तर आत्म और शरीर के भेद-विज्ञान से युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हुआ है और जो उत्तम ध्यान में लय है उसे अप्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं।

अथवा अप्रमत्त गुण स्थान स्थिरता का स्थान है, यहां धर्म ध्यान मे चंचलता उत्पन्न करने वाली प्रमाद क्रिया नहीं है, और मन धर्म ध्यान मे स्थिर रहता है, जिस गुणस्थान के अंत तक चारित्र मोह के उपशम व क्षय का कारण अधःप्रवृत्तिकरण चरित्र रहता है और आहार विहार नहीं रहता अर्थात् सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं पहला स्वस्थान और दूसरा सातिशय जब तक छठवें से सातवें और सातवें से छठवे मे अनेक वार चढ़ उतर रहती है तब तक स्वस्थान गुणस्थान रहता है, और सातिशय गुणस्थान मे अधःकरण के परिणाम रहते हैं, यहां आहार विहार नहीं है।

अपूर्व करण गुणस्थान

जहां मोह किंचित् उपशम अथवा किंचित् क्षय होता है। उपशम श्रेणी में उपशम और क्षपक श्रेणी में क्षय होता है। इस गुणस्थान मे ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं मानो पूर्व में कभी नहीं आये थे इसलिये इसका नाम अपूर्वकरण है। यहां चरित्र के तीन कारणों मे से अपूर्वकरण नामक दूसरा करण होता है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

यहां परिणामों की स्थिरता अधिक है, इस से पहले आठवें गुणस्थान में जो परिणाम किंचित् चपल थे वे यहां अचल हो जाते हैं। यहां परिणाम चढ़कर फिर नहीं गिरते। इस में चरित्र-मोहनीय का बहुभाग [सूक्ष्म लोभ को छोड़कर] नष्ट हो जाता है यह चरित्र का तीसरा करण है।

(१०) सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान

इसमें भी आठवें और नववें गुणस्थान के समान उपशम-क्षायिकश्रेणी के भेद हैं, यहां मोक्ष की अति-सूक्ष्म-अभिलाशा मात्र रहती है, यहां सूक्ष्म लोभ का उदय है इसी कारण इसे सूक्ष्मसा-म्पराय कहते है।

(११) उपशान्त मोह गुणस्थान

यहां मोक्ष का सर्वथा उपशम है, बिल्कुल उदय नहीं दीखता और जीव का यथाख्यातचरित्र प्रगट होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त होकर जीव अवश्य गिरता है और प्राप्त किये गणों को

नियम से नष्ट करता है, वह उपशम चरित्र की चरमसीमा प्राप्त करने वाला ग्यारहवां गुणस्थान है।

(१२) चीणमोह गुणस्थान

मोह का सर्वथा क्षय यहीं होता है, केवल ज्ञान एकदम समीप रह जाता है और यथाख्यात चरित्र प्रगट हो जाता है। उपशम श्रेणी की अपेक्षा ६—७—८—९—१०—११वें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त और जघन्यकाल एक समय है। क्षपक श्रेणीमें ८—९—१०—१२वें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त है।

(१३) सयोग केवलज्ञानी गुणस्थान

जिस मुनिके दुःखदायक घातिक-चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तराय नष्ट होगये है, और अघातिक-चतुष्क जली जेवड़ी के समान हैं। जिसके अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-अनन्तसुख-सत्ता और परमावगाढ़ सम्यक्त्व प्रगट होगये हैं वह केवलज्ञानी प्रभु होकर संसार में सुशोभित होता है और उसीकी अवस्था को सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान पर उनका साम्राज्य रहता है।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान

यहां किसी जीवको असाताका उदय रहता है साता का नहीं रहता और किसी जीव को साताका उदय रहता है असाता का नहीं रहता। मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है, जिसके जगद्विजयी होने के गीत गाये जाते हैं, जिसमे सयोगी

केवली के समान अघातिया कर्म प्रकृति की सत्ता रहती है वे उन्हें अन्त के दो समयों मे सर्वथा क्षय करते हैं। इस गुणस्थान का काल अ-इ-उ-ऋ-लृ पाच ह्रस्व अक्षर प्रमाण है, वह अयोगी जिन १४वां गुणस्थान है।

[ज]

ज्ञान

सत्य अर्थ को प्रकाशित करने वाली शक्ति विशेष को ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान भूतार्थ का प्रकाशक हो सकता है?

उत्तर—यह बात नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों के प्रकाश मे समानता पाई जाती है।

प्रश्न—यदि दोनोंके प्रकाश मे समानता पाई जाती है तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते है?

उत्तर—यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय से वस्तु के प्रति भासित होने पर भी संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय की निवृत्ति न होने से मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी कहा गया है।

प्रश्न—इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञान का अभाव प्राप्त हो जायगा?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है कारण दर्शनोपयोगकी अवस्था में ज्ञानोपयोग का अभाव इष्ट ही है।

प्रश्न—यदि यही मानलिया जाय तो इस कथन का

कालानुयोगमें आये हुए "एगजीवं पडुच्च अणाइओ अपज्जवसिओ" इत्यादि सूत्र के साथ विरोध हो जायगा ? अर्थात् कालानुयोग में ज्ञान का काल एक जीव की अपेक्षा अनादि अनन्त आया है और दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञान का अभाव बताया है, इसलिये यह कथन परस्पर विरुद्ध है। अतः दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञान का अभाव कैसे माना जा सकता है। क्योंकि इस कथन का कालानुयोग सूत्र से विरोध आता है ?

उत्तर—कालानुयोग मे जो ज्ञानकी अपेक्षा कालका कथन किया है वहां क्षयोपशम की प्रधानता है।

प्रश्न—विपर्ययज्ञान [मिथ्या ज्ञान] सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

उत्तर—चन्द्रमा मे पाये जाने वाले द्वित्व का दूसरे पदार्थों में सत्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञान में भूतार्थत्व बनता है।

अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तु स्वरूप का निश्चय कराने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का यह लक्षण करने से संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्था मे ज्ञान [सम्यग् ज्ञान] का अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण यह कि शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से वस्तुस्वरूप का उपलंभ कराने वाले धर्म को ही ज्ञान कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानी नहीं हो सकते। इस प्रकार जिसके द्वारा द्रव्य-गुण और पर्यायों को जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं, यह बात सिद्ध होती है।

प्रश्न—ज्ञान तो आत्मा से भिन्न है वह पदार्थों को जानने का साधकतम कैसे हो सकता है ?

उत्तर—साधकतम करणरूप ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्मा के स्वरूप की हानि का प्रसंग

आता है और कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनेकान्त के मान लेनेपर वस्तुस्वरूप की उपलब्धि होती है, इसलिये आत्मा से कथंचित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रिया के प्रति साधकतम कारण मान लेने मे कोई विरोध नहीं आता।

विशेष—यदि धर्म को धर्मी से सर्वथा भिन्न माना जाय तो दोनों की स्वतन्त्र-सत्ता सिद्ध हो जाने के कारण यह धर्म है और यह धर्मी है अथवा यह धर्म इस धर्मी का है इस प्रकार का व्यवहार ही नहीं बन सकता, इसलिये निश्चित धर्म के अभाव में वस्तु के विनाशका प्रसंग आता है और यदि धर्म को धर्मी से सर्वथा अभिन्न माना जाय तो धर्म और धर्मी का भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता। क्योंकि सर्वथा अभेद मानने पर इन दोनों मे से किसी एक का ही अस्तित्व सिद्ध होगा। उनमें से यदि केवल धर्म का ही अस्तित्व मान लिया जाय तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि कोई भी धर्म आधार के विना नहीं रह सकता यदि केवल धर्मीका अस्तित्व मान लियाजाय तोभी धर्मके विना उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहींहोसकती। इसलिये धर्मको धर्मी से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये। इस भाँति अनेकान्त के मानने पर ही धर्म धर्मी व्यवस्था बन सकती है और धर्म-धर्मी व्यवस्था के सिद्ध होने पर ज्ञान को साधकतम करण मानने मे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता। कहा भी है कि-

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषय समस्त द्रव्य उनके गुण और उनकी अनेक पर्यायों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानले उसको ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—ज्ञान का क्या कार्य है?

उत्तर—तत्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण

करना ज्ञान का कार्य है अथवा प्रधान पद की अपेक्षा अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है जैसे जिस वन मे आम के वृक्ष अधिक होते है उसे आम्र वन कहते हैं।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते है अर्थात् साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था, अथवा जानेगा ऐसे ज्ञानावरण कर्म के एक देश क्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणाम को ज्ञान कहते है। वह ज्ञान दो प्रकार का है, प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के दो भेद है, मतिज्ञान और श्रुतिज्ञान। पांच इन्द्रियों और मन से जिन पदार्थों का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते है। उस मतिज्ञान के चार प्रकार हैं, अवग्रह ईहा अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सम्बन्ध से समय मे जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रह से ग्रहण किये पदार्थ के विशेष को जानने के लिये इच्छानुरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते है। ईहा के द्वारा परिज्ञात पदार्थ के निश्चय रूप ज्ञान को अवाय कहते हैं। कालान्तर मे भी विस्मरण न करने के सस्कार को उत्पन्न करने वाले ज्ञान को धारणा कहते हैं।

अथवा मतिज्ञान २४ प्रकार का है। इसका स्पष्टीकरण यह है, चक्षु इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान चार प्रकार का है, अवग्रह ईहा अवाय और धारणा इस प्रकार शेष चार इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा के भेद से चार चार प्रकार का होता है। यों सब मिल कर २४ भेद हो जाते हैं। अथवा मतिज्ञान २८ प्रकार का होता है, जैसे अवग्रह दो प्रकार का है अर्थावग्रह और, व्यंजनावग्रह।

प्रश्न—अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर—अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं।

प्रश्न—व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यंजनावग्रह कहते हैं। उनमे चक्षु और मन से अर्थावग्रह होता है, क्योंकि इन दोनों मे प्राप्त अर्थ का ग्रहण नही पाया जाता, शेप चारों इन्द्रियों में अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह भी पाये जाते हैं।

प्रश्न—शेप इन्द्रियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता इसलिये उनमे अर्थावग्रह न होना चाहिये ?

उत्तर—नही, कारण एकेन्द्रियों का योग्य देश स्थित निधि वाले प्रदेश में ही अंकुरों का फैलाव अन्यथा नही बन सकता, इसलिये स्पर्शन इन्द्रिय के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना अर्थावग्रह बन जाता है ?

प्रश्न—इस प्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रिय के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण होने मे क्या हानि है फिर भी शेष इन्द्रियों के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता ?

उत्तर—यह नहीं, क्योंकि शेष इन्द्रियों से अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा न पाया जाय तो न सही तब भी वह स्वयं है ही, क्योंकि यदि हमारा ज्ञान त्रिकाल गोचर समस्त पदार्थों को जानने वाला होता तो अनुपलब्ध का अभाव सिद्ध हो जाता है, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थों को जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध न रहता, किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानने वाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थों को जानने वाले ज्ञान की हमारे यहां उपलब्धि ही नहीं होती। इस कथन से यह सिद्ध है कि शेष इन्द्रिया अप्राप्त

पदार्थ को ग्रहण करती हैं इस बात को यदि हम न भी जान सकें तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

दूसरे पदार्थ के पूर्ण रूप से अनिःसृतत्व को और अनुक्तत्व को हम अप्राप्त नही कहते हैं। जिस से उनके अवग्रहादि का कारण इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व होवे।

प्रश्न—तब फिर अप्राप्यकारित्व से क्या प्रयोजन है ? और यदि पूर्ण रूप से अनिःसृतत्व और अनुक्तत्व को अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मन से अनिस्सृत और अनुक्त के अवग्रहादि कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मन से भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्त के सब अवग्रहादि माने जायेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्व का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

उत्तर—इस प्रकार नहीं, क्योंकि इन्द्रियों से ग्रहण करने के योग्य देश मे पदार्थों की अवस्थिति को ही प्राप्ति कहते हैं। ऐसी अवस्था मे रस-गन्ध और स्पर्श का उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के साथ अपने अपने योग्य देश में रहना स्पष्ट ही है। शब्द का भी उसको ग्रहण करने वाला इन्द्रिय के साथ अपने योग्य देश मे अवस्थित रहना स्पष्ट है। उसी प्रकार रूप का चक्षु के साथ रूप का अप्राप्यकारित्व नही बनता। इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं।

उपरोक्त कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह है जैसे दही के गन्ध को ग्रहण करने के काल मे ही दही के रस की भी उपलब्धि हो जाती है। निश्चित धर्मों से युक्त वस्तु का अथवा वस्तु के एक देश का ग्रहण करना उक्तावग्रह है। 'वह यही है' इत्यादि प्रकार से ग्रहण करने को 'ध्रुवावग्रह' कहते हैं। 'वह यह नहीं है' इत्यादि प्रकार से ग्रहण करने को अध्रुवावग्रह कहते है। इसी प्रकार

ईहादि संबन्धी उक्त अनुक्त आदि को भी जानना चाहिये। इन सभी भेदों को मतिज्ञान कहते हैं।

शब्द और धूमादिक लिंग के द्वारा जो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। उनमें शब्द के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान दो प्रकार का है, अंग और अंग बाह्य अंग श्रुत बारह प्रकार का है और अंगबाह्य १४ प्रकार का है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं, अवधि ज्ञान मन-पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान। सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों को साक्षात जानने वाले ज्ञान को 'अवधि ज्ञान' कहते हैं। मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों को साक्षात्कार करने वाले पदार्थों के ज्ञान को 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं। त्रिकाल के विषय भूत समस्त पदार्थों को साक्षात जानने वाले ज्ञान को 'केवलज्ञान' कहते हैं।

इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व समवेत ज्ञानको मति-अज्ञान कहते हैं। शब्द के निमित्त से जो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुताज्ञान कहते हैं। मिथ्यादर्शन समवेत अवधि ज्ञान को विभंग ज्ञान कहते हैं। कहा भी है कि दूसरे के उपदेश बिना विष यन्त्र कूट पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मति अज्ञान कहते हैं।

चौर शास्त्र-हिंसा शास्त्र-युद्ध शास्त्र आदिके तुच्छ और सावन करने के अयोग्य मारण-मोहन-उच्चाटन वशीकरणादि निकृष्ट उपदेशों को श्रुत अज्ञान कहते हैं।

सर्वज्ञ द्वारा आगम से क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्म के कारणभूत विपरीत अवधिज्ञान को विभंग ज्ञान कहते हैं।

मन और इन्द्रियों की सहायता से समुत्पन्न हुये अभिमुख और नियमित पदार्थ के ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक १२ प्रकार के पदार्थ और अवग्रह आदि की अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हैं।

मति ज्ञान से परिज्ञात पदार्थ के अवलम्बन से तत्संबंधी अन्य पदार्थ के ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। इस के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य आदि दो भेद हैं उन में शब्द-जन्य श्रुतज्ञान मुख्य है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञान के विषयकी सीमा हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इस लिये परमागम मे इसे सीमाज्ञान भी कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुण प्रत्यय नामसे वीतराग जिनेन्द्र ने दो भेद कहे हैं।

जिस का भूत काल मे चिंतन किया है अथवा जिसका भविष्य काल मे चिंतन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरेके मन मे स्थित पदार्थ को जो जानता है उसे मन.पर्यय ज्ञान कहते हैं यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र मे ही होता है तथा ऋजु और विपुल इस के य दा भद है।

जो जीवद्रव्य के शक्तिगत सर्वज्ञान क अविभाग प्रा ्च्छे ।ा के व्यक्त होजानेके कारण सम्पूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के सवथा नाश होने पर जो अप्रतिहत श क्ति होने के कारण समस्त है, जो इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित होने के कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनुक्रम रहित सम्पूर्ण पदार्थों मे प्रवृत्ति करता है इस लिये असपत्न है और जो लोक तथा अलोक मे अज्ञानारूपी

अंधकार से रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे 'केवलज्ञान' कहते हैं।

जीव

जीव पदार्थ शुद्ध बुद्ध निर्विकल्प देहातीत चिच्चमत्कार विज्ञानघन आनन्दकन्द परमदेव सिद्ध परमात्मा के समान है। जैसा वह अनादि है वैसे अनंतभी है अर्थात् न उत्पन्न हुआ है न नष्ट होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूपसे मूलरूपमें स्वच्छ है परन्तु संसारी दशा मे अनादिकाल से शरीरसे संबद्ध और कर्मकालिमा से मलिन है। जिस प्रकार सोना खान मे कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टीमें पकाने से शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है, उसी भांति सम्यक्तप मुख्यतया शुक्लध्यान की अग्नि के द्वारा जीवात्मा परम शुद्ध होजाता है और कर्म कालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुये सोने को परखकर सोनेके दाम देते लेते है उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मल भरे शरीर में पूर्ण ज्ञान और आनन्दमय परमात्मा का अनुभव करते है।

जब कपडे पर मैल जम जाता है तब मलिन कहाता है, लोग उससे ग्लानि करते है और निरुपयोगी वतलाते हैं परन्तु विवेक दृष्टि से विचारें तो कपड़ा अपने मूल स्वरूप की अपेक्षा स्वच्छ है मात्र साबुन पानी का निमित्त चाहिये। वस! मैल सहित वस्त्र के समान कर्दम सहित आत्मा को मलिन करना व्यवहार नयका विषय है और मैल से निराले स्वच्छ वस्त्र के समान आत्मा को कर्म कालिमा से अलग जानना निश्चय नयका विषय है। अभिप्राय यह है कि जीव पर वास्तव मे कर्मकालिमा लगती ही नहीं।

कपड़े के मैल के समान वह शरीर आदि से बँधा हुआ है, भेद विज्ञान रूप साबुन और समता रसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीवको देह से भिन्न शुद्ध बुद्ध जानने वाला निश्चयनय है और शरीरसे तन्मय मोह एवं राग-द्वेष से मलिन कर्म के आधीन करने वाला व्यवहार नय है। इस लिये प्रथम अवस्था मे इस नयज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझ कर अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन होना चाहिये इसी का नाम अनुभव है। अनुभव प्राप्त होनेके अनन्तर फिर नयों का विकल्प भी नहीं रहता इस लिये कहना होगा कि नय प्रथम अवस्था मे है और आत्मा का स्वरूप समझने के अनन्तर नयोंका कहीं कुछ काम नहीं है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, जीव के गुण चैतन्य ज्ञान दर्शन आदि हैं। द्रव्य की अवस्था को पर्याय कहते हैं, जीव की पर्यायें नर नारक देव पशु आदि हैं। गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता और गुण पर्याय बिना द्रव्यके नहीं होते, इस लिए द्रव्य और गुण पर्यायों मे अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्याय को गौण और द्रव्य को मुख्य कर के कथन किया जाता है तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्याय को मुख्य तथा द्रव्य को गौण करके कथन किया जाता है तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इस लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के विषय मे सामान्य विशेष का अतर रहता है। जीव का स्वरूप निश्चय नय से ऐसा है, व्यवहार नय से ऐसा है, द्रव्यार्थिक नय से ऐसा है, पर्यायार्थिक नय से ऐसा है, अथवा नयों के भेद शुद्ध निश्चय नय, अशुद्ध निश्चय नय, सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय,

उपचरित व्यवहार नय इत्यादि विकल्प चित्तमें अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता, अतः कहना होगा कि नय के कल्लोल अनुभव में बाधक हैं परन्तु पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव विभाव के परखने में सहायक अवश्य हैं इस लिये नय निक्षेप और प्रमाण से अथवा जैसे बने तैसे आत्मस्वरूप की पहचान करके सदैव उस के विचार तथा चिंतन मे लगन रखनी चाहिये।

[द]

दर्शन

जिस के द्वारा देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं, दर्शन का इस प्रकार लक्षण करने पर चक्षु-इन्द्रिय और आलोक भी देखने में सहकारी होने से उन मे दर्शन का लक्षण चला जाता है इस लिये अतिप्रसंग दोष आता है। शंकाकारकी इस भाँति शंका को मन में निश्चय करके आचार्य कहते है कि इस प्रकार चक्षु-इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसंगदोष भी नहीं आता, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्मा के धर्म नहीं है। यहां चक्षु से द्रव्य चक्षु का ही ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—जिस के द्वारा देखा जाय या जाना जाय उसे दर्शन कहते है इस प्रकार दर्शन का लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमे कुछ विशेषता नहीं रह जाती है अर्थात् दोनो समान सिद्ध होते है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि अंतर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना जाता है, इस लिए इन दोनों

के एक होने मे विरोध आता है।

प्रश्न—वह चैतन्य क्या वस्तु है ?

उत्तर—त्रिकाल विषयक अनन्तपर्यायरूप जीव के स्वरूप का अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते है।

प्रश्न—अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञान को प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और पर पदार्थों को जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की व्याख्या के सिद्ध हो जाने से ज्ञान और दर्शन मे एकता आ जाती है इस लिये उन मे भेद सिद्ध नहीं हो सकता ?

उत्तर—यह न कहिये, क्योंकि जिस प्रकार ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेषरूप से प्रतिनियत कर्म की व्यवस्था होती है उस प्रकार दर्शन के द्वारा नहीं होती इसलिये इन दोनों मे भेद है।

प्रश्न—यदि यही बात है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है, यही मान लेना उचित है ?

उत्तर—यह अनुचित है, क्योंकि सामान्य और विशेषात्मक वस्तु का विना क्रम ही ग्रहण होता है।

प्रश्न—यदि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का क्रमके विना ही ग्रहण होता है तो रहे, ऐसा मान लेने से कोई विरोध भी नहीं आता ?

उत्तर—"छद्मस्थों के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते" इस कथन के साथ पूर्वोक्त कथन का विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि सामान्य छोड़कर केवल विशेष अर्थ-क्रिया करने मे असमर्थ है और जो अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तु रूप पड़ता है। अत एव उसका ग्रहण करने वाला होने के कारण ज्ञान प्रमाण नही होसकता। तथा केवल विशेष का ग्रहण भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य रहित अवस्तुरूप केवलविशेष मे कर्ता-कर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता। इस भाँति केवल बिशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध न होने से केवल सामान्य को ग्रहण करनेवाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते। अर्थात् जब कि सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य वस्तुरूप से सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं?

प्रश्न—यदि यही है तो प्रमाण का अभाव ही क्यों न मान लिया जाय?

उत्तर—यह ठीक न होगा, क्योंकि प्रमाण का अभाव मान लेने पर प्रमेय-प्रमाता आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा।

प्रश्न—यदि प्रमेयादि सभी का अभाव होता हो तो रहे?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रमेयादिका अभाव देखने में नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टि-गोचर होता है अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य-पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है, यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—उक्त प्रकार से दर्शन और ज्ञान का स्वरूप मान लेने पर 'वस्तु का जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागम के इस वचन के साथ विरोध आता है?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्यपदार्थों में साधारणरूप से पाया जाता है इसलिये उक्त वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पद से आत्मा का ही ग्रहण किया है?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'पदार्थों के आकार अर्थात् भेद को न करके' इस वचनसे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। इसी को स्पष्ट करते है, भावों के अर्थात बाह्य पदार्थों के आकाररूप प्रतिकर्म-व्यवस्था को नहीं करके अर्थात् भेदरूप से प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण न करके, जो (सामान्य) ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं। फिर भी इसी भाव को दृढ़ करने के लिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है' 'यह अमुक पदार्थ है' इत्यादि रूपसे पदार्थों की विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। इस कथन से यदि कोई यह शंका करे कि बाह्य पदार्थों मे रहने वाले सामान्य को ग्रहण करना दर्शन है तब उसकी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष की अपेक्षा रहित केवल-सामान्य अवस्तुस्वरूप है इसलिये वह दर्शनके विषय-भाव(कर्मत्व) को नहीं पासकता, उसी प्रकार सामान्य के विना केवल विशेष भी ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्य का ग्रहण मानलिया जाय तो अतिप्रसंग दोष आता है।

प्रश्न—दर्शन के लक्षण को इस प्रकार मान लेने पर अनध्यवसाय को दर्शन मानना पड़ेगा?

उत्तर—नहीं, क्योंकि बाह्यार्थका निश्चय न करतेहुये भी स्वरूप का निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिये वह अनध्यवसायरूप

नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होने के कारण प्रमाण ही है और अनध्यवसायरूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उस मे विसंवाद और अविसवाद दोनों रूप पाये जाते हैं। (जैसे मार्ग में चलते हुये तृणस्पर्श के होनेपर 'कुछ है' यह ज्ञान निश्चयात्मक है और 'क्या है' यह ज्ञान अनिश्चयात्मक है, इसलिये अनध्यवसायको उभयरूप कहा है।)

अथवा आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते है और वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं तथा आलोकन अर्थात् आत्मा की (वेदनरूप व्यापार) को आलोक वृत्ति (स्वसंवेदन) कहते हैं और वह दर्शन ही है। यहां पर दर्शन शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया है। अथवा प्रकाशवृत्ति को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार है कि प्रकाश ज्ञान को कहते हैं और उस ज्ञान के लिये जो आत्माका व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं और वही दर्शन है। अथात् विषय और विषयी के योग्य देशमे होने की पूर्वावस्था को दर्शन कहते हैं। कहा भी है कि—

"सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग अलग भेदरूप से ग्रहण न करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूप मात्र का अवभासन होता है उसको परमागम में दर्शन कहा है।"

[न]

निर्जरा

संसारी जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूले हुये हैं

इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषय मे उद्योग भी करते है तो सत्य मार्ग के न मिलने से बहुधा व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बंध करते हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ मार्ग और परिग्रह-संग्रह की उपाधि रहने पर भी जीव ससार की चक्की मे नहीं पिसता और दूसरों को जगज्जाल से निकालने का रास्ता बतलाता है, इस लिये मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाहरी आडम्बर नहीं। ज्ञान के विना सब क्रियाएँ भार रूप हैं। कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा मे ही होता है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा स्वयं अपने ऊपर जाल पूरता है उसी प्रकार अज्ञानी खुद ही शरीरादि से अहंबुद्धि द्वारा अपने आपे मे अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, पर ज्ञानी लोग सम्पत्ति मे हर्ष नहीं करते तथा विपत्ति मे विषाद! सुख दुःख को कर्म जन्य लेप समझते है इसलिये उनकी दृष्टि मे सम्पत्ति विपत्ति कोई पदार्थ नहीं है वे तो ज्ञान वैराग्य मे मस्त रहते हैं। उनके लिये संसार मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस स वे राग करें और न संसार मे कोई ऐसा पदार्थ है जिस पर वे द्वेष प्रगट करें। उनकी क्रिया फल की इच्छा रहित होती है अतः उनकी आत्मा को कर्म बन्ध नहीं होता, प्रत्युत पर असंख्य-गुणित निर्जरा होती है। उन्हें शुभ अशुभ इष्ट अनिष्ट समान हैं। अथवा संसार मे कोई पदार्थ अच्छा बुरा ही नहीं है तब वे राग द्वेष किस पर कर सकते हैं? संयोग वियोग हानि लाभ भी उन के विचार मे नगण्य है। ऐसा विवेकी लोगों की दृष्टि मे सधन या निर्धन होने पर भी वे स्वयं तो आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। जब उन्हों ने पदार्थ का स्वरूप समझ लिया और

अपने आत्मा को नित्य और निराबाध जान लिया तो उन के चित्त पर सात प्रकार का भय भी नहीं होता और उनका अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है जिस से अनंत कर्मों की निर्जरा होती है।

[५]

पुण्य-पाप

जिस का बंध विशुद्ध भावों से होता है वह पुण्य और जिसका बंध संक्लिष्ट (अशुद्ध) भावों से होता है वह पाप है। प्रशस्त राग-अनुकम्पा कलुषता रहित भाव अर्हन् सिद्धादि पंच परमेष्ठी की भक्ति व्रत संयम शील दान मंद कषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्य-बंध के कारण हैं और साता शुभ आयु ऊँच गोत्र देव गति आदि शुभ नाम पुण्य कर्म हैं। प्रमाद सहित वृत्ति चित्त की कलुषता विषयों की लोलुपता दूसरों को सन्ताप देना औरों का अपवाद करना आहार परिग्रह भय मैथुन चारों संज्ञा, तीनों कुज्ञान आर्त रौद्र ध्यान मिथ्यात्व अप्रशस्त राग-द्वेष अव्रत असंयम अति आरंभ दुःख शोक ताप आक्रंदन योगों की वक्रता आत्मप्रशंसा मूढ़ता अनायातन तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव हैं पाप बंधके कारण हैं। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय असाता मोहनीय नर्क आयु पशु गति अशुभ नाम नीच गोत्र अन्तराय आदि पाप कर्म हैं।

अशुभ परिणति और शुभ परिणति दोनों आत्मा के विभाव [बिगड़े हुये गुण] हैं, दोनों ही आस्रव बंधरूप हैं, संवर निर्जराके कारण नहीं है, इसलिये दोनों ही मुक्ति मार्गमे बाधक और मुक्ति मार्गमे घातक होनेसे पाप और पुण्य दोनो बंधकी दृष्टिसे समान हैं।

यद्यपि दोनोंके कारण रस स्वभाव और फल मे अन्तर है, तथापि पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय है सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान दोनों ही जीव को संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है। इनमें शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है। इस कारण मोक्ष मार्ग मे दोनों की प्रशंसा नहीं की जाती। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्मा के विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गल जनित हैं, आत्म जनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवल ज्ञान ही प्रगट होता है।

आत्मा मे स्वभाव विभाव नाम की दो प्रकार की परिणति होती हैं, स्वभाव परिणति वीतराग भाव है और विभाव परिणति राग-द्वेष रूप है। इन राग और द्वेष मे से द्वेष तो सर्वथा पाप रूप है परन्तु राग-प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है, इसमे प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग् दर्शन उत्पन्न होने के पूर्व स्वभाव भाव का उदय नहीं होता, अतः मिथ्यात्व की दशा में जीव की शुभ अथवा अशुभ रूप विभाव परिणति ही रहती है, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर कर्म का सर्वथा अभाव होने तक स्वभाव और विभाव दोनों परिणति रहती हैं, इसमे स्वभाव परिणति संवर निर्जरा तथा मोक्ष की जननी रहती है और विभाव परिणति बंध को ही उत्पन्न करती है। इसका स्पष्टीकरण यह भी है कि ' जावत शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग, तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी" की रीति से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पाप परिणति से बच कर शुभोपयोग का अवलम्बन लेते हैं और शुभ परिणति उन्हें आस्रव ही की प्राप्ति कराती है। उन्हें जो गुण श्रेणी रूप निर्जरा होती है वह शुद्धोपयोग के बल से होती है। शुभोपयोग तो आस्रव ही

उत्पन्न करता है। भाव यह कि जितने अंश मे राग है उतने ही अंश मे बंध है और जितने अंश मे ज्ञान और निश्चय चरित्र है उतने अंश में बंध नहीं है इसलिये पुण्य को भी पाप के समान हेय समझ कर शुद्धोपयोग का ही आश्रय लेना उचित है।

[ब]

बंध

यद्यपि सिद्धालय में अनन्त कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं तो भी सिद्ध भगवान् को कर्म का बंध नहीं होता, अर्हन्‌ भगवान योग सहित होने पर भी अबंध हैं, प्रमत्त रहित अवस्था में हिंसा हो जाने पर भी मुनियों को बंध नहीं होता, सम्यग्दृष्टि जीव असंयत होने पर भी बंध से रहित हैं। इससे स्पष्ट है कि योग हिंसा असंयम और कार्मणवर्गणाओं से बंध नहीं होता, केवल शुभ अशुभ अशुद्धोपयोग ही बंध का कारण है। अशुद्ध-उपयोग राग-द्वेष और मोह है और राग-द्वेष मोह का अभाव सम्यग्दर्शन है, अतः बंध का अभाव करने के लिये सम्यग्दर्शन को सँभालना चाहिये जिसमें प्रमाद करना अनुचित है, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष का प्रदाता है। यह सम्यग्दर्शन विपरीत अभिनिवेश रहित होता है, मैंने किया मेरा है मैं चाहूं सो करूं, यह मिथ्या भाव सम्यग्दर्शन मे नहीं होता, इसमे शरीर-धन-कुटुम्ब या विषय भोग से विरक्त भाव रहते हैं और चपल चित्त को विश्राम मिलता है सम्यग्दर्शन जागृत होने पर व्यावहारिक तल्लीनता नहीं रहती, निश्चय नय के विषयभूत निर्विकल्प और निरुपाधि आत्मा के स्वरूप का चिन्तन होता है और मिथ्यात्व के आधीन

होकर संसारी आत्मा जो कि अनादिकाल से कोल्हू के बैल के समान संसार मे चक्कर काट रहा था उसे विलक्षण शान्ति मिलती है। सम्यग्ज्ञानियों को अपना ईश्वर अपने मे ही दीखता है और बंध के कारणों का अभाव होने से उन्हें परमेश्वर पद प्राप्त होता है।

[भ]

भव्य

जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धि पद पाने के योग्य है उसे भव्य कहते हैं। कहा भी है,

"जो जीव सिद्धत्व अर्थात् सर्व कर्म से रहित मुक्त रूप अवस्था पाने के योग्य है उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं, किन्तु उनके कनकोपल अर्थात् सोना और पत्थर के समान मल का नाश होने मे नियम नहीं है"।

विशेष—सिद्धत्व की योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिये यह कारण वतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्णपाषाण मे सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है, इसी प्रकार सिद्ध अवस्था की योग्यता रखते हुये भी तदनुकूल सामग्री के न मिलने से सिद्ध पद की प्राप्ति नहीं होती।

जिन्होंने निर्वाण को पुरस्कृत नहीं किया है उनको अभव्य कहते हैं।

भावावश्यक

(सम्पूर्ण जीवन मुक्त)

नमो अरिहंताणं—अरिहंत देवों के लिये नमस्कार—स्वकृत-कर्मरूपी आत्मिक शत्रुओं को नष्ट करके आत्मा से पृथक् करने वाले चार कर्मों का क्षय करने वाले और चार कर्मों को क्षय करने मे तैयार रहते हुए उनको पतला करने वाले अर्हन् हैं।

(मुक्त)

नमो सिद्धाणं—सिद्ध भगवान् के लिये नमस्कार—सम्पूर्ण-तया कर्मों का नाश करके जन्म, जरा, मरण का सम्बन्ध जड़ मूल से तोड़ कर नष्ट करने वाले, देहादि सम्बन्ध को छोड़ कर स्वयं ज्योतिः स्वरूप अपुनरावृत्ति अवस्था को प्राप्त करने वाले सिद्ध हैं।

[स्वमार्ग का उपदेशक]

नमो आयरियाणं—आचार्यों के लिये नमस्कार—स्वयं उत्तम आचार पाल कर आत्म-स्वरूप मे रमण करने वाले और अन्यको उत्तम आचार पालन करनेका उपदेश देकर आत्मा स्वरूप में रमण करने का उपदेश करने वाले।

[आत्मोपदेश का शिक्षक]

नमो उवज्झायाणं—उपाध्यायों के लिये नमस्कार—जो स्वयं सिद्धान्त का अध्ययन करते हुए अन्य को भी पढ़ा कर अध्यात्म गुण में सम्पन्न करने वाले उपाध्याय हैं।

(साधक)

नमो लोए सव्वसाहूणं—लोक मे तेजस्वी तारों की तरह आत्माकी आभा चमकानेवाले—समस्त लोकमे रहनेवाले भाव साधु आत्मानुभव प्राप्त करने के लिये अहर्निश प्रयास करने वाले साधक को नमस्कार।

प्रथमावश्यक

सावज्जं जोगं विरइ-संवर।

(सबके सब अशुभ योगों से रहित होने का प्रयास)

निवृत्ति के लिये जितने समय तक समय निश्चित किया हो वहा तक।

सावज्जंजोगं पडिक्कमामि—अप्रशस्त योग से अलग हटता हूं—उसे दबा देता हू।

निन्दामि—उसकी मनसे निन्दा करता हूं।

गर्हामि—वचन से निन्दा करता हूं—(प्रसगपर)।

अप्पाणं वोसिरामि—उस अप्रशस्त योग से व्याप्त आत्मा (कषायात्मा) को छोडता हूं।

उसे मात्र वाणी से कहकर ही नहीं बल्कि हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक अशुभ योगको तथा किसीकी निन्दा, मिथ्या भाषण, कठोर वचनादि वाचिक अशुभ योगको, तथा किसीसे धनके लेनेकी अभिलाषा, ईर्षा, असूया, अनिष्ट चिन्तन आदि मानसिक अशुभ योगको मिटा कर, सत्कीर्तनादि शुभयोग मे लगने के लिये उत्तम और एकान्त स्थलमे थोडेसे उपकरण लेकर शान्त चित्तसे स्थित होता हूं।

दूसरा आवश्यक

उत्कीर्तन—साध्य प्राप्त पुरुषों के गुणगान और उसके द्वारा साध्यका तथा उसे प्राप्त करनेके मार्गका मान।

नमोत्थुणं—नमस्कार हो।

अरिहंताणं—अरिहंत देवको।

भगवन्ताणं—भगवान् को।

आइगराणं—गणधर धर्मकी आदि करनेवाले।

तित्थयराणं—चार तीर्थरूप (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) साधकोंकी स्थापना करनेवाले।

सयंसंबुद्धाणं—अपने क्षयोपशमसे बोध पानेवाले।

पुरिसुत्तमाणं—पुरुषोंमे गुणोत्तम, पुरुषोत्तम।

पुरुससिहाणं—पुरुषोंमे सिंह समान-सहिष्णु।

पुरिसवरपुंडरियाणं—पुरुषोंमे उत्तम पुंडरीक-कमलके सदृश महान् और तेजस्वी।

पुरिसवरगंधहत्थिणं—पुरुषों से उत्तम गन्धहस्तीकी तरह आत्मिकबल से बलिष्ठ।

लोगुत्तमाणं—उत्तम साधन-सामग्रियोंकी रचना करनेवाले लोकमे उत्तम।

लोगनाहाणं—लोकके नाथ।

लोगहियाणं—लोकके हितोपदेशी।

लोगपईवाणं—लोकके ज्ञान दीपक।

लोगपज्जोयगराणं—लोकके विशेष प्रद्योतक।

अभयदयाणं—अभयदानके देनेवाले ।

चक्खुदयाणं—ज्ञान रूप नेत्रके दाता ।

मग्गदयाणं—असंग-मार्गके दाता ।

सरणदयाणं—शरण (आश्रय) दाता ।

जीवदयाणं—संयम-जीवनदाता ।

वोहीदयाणं—उपदेशके दायक ।

धम्मदयाण—धर्म पथपर लगानेवाले ।

धम्मदेसियाणं—धर्म सन्देश पहुंचानेवाले ।

धम्मनायगाणं—धर्मके अनुकूल नियमों के रचयिता ।

धम्मसारहीणं—धर्मरूप रथके चलानेवाले सारथी ।

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं—धर्म प्रधान, चार-गतिरूप संसार का अन्त करनेवाले चक्रवर्ती ।

दीवोत्ताणं शरणगइपइट्ठा—चार गतिमे पड़ते हुये जीवोंकी रक्षा करनेमे टापूकी तरह शरण रूप ।

अप्पडिहय—अनन्त काल तक रहनेवाले—वर—उत्तम और प्रधान ।

नाणदसण—ज्ञान दर्शन । धराण—सम्पन्न ।

वियट्टछउमाण—जिसका छद्मस्थ भाव चला गया है ।

जिनाणं—राग, द्वेष और मोह कर्म जीतनेवाले ।

जावयाण—औरोंको राग द्वेष जितानेमे सहायक ।

तिन्नाणं—संसार समुद्र को पार करने वाले ।

तारियाण—अन्यके लिये ससार समुद्रका अन्त करानेमे सहायक रूप ।

वुद्धाण—सम्पूर्ण तत्वज्ञानको हस्त सिद्ध करनेवाले ।

वोहियाण—अन्यको तत्वज्ञान समझानेवाले ।

मुत्ताणं—कर्म वन्धनसे मुक्त होनेवाले।

मोयगाणं—अन्य को वन्धन से मुक्त कराने में सहायक होकर उसका मार्ग बतानेवाले।

सव्वन्नूणं—सब कुछ जाननेवाले।

सव्वदरिसीणं—सब कुछ देखनेवाले।

सिवं—उपद्रव रहित-आत्मा-कल्याणका विकास करने वाले।

अयलं—चलायमान न होने वाला।

अरुज—रोग रहित।

अनन्तं—अन्त-विनाश रहित।

अक्खयं—एक रस।

अव्वाबाहं—अव्याबाध-पीड़ा रहित।

अप्पुणराव्वित्ति—जिस स्थलसे पतन न हो।

सिद्धिगइ नाम धेयं ठाणं संपत्ताणं—सिद्धिगति नामक स्थान के पानेवाले।

नमो जिणाणं—सात भय जीतनेवाले।

जिय भयाणं—ऐसे तीर्थंकरको मेरा नमस्कार हो।

उपरोक्त नमोत्थुणं अथवा किसी अन्य स्तवनादिसे जो कि प्रभुके गुणगानका सूचक हो उससे प्रभुके गुणगान पूर्ण प्रेम से करने चाहिये।

तीसरा आवश्यक

पडिवत्ति (वंदना)

पवित्र पुरुषो का गुण गाते-गाते उनके प्रति अपरिमित प्रेम-पूज्य बुद्धि उत्पन्न होनेपर स्वाभाविक रीतिसे नमन हो जाता है। वही

वन्दना है।

महात्मा पुरुष यदि उपस्थित हों तो बहुमान पूर्वक उनके चरणोंमे मस्तक नवाकर उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करना चाहिये।

यदि वे उपस्थित न हों तो उन्हे अपने समक्ष उपस्थित समझ कर शान्त चित्त से सम्पूर्ण धारणा करनी चाहिये और उनका साक्षात्-स्वरूप खड़ा समझकर उनको प्रेम पूर्वक वन्दना करे।

वन्दना विधि—उनका दर्शन कल्याणकारी, मंगलकारी, समझ कर उनको साक्षात् धर्मदेव मान कर ७-८ पद सन्मुख जाकर बायां गोडा ऊंचा रखकर, दहिना गोडा जमीन से लगा कर दोनों हाथ जोड़ कर, दायें कान से बायें कान तक प्रदक्षिणा करके, तीन वार अपना मस्तक नवाकर भाव से उन की सेवा और भक्ति करनी चाहिये।

चतुर्थ-आवश्यक

खलयिस्स निंदणा—(जिस समय प्रतिक्रमण करना हो उस समय से पूर्वकालमे अथवा उस दिन जो जो दोष हुये हैं, जिन जिन योगों द्वारा स्वभाव से स्खलना हुई है विभाव मे परिणमन हो गया हो, उसे एक के बाद एक को शान्त भाव से देख जाना और उसका पश्चात्ताप करते हुये उन दोषों से पीछे हट जाना।)

अ-देवसी राइसी प्रतिक्रमण—सवेरे से सांझ तक वैसी ही स्खलना हो गई है या नहीं, उसे सन्ध्या समय देखना 'देवसी प्रतिक्रमण है, और सांझ से सवेरे तक होने वाली स्खलनाओंको स्मरण करके उनका अवलोकन करना 'राई' प्रतिक्रमण है।

अ-पक्खी चौमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

पाक्खी प्रतिक्रमण—यह सोचना कि गत पक्ष से इस पक्ष में कितनी स्खलना हुई और स्थिरता हुई। इस का, जोड़ निकालना, इस प्रकार चातुर्मासिक-सांवत्सरिक के विषय मे भी समझना चाहिये।

प्रभु के गुण कीर्तन करने का 'साध्य' क्या है उस का भान होता है। उसे देखनेपर यही होगा कि—सन्मार्गरूप पथ कहा और मिथ्यात्व अविरत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग युक्त यह मेरा चरित्र कहां? स्वभाव दशा कहां और मेरे मे प्रवर्तन करने वाली विभाव दशा कहाँ? अरे! अब तक का परिभ्रमण तो मात्र भ्रान्ति में ही होता रहा।

ओ भ्रान्ति-अज्ञान-मोहदशा! तेरे कुसंग के वश में पड़कर मैं जड़ में ही सुख मान बैठा, स्वार्थवश अनेक जीवों को नाना प्रकार से मैंने दुःख दिये।

असत्य—मिथ्या भाषण में ही मैंने प्रवर्तन किया, अनेक विध छोटी मोटी चोरी की। कई प्रकारका व्यभिचार सेवन करता रहा।

परिग्रह—इच्छाओंका किसी भी अंशमें निरोध करनेके समान प्रयत्न नहीं किया। बस! अब तुझे अंतिम प्रणाम है। अब मैं अपने आन्तरिक प्रभु की आज्ञा के पालन करने मे लगूंगा। कषायों को जैसे बनेगा वैसे देश निकाला दूंगा, और योगात्माका बर्ताव करूंगा। तब वह शुभ योग मे ही प्रवर्तित होगा।

अथवा—निम्न सूचनाओं को विचारना और उन के भावों को पहुंचने के मार्ग जो कि मन, वाणी, कायके योग कंटक रूप होकर आगे पड़े हुये हैं उनका प्रतिशोध करके निकाल डालना। उसे

शोधकर, उसकी निन्दा करके, उसके लिये 'अतरमे सच्ची' अरुचि उत्पन्न करके, ऐसी प्रवृत्ति के लिए वास्तविक पश्चात्ताप * करके उस से दूर रहना और धर्म ध्यान मे ही प्रवृत्ति करे कि-जिससे उस के भाव को प्राप्त किया जा सके।

ज्ञान—अस्वाध्याय का काल छोडकर एकाग्र चित्त से, स्पष्ट उच्चारण द्वारा स्वाध्याय करना चाहिये और अस्वाध्याय के समय ध्यान।

दर्शन—जहाँ तक देह भाव, जड़भाव सेवन करने की इच्छा है वहा तक मिथ्यात्व१ो छोड़ कर प्रभुकी आज्ञामे दृढ़ श्रद्धा रक्खे वह सम्यक्त्व कहलाता है। अर्थात् आत्म-दर्शन।

चरित्र और तप—प्रथम व्रत समान भाव—सब प्राणियोंको

---

* भूल होने पर पश्चात्ताप करना चाहिये और उस भूल का मूल कारण शोधकर, उसको निर्मूल करके फिर उस तरह भूल न होने पावे, इसलिये सतेज होना चाहिए परन्तु अपने जैसे तत्काल के नवीन विद्यार्थियोंको प्रत्येक प्रवृत्तिके समय मोह दशाके कारण उस सूचना के भाव का भान नहीं रहता, इस से जब निवृत्ति का समय पाकर बैठते है और विचार करते हैं कि-आज क्या-क्या प्रवृत्तिएँ बनी है। उस समय अपना भाव सूचना के अनुसार रहा या नहीं। उसका भान होताहै इसीसे सवेरे शाम प्रभुने प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। परन्तु उसमे से चढते चढ़ते ऊचा दर्जा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह यह कि-प्रत्येक प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के प्रसंग प्रत्येक सूचना के भाव का भान रहे। यह दर्जा जब हासिल होगा तब आत्मा का साक्षात्कार और निरीक्षण प्रतिक्षण होता रहेगा। तदन्तर 'देवसी और राई प्रतिक्रमण' के नियम लागू न होंगे।

आ-पक्खी चौमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

पाक्खी प्रतिक्रमण—यह सोचना कि गत पक्ष से इस पक्ष में कितनी स्खलना हुई और स्थिरता हुई । इस का, जोड़ निकालना, इस प्रकार चातुर्मासिक-सांवत्सरिक के विषय में भी समझना चाहिये ।

प्रभु के गुण कीर्तन करने का 'साध्य' क्या है उस का भान होता है । उसे देखनेपर यही होगा कि—सन्मार्गरूप पथ कहां और मिथ्यात्व अविरत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग युक्त यह मेरा चरित्र कहां ? स्वभाव दशा कहां और मेरे में प्रवर्तन करने वाली विभाव दशा कहाँ ? अरे ! अब तक का परिभ्रमण तो मात्र भ्रान्ति मे ही होता रहा ।

ओ भ्रान्ति-अज्ञान-मोहदशा ! तेरे कुसंग के वश में पड़कर मैं जड़ में ही सुख मान बैठा, स्वार्थवश अनेक जीवों को नाना प्रकार से मैंने दुःख दिये ।

असत्य—मिथ्या भाषण में ही मैंने प्रवर्तन किया, अनेक विध छोटी मोटी चोरी की । कई प्रकारका व्यभिचार सेवन करता रहा ।

परिग्रह—इच्छाओंका किसी भी अंशमें निरोध करनेके समान प्रयत्न नहीं किया । बस ! अब तुझे अंतिम प्रणाम है । अब मैं अपने आन्तरिक प्रभु की आज्ञा के पालन करने मे लगूंगा । कषायों को जैसे बनेगा वैसे देश निकाला दूंगा, और योगात्माका वर्ताव करूंगा । तब वह शुभ योग मे ही प्रवर्तित होगा ।

अथवा—निम्न सूचनाओं को विचारना और उन के भावों को पहुंचने के मार्ग जो कि मन, वाणी, कायके योग कंटक रूप होकर आगे पड़े हुये हैं उनका प्रतिशोध करके निकाल डालना । उसे

शोधकर, उसकी निन्दा करके, उसके लिये 'अतरमे सच्ची' अरुचि उत्पन्न करके, ऐसी प्रवृत्ति के लिए वास्तविक पश्चात्ताप * करके उस से दूर रहना और धर्म ध्यान मे ही प्रवृत्ति करे कि-जिससे उस के भाव को प्राप्त किया जा सके।

ज्ञान—अस्वाध्याय का काल छोड़कर एकाग्र चित्त से, स्पष्ट उच्चारण द्वारा स्वाध्याय करना चाहिये और अस्वाध्याय के समय ध्यान।

दर्शन—जहाँ तक देह भाव, जडभाव सेवन करने की इच्छा है वहा तक मिथ्यात्वको छोड़ कर प्रभुकी आज्ञामे दृढ़ श्रद्धा रक्खे वह सम्यक्त्व कहलाता है। अर्थात् आत्म-दर्शन।

चरित्र और तप—प्रथम व्रत समान भाव—सब प्राणियोंको

---

* भूल होने पर पश्चात्ताप करना चाहिये और उस भूल का मूल कारण शोधकर, उसको निर्मूल करके फिर उस तरह भूल न होने पावे, इसलिये सतेज होना चाहिए परन्तु अपने जैसे तत्काल के नवीन विद्यार्थियोंको प्रत्येक प्रवृत्तिके समय मोह दशाके कारण उस सूचना के भाव का भान नहीं रहता, इस से जब निवृत्ति का समय पाकर बैठते है और विचार करते हैं कि-आज क्या-क्या प्रवृत्तिएँ बनी हैं। उस समय अपना भाव सूचना के अनुसार रहा या नहीं। उसका भान होताहै इसीसे सवेरे शाम प्रभुने प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। परन्तु उसमे से चढ़ते चढ़ते ऊंचा दर्जा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह यह कि–प्रत्येक प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के प्रसंग प्रत्येक सूचना के भाव का भान रहे। यह दर्जा जब हासिल होगा तब आतमा का साक्षात्कार और निरीक्षण प्रतिक्षण होता रहेगा। तदन्तर 'देवसी और राई प्रतिक्रमण' के नियम लागू न होंगे।

लोकमें आनन्द प्राप्त करनेका समानाधिकार है। इस अधिकारको छीन कर किसी भी प्रकार से स्वार्थवश लोक, स्त्री, सन्तान, माता, पिता बहिन, भाई, मित्र, जाति, जन, सेवक, गाय, भैंस, घोड़ा, पशु पक्षी इत्यादि को अनेक जाति के बंधनोंमें डालदेते हैं। अधिकार-सेवन या अंगोपांग तक काट लेते हैं। उनके हृदय मर्म को छेदने तक का बर्ताव करते हैं। उनकी शक्तिके उपरान्त अनेक प्रकारके कामकाज और बोझ तक लादते हैं। कूटनीतिका व्यवहार चलाकर उन्हें अन्न, पानी, आजीविका तककी अंतराय दे डालते हैं। उनको आवश्यकतानुसार साधन और सुख से वंचित रखते हैं। परन्तु उनके साथ इस तरह बर्ताव करनेका किसीको क्या हक़ है? इतने पर भी उन जीवोंकी हम फिर रक्षा करनेका ढींढोरा पीटते हैं। यह तो अपना एक प्रकारका स्वार्थ हुआ। अतएव प्रत्येक जीव के प्रति अपना स्वार्थ बंधन तोड़कर; उनके साथ एकताका वर्ताव करने के लिये निम्न भावना बनाकर उनकी खुमारीको पानेके लिये दिन रात यही प्रबन्ध करना चाहिये।

भावना

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

सब जीवोंकी अवज्ञाओंको मै क्षमा करता हूं। हे सर्वजीवो! तुम्हारे प्रति जो कुछ मुझसे अपराध होगयाहै उसे क्षमा करें। मेरा सब जीवो से मैत्री भाव है। किसी के साथ वैर भाव नहीं है।

इस भावनाको अहर्निश अंतर मे रखकर व्यवहार मे प्रवर्तन करे, जिसके द्वारा अखिल विश्वके जीवो के साथ ऐक्य-भाव प्राप्त होगा। ऐक्य-भावकी प्राप्ति होने पर भेदभाव युक्त जड़भाव पुद्गल

प्रेम नष्ट होकर सर्वत्र स्व स्वरूप ही भासमान होगा।

द्वितीय सत्यव्रत—मै क्या बोलना चाहता हूं ? वह भी किस लिये ? उत्तर मे कहना होगा कि—सत्य की शोध के लिये। या देहको निभानेके व्यवहारके लिये ? वोलने से पूर्व यह विचार कर लेना चाहिये। असत्य पुद्गलके पर्देमेसे सत्य आत्माको निकाल कर उसका उद्धार करना चाहिये।

तीसरा अचौर्य व्रत—मैं क्या क्रियाएँ कर रहा हू ? वह किसी के माल की चोरी तो नहीं है। प्रत्येक क्रिया करने से पहले उसका विचार अवश्य करे। साथ-साथ यह विचार भी करे कि—चोरी किसकी करूं ? सब जड़ है, क्षणिक है, यह किसी तरह सच्चा सुख देनेवाला नहीं है। आत्मिक खजाना लुटाये लुट नहीं सकता और वह शुभ प्रयाससे प्राप्त होता है। परन्तु परवस्तु पुद्गल कभी अपनी (चेतन) नहीं बन सकती अतः उससे ममत्व रखना झूठा प्रयत्न करना है।

ब्रह्मचर्य—स्त्रीका स्त्रीत्व और पुरुषका पुरुषत्व जड़ भाव है। वह मेरी समस्त शक्ति को नाश करने वाला है। इस से कायिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति क्षय होजाती है। उसमे लुब्धमान बनकर भी जड़वत् बनजाऊंगा और उसीमे अनेकजन्म जन्मान्तर तक सड़ना पड़ेगा।

स्त्री को स्वपति मे और पुरुषको स्वदारसन्तोष मे मन रखते हुये इस भाव को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

अपरिग्रह—जड़ भाव पर प्रीति रखना परिग्रह है। वही बन्धन है, वही भिन्नभाव है। उसीसे ससारकी वृद्धि और भीषण काण्ड तक बन जाते हैं। इसे कम करने वाला पुरुष सादा और सरल बनता है। उसका त्याग करने वाला मुक्त होता है। अतः

उसे कम करने का प्रयास करे।

दिशिपरिमाण—मैं कहां कैसी प्रवृत्ति करता हूं, यही विचार, दिशाकी हद बांधता हुआ एक इष्ट स्थानका ही स्थिर करना है। सबकी सब बहिः प्रवृत्ति का क्षेत्र सकुचित करते हुये अंतर की ओर विशेषातिविशेष प्रवृत्त होता है।

उपभोग परिभोग—(प्रश्न) मैं किस लिये खानपानादि पदार्थों को उपभोग में लेता हूं ?

उत्तर—शरीर का निर्वाह करने के लिए।

पदार्थों का परिमाण—(प्रश्न)—शरीरका निभाना भी किस लिये ?

उत्तर—शरीर एक अपने संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टि है। अतः उस उपाधिरूप प्रारब्ध को भोगे बिना छुटकारा नहीं। इससे उसमे स्थित होकर, सम चित्त से, उन संकल्पोंका फल पर्णरूप से भोगने के लिये, या भोगते समय जितनी समवृत्ति रक्खूंगा, उतने प्रमाणमे हमको सुख या दुःख मालूम दे सकेंगे। सुख या दुःखका भान मोह दशा के कारण जड़ भावके ऊपर है। उस पर ज्यों-ज्यों परिमाण का विश्वास होता जायगा त्यों-त्यों आत्माको जड़ सत्ताका भान विशेष विशेष होता जायगा, अतः अपनी सृष्टिमेसे मोह भाव का उच्छेद करने के लिए, यथाशक्ति शीघ्र ही पूरे जोश में कमर कसो, मोहके उच्छेदके अधिक प्रमाणमे अपने स्वरूपका अनुभव भी विशेष होगा। राम (आत्मा) को अपने आनन्द स्वरूप मे मस्त रहनेके लिए रावण (मोह) का नाश करना चाहिए।

प्रश्न—शरीरको निभानेके लिए मैं किन किन पदार्थों को उपभोग मे लूं ?

उत्तर—जो पदार्थ शरीरका रक्षण करे, मनमें उन्माद पैदा न

करे, सात्विक वृत्ति उत्पन्न करे, ऐसे पथ्य सादे और प्रमाणमे भी अल्प पदार्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—उन पदार्थों को किस व्यापार से प्राप्त करू ?

उत्तर—जिसमें अल्प आरंभ हो, जिसमे अधिक समय मन की समतोलन वृत्ति रह सके, जो अपने तथा अन्य के शरीर और आजीविकाको नुकसान न पहुँचाता हो। थोड़े मे से जिससे सब को न्यूनाधिक अंश मे लाभ हो सके ऐसे उद्योग व्यवसाय से मैं अपने एवं अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये यह वह करूंगा

अपने जीवन को सादा और सरल बनाकर प्रारब्धको भोग लूंगा।

अर्थ से लाभ और अनर्थ से दंड—आत्म स्वरूप में लीन रहनेको अर्थ कहते हैं, और जड़ भावमे लीन रहनेको अनर्थ। इस अनर्थके कारण लोकमे दंडित होना पड़ता है। गति आगति करनी पड़ती है। अतः इस देह के लिये की जानेवाली अनेक प्रवृत्तिओं मे आर्तरौद्र ध्यान रहित रूक्ष भाव से रहना और प्रत्येक क्षण अंतर मे यही द्रढ़ता रक्खे कि स्वभाव मे परम आनन्द और बिभाव मे परम दुःख है।

[आत्म-शान्ति पानेका प्रयास]

थोड़े समयको सामायिक—प्रथम शरीरको स्थिर करे। स्थिर शरीर रहने से सहज मे मौन रह सकता है। इसी प्रकार शरीर और वाणी की स्थिरता से शरीर का प्राणवायु स्थिर होता है। प्राणवायु स्थिर होने से दृष्टि और मन स्थिर होते हैं। दृष्टि और मन स्थिर रहने से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। उस परम शान्ति का प्राप्त करना ही सामायिक है। इन उत्तरोत्तर पेढ़ियों पर

चढ़ने का प्रयास करना चाहिये ।

[आहार विहारकी नित्यकी योजना]

देशावकाशक—छठवा दिशा परिमाण व्रत और सातवां उपभोग परिभोगके पदार्थोंका परिमाणव्रत सारे जीवनका आहार-विहारका बजट बांध देता है और यह दशवां देशव्रत उनमेसे नित्य-नित्यका वजट बांध देता है ।

प्रवृत्तिका और निवृत्तिका सारी जिन्दगीका वजट निश्चय करना और उसमेसे प्रति दिनका, प्रति घंटोंका, प्रति मिनटका, प्रति सेकेण्ड का, जो भाग आवे उसमे उसी तरहका वर्ताव रखना ।

आत्म-शान्ति पानेके लिए दिनभरका प्रयास

पौषध—आत्माको पोषण—आत्माऽऽकारवृत्ति रखना या रखनेका प्रयास करना । पौषधमें २४ घण्टे आत्म-सम्मुख दृष्टि रखनेका प्रयास किया जाता है परन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न करना चाहिये ।

पवित्रदान वृत्ति—अतिथिमें महमान और भिक्षुका समावेश होता है । भिक्षु चाहे जिस वस्तुके मांगनेवाला और चाहे जो हो । सन्त पुरुष भी भिक्षु कहलाते हैं ।

किसी भी पाहुने या भिक्षुका प्रभुके तुल्य सम्मान करना अथवा सम्पूर्ण विवेक पूर्वक उनको आवश्यकतानुसार पदार्थ देना चाहिये परन्तु उस समय पात्रता और अपनी स्थितिको भी देखना चाहिये श्रावकका अभग्न द्वार होता है । अतः उसके द्वार से कोई भिक्षु निराश होकर वापस न जाय, बल्कि अन्नादिक वस्तुओंसे या धनसे वचनसे या किसी अन्य रीतिसे सन्तोष देकर ही लौटाया जाय ।

अन्तिम समाधि—जो काम करो उसे निष्काम वृत्ति से (रंकसे राजा या महान् देव पर्यन्तके भोगोंकी इच्छाके विना) मात्र भाव शुद्धिके लिये ही करो। निदान-फलकी इच्छासे करोगे तो ऐसे भयंकर कर्म चिपट जायंगे कि उन कर्मोंका फल अनेक जन्म धारण करते-करते भोगना पड़ेगा छुटकारा न होगा।

अतः दुःखका हेतु भूत निदान न करते हुए सब भोगों से विरक्त होकर—इच्छा मात्र को दूर करके, अनन्त सुखका हेतुभूत, आत्म-स्वरूप मे अखंड वृत्ति रखनेका प्रयास करो कि जिससे पुनः पुनः जन्मना मरना न पड़े, यही समाधिका हेतु है।

पाँचवां आवश्यक

वणतिगिच्छ—व्रण, घाव या फोड़ा, तिगिच्छ उसका प्रतीकार करना। गुम्मड़का छेदन करना, आस्रवरूप मैल इकट्ठा हो जानेसे जो भारी फोड़ा हो गया था, उसमेसे 'खालियस्स नंदणा' द्वारा रेशा निकाल डाला, अब तो उसपर धर्म्मध्यान रूपी पट्टी चढ़ा देनी चाहिये कि—जिससे जल्दी अगूर आने लगे और मैलसे [सम्पूर्ण अंशमें] रहित हो जाय।

कायोत्सर्गावस्था—कायोत्सर्ग करते समय, (कायोत्सर्ग-काय, देह, उत्सर्ग—भानका त्याग, देह भावका त्याग करके साम्य मे स्थित रहनेका प्रयास) ध्यानमें रखने योग्य बातें।

प्र०—कायोत्सर्ग किस लिये किया जाता है?

उ०—पाप कर्मसे रहित होकर विशुद्ध भावयक्त होनेके लिये, तथा साम्यमे लीन बननेके लिये।

प्र०—कायोत्सर्ग किस प्रकार करना चाहिये?

उ०—स्थिर शरीरसे स्थिर आसन लगाकर एक स्थानपर

दृष्टि रक्खे और शान्त चित्तसे साध्यमें लीन होना चाहिये। कुदरती हाजतोको छोड़कर, अभ्यासके अभावमें शरीर या दृष्टि हिलनेसे भंग पड जाय तो पुनः संलग्न हो जाना चाहिये। यथा-समय तक स्थिर हो कर रहनेका प्रयत्न करना चाहिये।

प्र०—कायोत्सर्ग कहां तक करना चाहिये ?

उ०—जहा तक साध्य का शान्तरूप से चिन्तन करता रहे वहा तक।

धर्म-ध्यानका कायोत्सर्ग

आज्ञा विचय—प्रभूकी आज्ञाका चिन्तन।

प्रभुने साफ बता दिया है कि—आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और शक्तिसे भरपूर है। शुद्ध है, अनन्त सुखका निधान है, देहसे भिन्न है, देह जड़ है, आत्मा चैतन्य है, इस आत्माको देहसे भिन्न समझनेके लिये प्रथम मन को वश करना आवश्यक है। इसे वश करनेके लिये आहार-विहारमे नियमित रहना चाहिये, (क्रियामे उस बातको शब्दोंमे न रहने दे और सब प्राणियोंका आत्मा अपनी तरह पूर्ण निर्मल और शुद्ध है) यह चिन्तन करके उनको प्रेमभरी दृष्टिसे देखो, और इस सम्बन्धमे प्रभुने जो कुछ कहा है वह सत्य है। अतः उस आज्ञानुसार ध्यान मे दृढ़ रहना चाहिये।

अपायविचय—हम अपने लिये दुःख किस लिये उत्पन्न करते हैं। इसका विचार करना चाहिए। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ-योग दुःखके कारण है। अतः इन सबसे मुझे अलग रहना चाहिए। क्योकि ये देहके भाव है। देह जड़ है और मैं तो शुद्ध चैतन्य, अनन्त आनन्द स्वरूप हूं। मुझमे

दुःखका अंश भी नहीं है।

विपाकविचय—(मेरी इस समयकी ऐसी स्थिति किस कारणसे है) पूर्व कृत कर्मानुसार हमें सुख दुःख मिल रहा है। अतः सुखमे हर्ष और दुःखमे शोक करनेका कोई कारण नहीं है।

संस्थानविचय—लोक के स्वरूपका चिंतन—तीन लोकमें अनन्तजीव भरे पड़े हैं। वहां प्रत्येक स्थल पर इस आत्माने अनन्त बार जन्म और मरण किया है। यदि अबभी सुख पानेकी इच्छा रखता हो तो मोह भाव को छोड़कर प्रभु स्वभाव की आज्ञा मे लीन हो।

(नोट)—इस धर्मध्यानके भेदका पक्का बिचार होनेपर अथवा स्वाभाविकता से प्रभु की आज्ञानुसार बर्ताव करने से, उनके कहे हुए पवित्र वचनों को भावसे पठन, श्रवण, मनन करने की रुचि उत्पन्न होती है और उसके अनुसार श्रुत और चरित्र धर्म को अंगीकार करके उसमे उपयोग पूर्वक लगे रहना चाहिये।

आत्म-स्वभावमें दृढ़ रहनेके लिये उत्तम भावनाएँ

(१) एकत्व भावना—मोह दशा से प्रेरित होकर स्नेही जनों को अपना समझकर जो जो कर्म करेगा, उनका विपाक फल मुझ अकेले को ही भोगना पड़ेगा। उनमेसे कोई भी हिस्सेदार न हो सकेगा। मैं अकेला ही आया हूं और अकेला ही जाऊंगा। मैं अपने प्रयत्न से अकेला ही छूटूंगा और बंधन मे भी अकेला ही आऊंगा। यह विचार निश्चय करके सब संग से रहित होकर एक आत्मा के साथ प्रीति जोड़ो।

(२) अनित्य भावना—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुंब, परिवार आदि सब प्रपंच क्षणिक तथा अनित्य हैं। उनके साथ

प्रेम बंधनमें क्यों फँसता है ? वे सब विनाश होने वाले हैं, और मात्र तू एक ही अविनाशी है। अतः इन सब अनित्य वस्तुओं का प्रेम छोड़। इनकी ओर से उदासीन बन और नित्य तथा शाश्वत आत्मा के साथ अनुसन्धान कर।

(३) अशरण भावना—प्रभु का कहा हुआ धर्म शरण रूप समझकर उसे आराध्य समझ। उसी के आधार से तू अनाथ से सनाथ होगा। इसके बिना भव-भ्रमण से तेरा हाथ पकड़ कर बाहर निकालने वाला और कोई नहीं है।

(४) संसार भावना—यह संसाररूपी प्रपंच मोह दशा के कारण भासमान होता है। वास्तव मे देखा जाय तो उसका अस्तित्व तीन काल मे भी नहीं है। (इन भावनाओंमें से एक या सब, शान्तचित्त से स्मरण मे रक्खो और उनके अनुसार उपयोग करते चलो।

छठा आवश्यक

गुण धारणा

जो जो वस्तुएँ आत्म-ध्यानमें हानिकर मालूम दें उन वस्तुओं का मूल कारण शोधकर उन कारणोंका त्याग करो और ध्यान में नियम पूर्वक प्रतिदिन वृद्धि करते चलो। नियम या प्रतिज्ञाएँ आत्म शान्तिको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप हैं। जिस प्रसंगपर जिस साधन की आवश्यकता प्रतीत होती हो उस समय उसका नियम करना उत्तम है। सन्मार्ग मे प्रवेश की इच्छा करने वाले मुमुक्षुको निम्न लिखित नियम, अपनी शक्ति तथा संयोगानुसार, अंगीकार करके अपनी सारी जिन्दगी का बजट तैयार कर लेना चाहिये।

गृहस्थ धर्म

मुझे इस लोकमें कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये । उस जीवनके लिये किन-किन साधनों की आवश्यकता है । उन साधनों को प्राप्त करनेके लिये कौनसा धंधा करना चाहिये । उन धंधोको चलाते समय कैसा बर्ताव रखना चाहिये । वह धंधा कितने समय तक करना चाहिये और बाक़ी समय किस प्रकार बिताया जाय, उसका निश्चय करे वही गृहस्थ का श्रुत और चरित्र धर्म है।

(१) ज्ञान—दिनमे अमुक समयमें नियमित रूपसे प्रभुके कहे हुए तत्व-बोधका स्वाध्याय, श्रवण और मनन करना चाहिये, नव तत्व मे लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। उनके तत्व भाव में अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार दृष्टि डालकर उसके तत्व को समझना चाहिये। इसी से प्राप्त होने वाले ज्ञान से भावानुसार आत्मा की उज्वलता होगी।

(२) दर्शन—उन तत्वोंको अपूर्व श्रद्धाभावसे जानना चाहिए।

(३-४) चरित्र और तप।

क—पांचवां व्रत।

अ—खेत, वाड़ी, बग़ीचा, इत्यादि उघड़ीहुई भूमि, तथा घर, दुकान आदि ढँकी ज़मीन की मर्यादा॥

आ—सोने चांदी की।

इ—नक़दी की।

ई—धान्य की।

उ—द्विपद, चतुष्पद प्राणी की।

ऊ—भोग्य सामग्री आदि की।

सादा और सरल जीवन बिताने केलिए सारे जीवन मे कितने

प्रमाणकी आवश्यकताहै,उसका निश्चयकरके उनकी सीमा बाधूँगा*

(व्रत ४ वां) ऋ—स्त्री पुरुष।

पुरुषके लिये—(१) मै (अपने विचार, स्थिति, साधनों का बारीकीसे अवलोकन करके) एक ही स्त्री धारण करूंगा। (एक पत्नी व्रत)।

(२) अपनी स्त्रीके साथ भी पशु वृत्ति न रक्खूंगा। अमुक नियम रक्खूंगा।

(३) अमुक संतति होने पर (पुत्र पुत्री होने पर) अथवा अमुक वर्ष व्यतीत हो जानेपर सर्वथा ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा।

स्त्री के लिये—(१) मै एक ही पति रक्खूंगी।

(२) अपने पतिको भी अपनेमे पशुवृत्ति रखने में रोक थाम करूंगी, और अमुक-अमुक नियम में रहूंगी।

(३) अमुक सन्तति होनेपर या अमुक वर्षों के बाद सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करूंगी।

ऋ-सन्तान—(१) पुत्रको अमुक प्रकारकी शिक्षा दिलाऊंगी।

(२) पुत्रीको अमुक शिक्षा दिलाऊगी क्योंकि दोनो का व्यवहार अलग-अलग है। अतः उनके विकासके लिये भी अलग-अलग शिक्षाकी आवश्यकता है।

---

* खानपानादि तथा वस्त्रादिका जो परिग्रह मैंने रक्खा है उसमेंसे मुझे अपने जीवन पर्यन्त कितने प्रमाणमे अपने उपयोगमे लेना है। उसका नियम करूंगा और उसके द्वारा मिताहारी तथा नियमित बनूंगा। (व्रत ७ वां अ)

वह सदाकी आवश्यकताके लिये निश्चित पदार्थोंमेसे आज किन किनको कितने प्रमाणमे उपभोगमेलेना है, इसका निश्चय करूंगा।

(व्रत १० वाँ ब)

(३) वे गृहसेवा, समाजसेवा, देशसेवा, धर्मसेवामें भाग लेना सीखें, ऐसी योजना करेंगे।

(४) उनका अमुक समयके बाद लग्न करायेंगे। स्वतन्त्र व्यवहार चलानेमें शक्तिमान् होनेका विश्वास होने पर।

(५) उनके विवाह आदिमें उनको मात्र जिस मार्गसे लाभ होगा उसी मार्गमे वर्तन करायेंगे। व्यथ के खर्चमे न पड़ेंगे। लोगों की झूठी लज्जा मे न बह जायेंगे।

ए—माता, पिता, भाई, बहन (१) उनका सन्मान बढ़ायेंगे।

(२) उनकी उचित सेवा करेंगे।

(३) संपकी रक्षा का प्रयत्न करेंगे।

ऐ—मित्र, स्वजन, सम्बन्धी (१) उनके साथ प्रेम बढ़े उसी प्रकार वर्तेंगे।

(२) व्यर्थ-व्यय करके उनसे मौज न उड़ायेंगे।

(३) उनके साथ वार्तालाप, मान, सन्मानादि व्यवहारमें ही न रुककर, 'एक दूसरेकी उत्क्रान्ति किस प्रकार बढ़े ऐसा प्रयत्न उपयोग में लायेंगे।

ओ—गृहव्यवस्था (१) सबका कार्यक्रम ऐसा बना दिया जायगा जिससे वे सब उत्साह पूर्वक उनमे भाग ले सकें।

(२) घरमे स्वच्छता, खान पानादि पदार्थ सड बिगड़ न जायँ, उनकी देख-रेख, प्रवाही पदार्थ कार्यके अतिरिक्त प्रसंगोमे ढके रहें ऐसा प्रबन्ध तथा घरकी सामग्रीकी देख रेख।

(३) खर्चकी रीतिसे, आनन्द मनानेके पदार्थ, क्लेश, ईर्षा, बेइमानी आदि अपशब्दोंको जैसे बने वैसे घरमेंसे जल्दी निकाल बाहर करेंगे।

(४) दिनके अमुक समयमे सब एकत्र होंगे, और दिनचर्या

के प्रसंगमें, नवीन प्रसंगके विषयमें वार्तालाप करेंगे।

(५) आपसकी सेवा, रोगीकी शुश्रूषा, अतिथि सत्कार, सत्समागम, परोपकार वृत्ति, किस प्रकार उदय पाकर बढ़े ऐसे मार्ग की योजना करेंगे।

औ—समाज धर्म—समाजके अन्धाधुंध रिवाजोंको बन्द करेंगे सुधारके फैलानेका प्रयास करेंगे। वे सुधार समाजके लिये आर्थिक शारीरिक और नैतिक लाभ कारक हैं या नहीं! उसका पहले पुख्ता विचार कर लेना चाहिये।

(२) उन सुधारोंकी पहले सर्व प्रथम अपने घरसे ही आरंभ करेंगे। सन्मार्ग फैलानेका प्रयत्न करेंगे। मेरे अपनेसे, गृह, मित्र, स्वजन, सम्बन्धी, जाति, देश, परदेश तक फैलाकर रहेंगे।

किस प्रकार सेवा करनी चाहिये, इसकी योजना अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सबको कर लेनी चाहिये।

ख ७ वां व्रत—जीवनमें साधन प्राप्त करनेके लिये, जिस उद्योगसे मुझे मेरे घरको, मेरे ग्रामको, मेरे देशको लाभ पहुंचेगा, उस उद्योग में ही प्रवर्तन करूंगा।

६ वॉ व्रत—यह उद्योग मुझे सारी दुनियामें किस जगह रह कर जीवन पर्य्यन्त करना चाहिये, उसका निश्चय करना।

१० वां व्रत—जितना क्षेत्र उद्योगके लिये निश्चित किया है उसमे भी कितने भागमें आज प्रवृत्त रहूंगा, उसका निश्चय करूंगा।

उस उद्योगमें अमुक वर्षतक प्रयत्न करूंगा, इसके पश्चात् का जीवन शांत अवस्था मे बिताऊंगा।

आठवां व्रत—मैं इसमें चिन्ता, कषायमय विचारोंका और प्रमादका त्याग करके लगूंगा। (झगड़ा निन्दा, कुतर्क, हँसी दिल्लगी आदि न करूंगा)

पहलाव्रत—व्यवहारमें और परमार्थमें, यत्न से विचरूंगा जो बोलूंगा, वही काम करूंगा।

दूसराव्रत—सत्य बोलूँगा, (जो बात जिस रूपमें जान सका हूं, उसे उसी रूपमे कहूंगा) या मौन रहूंगा।

तीसराव्रत—जो वस्तु अन्यकी है उस वस्तुका मालिक बनना कभी पसंद न करूंगा।

बारहवांव्रत—अतिथि (भिक्षु, त्यागी, गृहस्थ) को अपने पाससे जिस किसी वस्तुके पानेकी इच्छा है उसका योग्य सत्कार करूंगा। तन, मन, धन और वचनसे सेवा करूंगा (वंचना या यशके लिये नहीं बल्कि निस्वार्थ प्रेम जागृत करनेके लिये)।

नवाँ व्रत—समभाव प्राप्त करने के लिये सदैव थोड़ा समय अवश्य स्वीकार करूंगा।

ग्यारहवा व्रत—उस समय वृद्धि पाते-पाते एक दिन-रात समभाव रखनेका प्रयत्न करूंगा। जो समभाव २४ घंटे तक रह सके।

संत धर्म

जिन्हें आत्माका किसी अंशमे अनुभव हो चुका है वे गृहस्थ कहलाते हैं और जिन्हें आत्मानन्दकी खुमारी आठों पहर रहती है, वे सन्त होते है, सन्तके कर्तव्य मे केवल आत्म-ध्यानके अतिरिक्त अन्य किसीका समावेश नहीं होता। आत्म-ध्यानकी विशेष शुद्धि रहनेके लिये सन्त पुरुष रात-दिन केवल अन्तर्मुख उपयोग रखते हैं, और 'यह उपयोग टूटने न पावे' इसलिये जगत् के जंजाल के सन्मुख दृष्टि भी नहीं रखते। इसीलिये कि—सन्त बननेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष केवल अपने स्वरूपका अनुसन्धान रखनेके लिये दिन-रात प्रयास करते हैं और वे गच्छ, मत, पंथ उपकरण,

शिष्य, सम्प्रदाय, सेवक, क्षेत्र, उपाश्रय, भण्डार इत्यादि किसी भी प्रकार की खटपट चाहे वह अच्छी है या बुरी, तो-भी वे उसमें कभी भाग नहीं लेते। एवं इस विषयमें किसीको अनुमोदन भी नहीं करते। वे तो केवल एकाग्र-चित्तसे आत्म स्वरूपमें रमण करते हैं। इस तरह केवल आत्म-स्वरूपमें ही रमनेवाले और जगत्‌के सब जीवोंपर अभेद-भाव और अभेद-प्रेम रखनेवाले सन्त वास्तवमें मनुष्योंकी तथा इन्द्रादिक देवोंकी दृष्टिमें पूजनीय, वन्दनीय और अर्चनीय होते हैं।

[म]

मोक्ष

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बंध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व-संवर-निर्जरा तथा मोक्ष है और मोक्ष आत्मा का निज-स्वभाव अर्थात् जीव की कर्ममल रहित अवस्था है। वास्तव में किसी अंतरमुख दृष्टि से देखा जाय तो मोक्ष होता ही नहीं है, क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से जीव अबन्ध है, जब अबन्ध है तब मुक्ति किस बातकी? जीव का मोक्ष होना व्यवहार नय मात्र है वरन् वह तो सदैव मोक्षरूप ही है।

यह विश्वविख्यात है कि जो मनुष्य औरों के धनपर अपना अधिकार जमाता है उस जड़-मूर्खको सब लोग अन्यायी कहते हैं यदि वह अपनी सम्पत्ति मात्र का उपयोग करे तो सब लोग उसे न्यायशील व्यक्ति कहेंगे। इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्यों में अहंकार करता है तब उसकी अज्ञान और मिथ्यात्व अवस्था होती है और जब ऐसी बुरी आदत को छोड़कर आध्यात्मिक रसका

आस्वादन करता है तब प्रमादका पतन करके पुण्य-पाप का भेद मिटा देता है और क्षपकश्रेणी पर चढ़कर केवल-पद का उपभोग करता है, तदनन्तर अष्टकर्म रहित और अष्टगुण सहित सिद्ध पद को प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय ममता हटाकर समता रसका आस्वादन करना है। जिस प्रकार सुनार के कारण सोनेकी नाना अवस्थाएँ हो जाती हैं परन्तु उसकी सुवर्णता कहीं नहीं जाती। जलाने से फिर सुवर्ण का सुवर्ण बना रहता है। उसी प्रकार यह जीवात्मा अनात्मा के ससगसे अनेक वेष धारण करता है परन्तु उसका चैतन्यस्वरूप कहीं नहीं जाता वह तो स्वयं ब्रह्मरूपमें ही अधिष्ठित रहता है। इसलिये शरीर से मिथ्याभिमान हटाकर आत्मसत्ता और अनात्म-सत्ता का पृथक्करण करना चाहिये, इस प्रयोग साधन से कुछ समय में आधुनिक विन्दु मात्र ज्ञान स्वल्पकाल में ही समुद्ररूप परिणमन करता है और अविचल-अखंड-अक्षय-अटल अभय-निरामय और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है।

[य]

योग

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। यहां जो जो संयोग को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं' यह व्यवस्था व्याप्तिरूप होने पर संयोग को प्राप्त होने वाले वस्त्रादिकमे व्यभिचार हो जायगा। इस शंकाका निराकरण करनेके लिये अनुभवी आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार सयोग को प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार दोष नहीं आ सकता, क्योंकि सयोग को प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिक आत्मा

के धर्म नहीं हैं। जो जो संयोग को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं' इस प्रकार की व्याप्ति में आत्म-धर्म की मुख्यता होने से यद्यपि संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिका निराकरण होजायगा फिर भी कषायका निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि कषाय-आत्मा का विभावधर्म है और संयोग को भी प्राप्त होता है । इस लिये 'जो जो संयोग को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं, यह व्याप्ति कषाय में भी घटित होती है अत एव कषाय के साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। इस के विषय में आचार्य कहते हैं कि इस रीति से कषाय के साथ व्यभिचार दोष इस लिये नहीं आता कि कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणरूप नहीं है, अथवा प्रदेशपरिस्पन्दन रूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्त से कर्मोंके ग्रहण करनेमे कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं । अथवा आत्मा के प्रदेशों के संकोच और विस्ताररूप होने को योग कहते हैं, कहा भी है-

मन वचन और काय के निमित्त से होनेवाली क्रिया से युक्त आत्मा के अंतर में जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं। अथवा जीव के प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दनरूप क्रिया को योग कहते हैं यह जिनेन्द्र देव का सम्यक् कथन है।

योग प्रवेश

प्रत्येक प्राणी सुखकी इच्छा प्रगट करते हैं, इतना ही नहीं वरन् सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करते हैं, उन उपायोंमें जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त सुखको पाता है तब वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है, सुखको पाने के लिये अनेक साधनोंमे साधन सर्वतो मुख्य साधन है, वर्तमान समय मे जो अनेक मत, पंथ, सम्प्रदाय, गच्छ,

टोला, पार्टीबाजी आदि जो धर्मके नाम पर चलकर अमर शहीद बनने जा रही हैं, वे सब सुखके साधन से विमुख बनकर अपने शिष्यों को सुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थ ही हैं। मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक-अमुक क्रियाएँ रच डाली हैं। उन्हींको परम्पराके अनुसार अपने शिष्यों को भी बताते रहते हैं और वे शिष्य भी उस परम्पराके अरघट्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारे पर नाच-नचाकर करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो क्वचित् क्वचित् सुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे ऐसे भद्रपरिणाम वाले जीवों को सुखके साधन के लिये खून पसीना एक करना पड़ता है। बहुत कुछ धूल खाक उड़ानेपर भी सुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते। इस प्रकार उनकी दयनीय स्थिति पर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी सुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्को पूरी आवश्यकता है।

सुखके साधनोंमें योग सबसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है। यदि इन साधनोंका गुरुगम द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन-अखंड सुखकी प्राप्ति हो सकती है। योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, आत्मवित् पुरुषके द्वारा सीखना चाहिये। आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सतत् प्रयास द्वारा योगियों की शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नक़ली योगिओंसे तो सावधान ही नहीं, बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साध्यकी साधना करे परन्तु इतना स्मरण रहे कि योगकी साधनाके

विना सत्य सुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु यह सत्य सुख अपने पास और अपनी आत्मामे ही है, और योग अन्तर्दृष्टि के अभ्यास द्वारा उसे बता सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामे लगना चाहिए। योग और योगीकी महत्ता बड़ी ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमे श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बडा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भंग तथा जीवादिकी संख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अतः हे अर्जुन! तू योगी बन।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गीता अध्याय ५, श्लोक ७)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला, योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्मा समझा जाता है। अर्थात कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शन में भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं विगिंच धीरे।
पलिच्छिन्दियाणं णिक्कम्मदंसी ॥"
(आचारांग)

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म

कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ।
कम्मुणा उवाहि जायइ॥
(आचारांग ३-१-३)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमे उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव बनाव भी नहीं होता। इसका शरीर मात्र योग क्षेत्रका वाहन होता है। इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चला आरहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेव जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो-निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह फर्माया है कि अधिकतर बहुतसे जीवोंका जगत्के सन्मुख दृष्टि द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अक्षुब्ध होकर आत्माके सम्मुख प्रवर्तित होता है और वह फिर अनन्त-सुखका साक्षात्कार पाकर उसका अनुभव करता है अत. मनका निरोध करनाही योग है। भगवान् पतंजलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

"योगश्चित्तवृत्तिर्निरोध."

'चित्तवृत्तिका निरोध करना योग है।'

इस अत्युत्तम योगके पात्र स्त्री-पुरुष या चारों वर्णके लोग हैं। योगसाधनामें जाति-भेदकी-कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगी-महात्मा हो सकता है। २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशीमुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये थे।

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी

(उतराध्ययन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमे जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उच्च गुणके धारण करनेवाले मुनि थे।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाई विसेसु कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहूं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥
(३७, उत्तराध्ययन १२)

"योगका माहात्म्य आंखों आगे प्रत्यक्षमें दीख रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आंखें चौंधिया गई हैं।"

परन्तु तामस वृत्तिवालोंसे योग साधना नहीं हो सकती। अतः योग विद्याके जिज्ञासुओंको घी, दूध, तेल, प्राशुक भोजन आदि सात्विक आहारका उपयोग करना चाहिये।

आयुसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना,
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकाः प्रियाः।
(गीता श्लोक ८, अध्याय १७)

रसयुक्त, चिकना, स्थिर, हृद्य आहार सात्विक जनोंको प्रिय है, क्योंकि इनसे आयुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है।

परन्तु अधिक मिरचें, तेल, खटाई आदि तामसी पदार्थों का उपयोग न करना चाहिये। इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकांश मौन रहना चाहिये। निकम्मा वाग् व्यय करनेसे योग मे विकार आ जाता है। योग साधना करनेवाले महात्मा-पुरुषके पास योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये। पहाड़, पर्वत आदि एकान्त प्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें

जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं करसकता। इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाड़ोंमे जहां नाना सात्विक वनस्पतियाँ होने से तथा अनेक महात्माओंके शुद्ध रज:कण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थल पर एकदम शान्त और चपल मन स्थिर होजाता है। अत: वह स्थान उनका मनपसंद है। बड़े राजमहल या धर्म स्थानमे जिस आनन्दका स्वप्नमे भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुल्लु तथा हंस तीर्थ के बर्फानी पहाड़ोंमे होता है। अत: योगीको इसी प्रकारका स्थान पसंद करना चाहिए। यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहां तक अपनी ही वस्ती में रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिए और वहीं योगाभ्यास करना चाहिए। मट्टी पर बैठकर योगकी साधना नहीं की जासकती बल्कि बैठनेके लिए आसनकी भी आवश्यकता है।

योगिओंके लिए दर्भासन अत्युत्तम है और दर्भासन पर कम्बलासन विछाना चाहिए। दर्भासन तथा कम्बलासनमें साधक के शरीरकी विद्युत्-शक्ति टिकाये रखनेकी बडी ही उत्तम शक्ति है। इसीलिये सूतके कपड़ेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे।

भगवती आदि सूत्रोंमे भी कई स्थानोंपर दर्भासनका ही पाठ दिया गया है।

"दब्भसंथारगं संथरइत्ता।"

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराध्ययनमे केशी मुनि और गौतम गणधर जहां मिलते है, वहा वे आगन्तुक मुनिका स्वागत "कुश तणाणिय" दर्भ के आसनसे करते है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—

जैन जातिमे भी पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था।

दर्भासनके अभावमे कम्बलासन बिछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कंबलासन बिछाकर उसपर पद्मासनसे या मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तर मे मुख करके बैठना चाहिये। सूत्रों मे पद्मासन लगाकर पूर्व मे मुख करना बताया है।

“पुरत्थाभिमुहे' संपलियंकनिसण्णे”

पर्य्यंकासनया पद्मासनसे बैठकर पूर्वमे मुख रक्खे। पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कमर, गर्दन, मस्तकको एक पंक्तिमे रख कर बैठना चाहिये, और दाढ़ीको हॅसली से चार तसु के अंतर पर रहने दे। इस आसन से सवेरे, सांझ या मध्याह्न मे तथा रात्रि के पहले और पिछले पहर मे सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आराम से स्थिर होकर बैठ सके तब समझो कि—आसनपर विजय प्राप्त कर ली गई है। आसन पर विजय पानेके बाद प्राण और शरीर तथा दृष्टि पर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसन पर विजय पाये बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसके बिना आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सतत प्रयास द्वारा गुरुगमसे पाई हुई युक्तिके अनुसार आसनपर जय पालेना चाहिये। आसन के जय मे यम और नियमपर जीत प्राप्त करनी चाहिये।

आसनको जीतनेके पश्चात् साधकजन अनेक प्रकारकी क्रियाएँ सीख सकता है। परन्तु आसन को जीतकर दृष्टि को जीतने की पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टिजयका पहला लक्षण आंखका न मीचना है। उससे मेषोन्मेष दृष्टि हो जाती है। योग परिभाषा मे इसे त्राटक कहाजाता है। सूत्रोंमे भी मेषोन्मेष रहित होनेके कई जगह प्रमाण मिलते हैं।

दृष्टि को जीतने के लिये या त्राटक मुद्राको सिद्ध करनेके लिए सवेरे और साँझमें साधकको यथेष्टआसनपर बैठकर अपनेसे सवा हाथ के अंतरपर किसी रूई की गोलीको बनाकर रख देना चाहिए और उस चने जितनी गोलीपर दृष्टि जमाये रहे। अमुक समयके अनन्तर आंखसे पानी आयगा। आरंभ मे आंसू आनेपर त्राटक रोक देना चाहिए। चार या आठ दिन तक आंसुओं को पोंछते रहना चाहिए और त्राटक आरंभ रखना चाहिए। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिस से पलक बन्द न हो सके और इस प्रयास में शान्तिपूर्वक प्रतिदिन वृद्धि रखना चाहिये। जब एक घड़ी से अधिक पलक जीत लोगे तब कई नवीन बातों के अचरज साधक स्वयं देखने लगेगा और ज्यों-ज्यों इससे भी अगाड़ी बढ़ेगा त्यों २ उस साधक को अलौकिक आनन्द की अंश अंश मे प्राप्ति होगी। ज्यों-ज्यों दृष्टि को जीतता जायगा त्यों-त्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टि के जय में मन का जय होता है। अधिकतर आंखकी भवों पर दृष्टि रखना चहिए, क्योंकि सूत्रोंमे भी यही भाव बताया है।

"एगे पोगलनिविट्ठदिट्ठि।"

'एक पुद्गलपर दृष्टि की स्थापना करे।"

इस प्रकार ध्यान की प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषों के पास सीखना चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टि विजय का अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि—दिनके पहले भागमें किसी सुंदर पहाड़के शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रि मे चांद या शुक्र तथा मंगल तारे पर नजरको जमाये। यह प्रयास ज्यों-ज्यों बढ़ेगा त्यों-त्यों प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ की ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा और सृष्टिके प्रत्येक अंशमे वीतरागता का

प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना होता है। इसके अनंतर सृष्टि के चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी और शरीर के कोथले से दुःख सहसा निकलकर भागेगा, इस कक्षा में पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु भावना नामक जाप को परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमे इच्छानुसार शब्दोच्चारण या "नमो अरिहंताणं" जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उड़ जायगा और आत्मा अर्हन् प्रभु मे एकाकार हो जायगा। प्रतिसमय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमाग़से न निकल सकेगा। सॉझ, सवेरे, मध्यान्ह और रात्रिमे योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना। एक ओरसे योगक्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढ़ता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एक दम शान्त हो जायगा। क्योंकि—मणो साहसिओभीमो, दुट्ठस्सो । मनरूपी घोड़ा साहसिक और भयंकर दुष्ट है।

"इन्द्रिय चवल तुरंग"

मनका घोड़ा—या इन्द्रियों के घोड़े अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयास से उन की मस्ती निकल जाती है और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकार के संयोगों मे साधककी विवेक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्द की वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होने पर साधक को अपने योग की दिशा बदल देनी चाहिये अर्थात् जो त्राटक बहिर्दृष्टि का किया जाता था उस के स्थानपर अन्तर्दृष्टि का त्राटक करना चाहिये। प्रथम श्वासोच्छ्वास में दृष्टि रखनी चाहिये। और जो श्वास बाहर आता है तब 'सा' और अंदर जाते समय

'ऽहं' का कुदरती ही उच्चार होता है। तब दोनों मिल कर "सोहं" अजपाजाप बिना ही जपे होता रहता है उस पर ध्यान देना चाहिये। अर्थात् श्वास जहाँ से उठता है और जहाँ जा कर समा जाता है वहा तक उसके अंदर वृत्ति रखनी चाहिये। इस प्रयाससे एकदम आत्मा में शान्ति होने लगेगी और अंतरके आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगेगी दिन रातमे सामान्य रीति से २१६०० श्वासोच्छ्वास चलते हैं। उनमेसे उपयोग बिना एक श्वास भी न जाने देना चाहिये। "सोहं"के जापका सतत प्रयास होनेके पश्चात् सहजवृत्ति श्वास मे रहने लगती है। आत्मामे इस प्रकार श्वासका ध्यान सिद्ध होनेपर साधकको हृदय के मध्य भागकी वृत्ति स्थिर करनेका प्रयास करना चाहिये। जब हृदयकी वृत्ति स्थिर होगी तब हृदय में से अलौकिक शान्तिका स्रोत प्रगट होजायगा। जिस शान्ति का साधकको अब तक इससे पहले किसीके पास अनुभव नहीं हुआ था। जब हृदय का ध्यान सिद्ध होता है तब नाभि के एक देशमे वृत्तिको स्थापन करे। वहाकी सिद्धि होनेपर उसे पुनः हृदयमे ले आना चाहिये, और वहाँ से कठके मध्यमे ला छोड़े। नाभि, हृदय और कठ में शान्तिका अनुभव होने पर मनोवृत्तिको त्रिकुटी भवनमे स्थापन करे। त्रिकुटी ध्यानका प्रयास होने पर और वहा को स्थिरवृत्ति होनेपर मसूरकी दाल जितने एक बिन्दुका साक्षात्कार होता है और वह बिन्दु अतिशय चमकदार होता है। बिन्दुके दर्शन होनेपर साधक को अपार आनद मिलता है। उस नाद-बिन्दुके दर्शन होनेपर सिद्धिया भी साधककी सेवामें उपस्थित हो जाती हैं। कपालमे अखिल विश्वकी झांकी होजाती है। इसका कारण यह है कि—उस स्थलपर त्रिकुटीमे गोल बिन्दु के दर्शन ही हैं और वह चाद की निशानी द्वारा बिन्दु दर्शनके रूपमे समझाया

गया है। बिन्दु दर्शन होनेपर साधकको अलौकिक ज्ञानकी प्राप्ति होतीहै और जन्म-जरा-मृत्युके विनाशकी तैयारी होजाती है। बिंदु दर्शन ही शंकर का (आत्मानंदका) तीसरा नेत्र है। प्रत्येक आत्मा शंकर ही है और उसके समानतया दो नेत्र तो हैं ही और तीसरा बिन्दुदर्शन रूप ज्ञानलोचन प्रयास द्वारा उघड़ता है, बिंदु दर्शनके पश्चात् योगीको मृत्युका भय नहीं होसकता और साधकके संशय शल्योंका नाश हो जाता है। इसी को समझने के लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड़ आता है। तब संशय शल्यरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटी में बिंदु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यों-त्यों वह बिन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अंतमें साधक उस बिंदुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमे उसे नादका अनुभव होनेलगता है। तब बिन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे बिन्दु गौण होने लगताहै और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होने लगता है। नाद भी अनेक तरह सुनाई पड़ने लगता है, और वह चक्की, सितार, सारंगी और नौबत-खानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अंतमे दिव्य नादका अनुभव होने पर साधक उस नाद मे अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ़जाता है कि—साधककी हिलने चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नाद का अनुसन्धान रहा करताहै। नादके अनुभवसे ही जगत्मे संगीतका प्रचार योगी लोगोंने किया है। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाँति जगत्को संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र बनाकर साधकजन आगे बढ़ सकते हैं। वास्तव में संगीत

बाह्य नाद होगया है और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यंतर नाद को मिला कर पाया जा सकता है। साधक जब नादमे और भी आगे बढ़ता है तब उसको नादका अनुभव जहां होता है वह भ्रमर गुफा के ऊपर एक पोली शंकुके आकारकी प्रतीत होगी और उस पोलके शिखर पर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थ का अनुभव होगा। यह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरह का जान पड़ेगा। यह छत्राकार सहस्रदलकमल सिद्धशिला रूप अजरामर चक्र शिरके अग्रभागमें लोकके अग्रभाग पर है। इस अजरामर चक्र में वृत्तिके विलीन होने पर साधक को अखण्ड अलौकिकमय आनंदका अनुभव वर्धमानरूप होता है। वह आनंद बढ़ता भी इतना अधिक है कि साधक [योगी] उस में एक दम लीन हो जाता है और अलौकिक आनंद का अनुभव अपने उस समस्त शरीरमे प्राप्त करता है। अर्थात स्वयं जो आनंदरूप है उस अलौकिक आनंद स्वरूपको स्वयं सर्वाङ्ग अनुभव करने लगता है। इस अवस्थामे वह साधक से मिटकर सिद्ध, योगी, विदेही, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। इस योगी की दृष्टि देहसे अन्य स्थल पर जहा जहा जाती है वहां वहा वह अलौकिक दिव्य आनंद का अनुभव करता है। जलस्थान, स्थलस्थान, राजस्थान, धनिक-स्थान, पशुस्थान, आकाश-स्थान आदि जिन जिन स्थानों पर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहां वहां यह आनंदका ही अनुभव करता है। सब जगह अभेदरूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे—द्वैत भाव की भ्रांति न रहनेसे वह वीतरागी कहलाता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्य और सिद्ध है उसके दर्शनभी जगत्को पावन करते हैं।

जिस प्रकार अभ्यन्तरवृत्ति द्वारा हम योग के सम्बन्धमें समझ सके है उसी दृष्टिसे बाहरके भागमे नाभिके ऊपर स्थापन

करनेमें आता है और जब इस प्रयासमे नाभि और चक्षुके बीच मे एक चमकनेवाली तेजस्वी लकीर अखंडरूपसे दीखने लगे तब नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भाग मे स्थापन करनी चाहिये, और वहा भी जब इसी भाँति तेजस्वी लकीर भासने लगे तब नासिकाके अग्रभागमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिकुटीमें, वहां से भ्रमर गुफामे होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्ध-शिलामे और वहाँ से अनुभवमे पहुंचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमे भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्ति से प्रेम प्रगट होता है और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकपर विचार करते-करते गंभीर राहमे उतर जाता है और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है जिसमे पद्मासनसे बैठकर जो विचार आवें उनको तटस्थ बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको अटकने न दे। अभ्यासके प्रबल प्रयत्नसे विचारधारा स्वय ठंढी पड़ने लग जाती है और अन्तमें एकदम शान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है। तब अखिल विश्वपर [illegible] प्रेमकी दृष्टि हो जाती है। समान भाव [illegible] मनमें [illegible] लगता है। अपनेमे ईश्वर भावका उदय होने लगता है। [illegible] अभ्यास [illegible] है, त्यों त्यों अन्तरमें आनन्द [illegible] लगेगा। [illegible] नहीं बल्कि [illegible] आनन्दका [illegible] अनुभव होने लगेगा और [illegible]। सब जगह ईश्वरभावको [illegible], आनन्द प्रगट होता है, और [illegible]।

[illegible] लिये थोड़ी-सी प्रक्रियाएं

संक्षेप मे बताई गई हैं। इन्हें विचार कर तथा उसी प्रकार मनन करने से साधक को अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य को पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है और इसे गुरुगमकी साक्षी विना सीख भी नहीं सकता। हठ-योग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भाँति योग चार प्रकार मे विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग है और इनमें प्रत्येकको उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुंभक और रेचक मुख्य है, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायाम को सहायता देने के लिये नेति अर्थात् नाकमेसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना, तथा धोती, अर्थात् कपड़ेको पेटमे उतारकर मलका निकालना, नौली अर्थात नलोंका घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपालभाति, गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ गुरुगमके विना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की बातें फिर वताई जायँगी, क्योंकि ये वस्तुएँ भी विशेष ज्ञेयरूप है। अतः महात्मा पुरुषोंकी संगतिमे रहकर सीखना चाहिये। योगसे वढ़कर संसारमे कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः उनको कर्मबंधके चार प्रकार समझना चाहिये जो कि निम्नांकित हैं।

कर्मबन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य अनेक पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों है?

उन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुख-रूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु उस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे । इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ट होता है वह मनुष्य "पापानुबंधी पुण्यवान्" समझा जाता है । इसीलिये कि—इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुखी होगा ।

बहुतसे मनुष्य धर्मी होते हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है ?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे, अतः वर्तमान मे दुःख भोगते है, इतनेपर भी शुभ कार्य करते हुए इस समय पुण्य बाध रहे है । अतः वे आगे सुखी होंगे । ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमे 'पुण्यानुबंधी पापी' कहा है । इसीलिये कि भूतकाल कृत पापके कारण दुःख भोग रहे है, परन्तु वे वर्तमान के पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमे सुख भोगेंगे ।

क्या वर्तमानकालमे कोई मनुष्य दुःखको भोगता हो और उसे भविष्यमे भी दुःखही भोगना पडे तब क्या ऐसा भी कोई नियम है?

हां हां क्यों नहीं, बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुखोंको भोगते है इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दु.ख देते हैं तो वे अगले जन्मोंमें भी दुःखी ही होंगे ।

ऐसे मनुष्योकी शास्त्रमे क्या संज्ञा बताई है ?

वे 'पापानुबधी पापी' अर्थात् पूर्वजन्ममे पाप किया था उसका फल तो अब भोग रहे है और इस समय पाप करते है उसका दुःखरूप फल आगे भोगेंगे ?

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और

आगे भी सुखी रहे ?

हां यह भी हो सकता है, भूतकालमे जीवने अन्य प्राणिओंको सुखदेकर पुण्य बांधा है, वे अब सुखी हैं और अब पुण्य बांधकर भविष्यमें सुखोंका ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमे क्या कहा है?

इसे 'पुण्यानुबंधी पुण्यवान्' कहा है, क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है और वर्तमानमे पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पायगा।

सार—यों कर्मोंके चार प्रकारके अनुबंध होते हैं, अनुबंध का अर्थ वह बंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर आगे सुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो आगे दुःख भोगना पड़ेगा।

(१) 'पापानुबंधी पाप' इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।

(२) 'पापानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और पीछे दुःख।

(३) 'पुण्यानुबंधी पाप' इस समय दुःख और फिर सुख।

(४) 'पुण्यानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अव्याबाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोड़ना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्म स्वरूपमे रहना सीखिये और किसी भी प्रकार अनुबंध न बांधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना ही हो तो पुण्यका ही बांधना चाहिये। पाप का अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंध से कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

[ल]

लेश्या

जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं, यहां यह लक्षण भूमि लेपिका [जिसके द्वारा जमीन लीपी जाती है उस] मे चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत लेश्या को छोड़ कर लक्षण के अलक्ष्य मे चले जाने के कारण अतिव्याप्ति दोष आता है। ऐसी शंका को निवारण करने के लिये आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं आता क्योंकि इस लक्षण मे 'कर्मों से आत्मा को' इतने अध्याहार की अपेक्षा है इस का तात्पर्य यह है कि जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं। अथवा जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता क्योंकि यहाँ पर प्रवृति शब्द कर्म का पर्यायवाची ग्रहण किया है। अथवा कषाय से अनुरंजित काययोग-वचनोयोग और मनोयोगकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल योग को लेश्या नहीं कहते किन्तु कषायानुविद्ध योग प्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते ऐसा निश्चय न कर लेना चाहिये, क्योंकि लेश्या मे योग की प्रधानता है कषाय प्रधान नहीं है। कारण वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है। अत एव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती। कहा भी है,

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपने आपको जान लेता है तथा उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं ।

[व]

व्रत

निश्चयज्ञान मोक्षका कारण है, इस ज्ञानको ही पाकर जीव विरति को प्राप्त करता है, उसीको चरित्र कहते हैं, क्योंकि ज्ञानका फल वैराग्य, त्याग और संयम है और वह मोक्षका तात्कालिक कारण है ।

इसमें प्रथम व्यावहारिक चरित्र महाव्रत और अणुव्रत रूप है और यह पुण्यबंध तथा सुख का कारण है, इसका स्वीकार और पालन अभव्य जीव भी कर सकता है, जिससे वह मात्र देवगति को ही प्राप्त कर सकता है परन्तु सकाम निर्जरा का कारण नहीं हो सकता, यदि कोई यह शंका करे कि जब मोक्ष का कारण भूत ही नहीं है तब इतना कष्ट सहना क्या अर्थ रखता है ? इसका समाधान यह है कि—जो त्याग बुद्धि निश्चय ज्ञान सहित चरित्र है वह ही मोक्ष का कारण है अतः निश्चय चरित्र सहित व्यवहार चरित्र का पालन करना चाहिये ।

निश्चय-चरित्र—जो मुमुक्षु शरीर, इन्द्रिय, विषय, कषाय, योग इन सबको परवस्तु समझ कर त्याग देता है, तथा आहार को भी पुद्गल वस्तु समझ कर छोड़ देता है, क्योंकि आत्मा अनाहारक है अतः मुझे भी आहार न करना चाहिये। इस भांति का तप निश्चय चरित्र में सम्मिलित है ।

चरित्र क्या है ?—जिस पुरुषार्थ से मन की चंचलता चली

जाती है, परिणामों में आत्मिक स्थिरता होती है, आत्म-स्वरूप में एकत्वरूप से रमण करता है, उस रमण की तन्मयता स्वरूप विश्रान्ति-तत्वानुभव को चरित्र कहते हैं। वह चरित्र देश-विरति और सर्वविरति के रूप से दो प्रकार का है। परन्तु यहां देश विरति चरित्र साधनरूप जो कि श्रावक के १२ व्रत हैं उनकी निश्चय और व्यवहार से ज्ञानी जन इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

(१) प्राणातिपात विरमण व्रत

इस व्रत मे पर जीवों को अपने समान समझा जाता है, सब जीवों पर समान भाव से दया की जाती है, और यह व्यवहार दया है, अतः इसे व्यवहार प्राणातिपात विरमण व्रत जानना चाहिये और जब जीव कर्म के वश मे पड़कर दुःखित होता है उस अपने जीव को कर्मबंध से मुक्त करना और आत्मगुण की रक्षा करते हुए गुण की वृद्धि करना स्वदया है, बंध-हेतु-परिणति का निवारण करते हुए स्वरूप गुण का प्रगट करना, प्रगटित गुण की सम्यक् रक्षा करना अर्थात् ज्ञान द्वारा मिथ्यात्वों को हटाकर आत्मीयत्व को निर्मल करना प्राणातिपात विरमण व्रत कहलाता है।

सार—ऐसा यत्नपूर्वक कार्य करो, वचन बोलो और विचार करो कि जिससे किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्व को कष्ट न पहुंचे, अथवा कम से कम भूतों को कम से कम कष्ट भी हो।

(२) मृषावादविरमण व्रत

असत्य वचन कभी न बोलना चाहिये, यह व्यवहारिक मृषावाद विरमणव्रत है और निश्चय दृष्टिसे परपुद्गलादिक वस्तुओं को अपना कहना मृषावचन है, और जीव को अजीव कहना तथा अजीवको जीव कहना यह सब अज्ञान और भावमृषावचन है। अथवा सिद्धान्तके अर्थोंको उलटा और असत्य कहना जिस से अहिंसाके बदले हिंसा का भाव बन जाय यह भी भावमृषा है। इत्यादि मृषा भाषण करना त्याग दिया है वह निश्चय मृषावादविरमणव्रत कहलाता है, इस दृष्टिस व्यवहारिक अदत्तादानादिका भंग यदि प्रमादसे होजाय तब भी उसका मात्रचरित्र भंग होता है परंतु उसके ज्ञान दर्शनका भंग नहीं होता और जिसने निश्चय मृषावादविरमणका भंग कर दिया हो उसने सम्यक्त्व तथा ज्ञान और चरित्र इन तीनों ही का भंग कर दिया। तथा आगमोंमे यह भी कहा है कि एक साधुने चतुर्थ व्रतका भग कर दिया है और एक साधुने दूसरा मृषावाद नामक महाव्रत उत्सूत्र अर्थात् हिंसामे धर्म बताकर उसे भंग करदिया है तब जिसने चौथा व्रत भंग किया है वह आलोचना द्वारा शुद्ध हो सकता है परन्तु जिस उत्सूत्रभाषीने सिद्धान्तके अर्थ का मृषा और सावद्य उपदेश किया है वह आलोचना द्वारा भी शुद्ध नहीं होता।

भावार्थ—जिस बातको तुम जिस रूप मे जानते हो मानते वही बात उसी रूपमे कहना चाहिये। लाभ के डरसे उस बात का छेदन भेदन न करो, लोकभय, नैतिक निर्बलता, लोकैषणा इन सबको गहरे और सूखे कुएँ मे फेंक दो। इसी प्रकार हँसी, दिल्लगी, परनिन्दा, निरर्थक एवं झूठी गपशप आदि हानिकारक

या अनुत्पादक प्रवृत्तिमे अपने वचनका कभी दुरुपयोग मत करो।

(३) अदत्तादानविरमण व्रत

जो पुरुष कभी किसी अन्यका धन, अन्यकी वस्तु को छिपाता है, हड़पना चाहता है, चोरी करता है ठगबाजी करता है, धोखा देता है यह सब चोरी है। अतः परवस्तु को स्वामीकी आज्ञाके विना न लेना चाहिये यह सब व्यवहार से अदत्तादानविरमण व्रत जानना चाहिये और जो पांचों इन्द्रियोंके २३ विषय है, आठ कर्म-वर्गणाएँ है, इन परवस्तुओं [पुद्गल] पर आत्मप्रवृत्ति और कभी उनकी वांछा करनी चाहिये । क्योंकि यह आत्माके लिये अग्राह्य है, अतः यह निश्चय अदत्तादानविरमण व्रत कहलाता है। यदि कोई कहे कि विषय और कमकी वांछा कौन करता है? उसे तो जानना ही योग्य है परन्तु बहुतसे पुण्यको अत्यन्त आदरणीय समझते है, मानो वे जीव कर्मकी वांछा कर रहे हैं। क्योंकि जिस पुण्यके ४२ भेद है, वे नामकर्मकी शुभ प्रकृति को भी बड़ी उत्कंठा से चाहते हैं अतः जो व्यवहारमे तो अदत्तादान नहीं लेता है परन्तु अन्तरगमे पुण्यादिक की इच्छा रहने के कारण उसे निश्चय अदत्तादान का दोष लगता है।

भावार्थ—जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जिस अधिकार पर, जिस यश पर, जिस दुस्साहसपर तुम्हारा उचित अधिकार न हो उस वस्तु, मनुष्य, यश, अधिकार और साहस के ऊपर दांत मत रक्खो और किसीके हकपर कभी प्रहार मत करो।

(४) मैथुनविरमण व्रत

जो पुरुष परस्त्रीका त्याग करता है, तथा जो स्त्री परपुरुषका

परिहार करती है, साधु तो सर्वथा त्यागी होते हैं और गृहस्थको विवाहितमात्रका आगार है। परस्त्री या परपुरुष का सर्वथा त्याग है, वह व्यवहारिक मैथुनविरमणव्रत कहलाताहै और जिसने विषयकी अभिलाषाका तथा ममता-तृष्णाका त्याग किया है परभाव-विभाव वर्णादिक परद्रव्यका स्वामित्व छोड़दिया है, पुद्गलका सदा अभोगी है,आत्माके निज गुण जोकि क्षमादिक हैं उन्हींका उपभोग करता है, पुद्गलस्कन्धों को अनन्तानन्त जीवोंकी झूठन समझकर उसको कभी भूलकर भी नहीं भोगता है। इस त्यागको निश्चय से मैथुन विरमणव्रत कहा है। परन्तु जिसने बाह्य विषय छोडदिये हों और अन्तरंगका प्रलोभन न छूटा हो तब उसे मैथुनकर्म अवश्य लगता है।

भावार्थ—तुम्हें जो वीर्य मिला है उससे अपनी तथा औरोंकी अनेक प्रकार की उन्नतिकी साधके लिये प्रयत्न करना सबसे पहला और अनिवार्य साधन है। उसे पाशववृत्तिके सन्तोषके लिये न उडा देना चाहिये। उच्चकोटि के आनन्द का पहचानना सीखो। यदि हो सकता हो और तुमको उचित ज्ञात हो तो अखंड ब्रह्मचारी बन कर रहो। यदि यह न हो सके तो तुम्हारे विचारमें विघ्नरूप न हो ऐसी सुशीला सहचारिणी की तलाश करके उसके साथ विवाह विधिसे सन्तुष्ट रहो, एक दूसरेके लिये अनुकूल और सहायकारी हो सके ऐसा पात्र न मिले तो अविवाहित रहनेकी पूर्ण चेष्टा करो, विवाहित स्थिति वह है जिससे आपके चारों ओरसे उडने वाली वृत्तियां रुक सकें, या उनका संकोच हो जाय। यदि वह स्थिति दोनोंको या दोनोंमें से एकको असन्तोष का कारण हो तो उलटी हानिकर सिद्ध होने की सम्भावना है। अतः अपनी शक्ति, विचार, स्थिति, साधन और पात्र की योग्यता का तुम्हें

स्वयं इन सबका गहरा विचार करके विवाह करना या कुमार रहना चाहिये। विवाह करना मनुष्यका मुख्य नियम और कुमार रहना अपवाद माना गया है। इसके बदले कुमार रहना और सबकी सब या मुख्य विषयों की अनुकूलता हो तब ही विवाह करना इस मुख्य नियम को मान्य रखना चाहिये और विवाहित स्थिति या विषयवासना की अमर्यादा इच्छानुसार स्वतंत्रता के रूपमें भूलचूक कर भी न मान बैठना। वासना का संक्षेप और दृढ़तासे आत्मिक ऐक्य करना सीखो। अश्लील शब्दोंसे, अश्लील दिखाव और बनावसे, तथा अश्लील कल्पनाओंसे सदैव अलग रहो। किसीको विवाह में जोर देनेका तुम्हें क्या हक है। विवाहके भावको न समझने वाले, सहचारीपनके कर्तव्यको न पहचानने वाले पात्रोंको एक दूसरेके कर्तव्य को गुलामीमे फेंकनेवाला चौथे व्रतका अवश्य भंग करता है। दयाका खून करता है और परमात्मभावकी चोरी करता है।

(५) परिग्रह परिमाण व्रत

परिग्रह धन, धान्य, दास, दासी द्विपद, चतुष्पद, भूमि, वस्त्र आभरणादि हैं, इसका साधु के लिये तो सर्वथा त्याग होता है परन्तु श्रावक को इच्छाका परिमाण करना होता है। जितनी इच्छा होती है उतना आगार रखता है शेषकी विरति करता है। यह त्याग व्यवहारसे जानना चाहिये, और जो भावकर्म राग द्वेष, मोह और अज्ञान आदि हैं, तथा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म और शरीरादि हैं इनका परिहार करना यानी कर्मको जान बूझ कर छोड़ना निश्चयपरिग्रहत्याग कहलाता है। अर्थात् पर वस्तु की मूर्छाका छोड़ना आवश्यक है जिसने मूर्छाभाव छोड़ दिया हो

तब समझो कि उसने परिग्रहको ही छोड़ दिया।

भावार्थ—परिग्रह अर्थात् प्रभुत्व की इच्छा का संकोच करो। 'सब कुछ मैं भोग लूं' मैं ही करोड़पति बन जाऊं, मैं महलोंका स्वामी बनजाऊं, ऐसे अहंमय, स्वार्थमय संकुचित विचारों को यथाशक्य एकदम कम करो।

इस आज्ञाका औद्देशिकतया यह आशय नहीं है कि—तुम नंगे फिरो, घरबार छोड़कर नंगेबावा बन जाओ, भूखे मरो, कुटुम्ब, जाति, देश, समाजका भरण पोषण ही न करो, और उन्हें यों ही दुःखी होकर मरने दो। यह नहीं बल्कि लोभ प्रकृति, मोह प्रकृति, ममत्वभाव, जड़ प्रकृति मे या जड़ प्रकृति तथा पदार्थ की प्राप्तिमें आनन्द मनाना छोड़ो। इन सब विकारशील वस्तुओं को छोड़कर प्रामाणिक बुद्धि, सहनशीलता, और व्यवस्था, यथोचित उद्यमसे मिलनेवाले धनके द्वारा अपने आश्रितों की आवश्यकताएं पूर्ण करनेमे ख़र्च करनेके अतिरिक्त, उस धनपर मोह ममता न रखकर, बाक़ी का भाग औरोंकी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेमें तथा देश-रक्षामे उल्लासके साथ उसका खर्च करो, परिग्रहके ऊपर जितने प्रमाणमे मूर्च्छा कम होगी उतनी ही चित्त शान्ति अधिक होगी।

(६) दिशिपरिमाण व्रत

छहों दिशाओंके क्षेत्रों की मर्यादा करना व्यवहार दिशि प्रमाण कहलाता है, और चार गतिमे भटकना कर्मका परिमाण है, यह समझकर उस कर्म संचयकी ओरसे उदासीनता स्वीकार करना और सिद्धावस्थाकी उपादेयता का लक्ष्य करना निश्चयदिशिपरिमाणव्रत है।

भावार्थ—आशय विना, उपयोगविना, परमार्थ रहित भ्रमण करना यथाशक्य एकदम कम कर देना चाहिये।

(७) भोगोपभोगपरिमाण व्रत

जो एक बार भोगनेमें आता है वह भोग और पुनः पुनः वस्तुका भोगना उपभोग है इसका परिमाण करना व्यवहार भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। व्यवहार नयसे कर्मका कर्त्ता और भोक्ता जीव है और निश्चयनय से तो कर्म का कर्ता कर्म ही है। आत्मा अनादिकालसे परभावका भोक्ता होरहा है जिससे ग्राहक और परभाव रक्षक बनगया। अर्थात आत्माकी ज्ञायकता, ग्राहकता, भोग्यता, रक्षकता, बिगड़नेपर कर्त्तापन बिगड़ गया, तब परभाव का कर्त्ता हो गया। जिससे परभावके रंगमें रंगकर आठ कर्मका कर्त्ता हो गया है। परन्तु सत्ता की अपेक्षा से तो स्वभाव का कर्त्ता है, परन्तु उपकरणोंपर आवरण छा जानेके कारण स्वकार्य नहीं कर सकता, और विभावको सेवन करता आ रहा है। अज्ञानता से जीवका उपयोग पुद्गलमे मिला है। अपने ज्ञानादि: गुणका कर्त्ता और भोक्ता है ऐसा स्वरूपानुयायी परिणाम निश्चयभोगोपभोग-परिमाणव्रत कहलाता है।

भावार्थ—उपभोग और परिभोग की लालसा मर्यादित करो दिनरात की टेवोंमें सादगी पैदा करो, आत्म-संयमी बनो, नियमित और मिताहारी बनो। तुम्हारी जितनी आवश्यकताएँ कम होंगी उतनी ही चिन्ता, उपाधि और लालच भी कम होगा और अधिक महत्वकी प्रवृत्तिकी ओर लक्ष्य देनेका पूर्ण अवकाश मिलेगा। देखा-देखी से, बड़प्पन बतानेकी मूर्खता युक्त लोलुपतासे अच्छा दिखनेकी लालसासे और गुणदोष समझनेकी बुद्धिके अभाव से

अनेक अनावश्यक तंगी उत्पन्न हो जाती हैं और वे शारीरिक निर्बलता, मानसिक अधमता और बुद्धिहीनता पैदा कर डालती हैं। अतः उपभोग परिभोग पदार्थ आवश्यक उपयोगी यानी उपयोगके सिद्धान्त को जितना जवाब दे सको उतने प्रमाणमे ही रक्खो अधिक न रक्खो।

(८) अनर्थदण्डविरमण व्रत

बिना काम जीवका वध करना, औरोंके लिये आरंभ प्रमुख करनेकी आज्ञा आदि देना व्यवहार अनर्थदण्ड है और शुभाशुभ कर्म, मिथ्यात्व, अविरति कषाय योगसे जो बंधन होता है उन्हें जीव अपना कर मानता है यह निश्चय अनर्थ दण्ड है।

भावार्थ—अर्थरहित, प्रयोजन रहित, व्यापारमें प्रवृत्तिमें मन, वचन, कायको प्रवर्तित न होने दो, खटपट, निन्द्रा, दुर्ध्यान चिन्ता, कुतर्क खेद, भय, भेदआदिमें शरीर-सम्पत्ति, धन-सम्पत्ति, समय-सम्पत्ति तथा संकल्प-सम्पत्ति को उड़ा मत दो, आर्तध्यान अथवा चिन्ता और रौद्रध्यान अथवा किसी पर क्रोध विचार करना निर्बलतापूर्ण और निकृष्ट है। आनन्दमय, वीरत्वमय, आत्म-प्रभुका द्रोह करनेके समान है, इससे मनुष्यत्वकी क्षीणता हो जाती है।

(९) सामायिक व्रत

मन, वचन, कायको आरंभसे हटाकर उन्हें निरारंभ रूपमें लगाना 'व्यवहारसामायिक' है, और जो जीवका ज्ञान, दर्शन, चारित्रका गुण विचारना है उन सब जीवोंकी सत्ता और गुण समान जानकर सबसे सम परिणाम रखना 'निश्चय सामायिक' है और वह मुख्यतासे समतारूप है।

भावार्थ—प्रति दिन नियमित समयपर जितना हो सके उतने समय तकके लिये समतोलन वृत्तिके सीखनेका अभ्यास करना चाहिये।

(१०) देशावकाशिक व्रत

मन, वचन और देह एक स्थानपर नियुक्त करके एक स्थानपर बैठकर धर्म-ध्यान करना व्यावहारिक देशावकाशिकव्रत है और जो श्रुतज्ञानके द्वारा छहों द्रव्योंको पहचानकर उनमे से पांच द्रव्यों को पर समझ कर त्यागना और स्वभावका चिन्तन करना निश्चयदेशावकाशिक है।

भावार्थ—स्वदेश के बाहरके पदार्थ, वस्तु-यथाशक्ति काममें न लो; स्वदेश-प्रेम और स्वदेशाभिमान सदैव रक्खो। अपने देशको भूखसे तड़फा-तड़फा कर मारनेमे आप साधनभूत मत बनो।

(११) पौषध व्रत

चार पहर अथवा आठ पहर तक समताभाव और शुभ परिणाम से सावद्य (पाप) कर्म को छोड़कर निरारंभ होकर स्वाध्याय और ध्यानमें लगे रहना व्यवहार पौषध है और अपने आत्माको ज्ञान-ध्यानसे पोषकर स्व-स्वभावमें स्थिर करना 'निश्चयपौषधव्रत' है। अपने गुणोंमें जीवकी पुष्टि करना ही पौषध है।

भावार्थ—प्रत्येक मासमें छः बार या इससे अधिक जब भी आपको अवकाश मिले, तथा अनुकूल शारीरिक, मानसिक स्थिति होनेपर भूखे रहो, पर पदार्थ खानेकी आदत छोड़ो। जिससे आपका शरीर निरोगी और सहनशील बन सके इस स्थितिमें २४ घंटे या २१ घंटे आत्म-रमणतामे व्यतीत करो।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत

पौषधके पारणकके दिन अथवा सदा सर्वथा साधुको तथा सह-धर्मी श्रावकको या उचित पात्रको अपनी शक्तिके अनुसार दान देना व्यवहार अतिथिसंविभाग है और अपने जीवको अथवा शिक्षा-पात्रको ज्ञान दान देना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना निश्चय अतिथिसंविभाग व्रत है। इन व्रतोंको जो निश्चय और व्यवहारसे धारण करता है वह पांचवें देशविरति गुणस्थानपर आरोहण है। और आत्माकी उपासना मे योग्य होनेसे 'श्रमणोपासक' भी कहलाता है।

भावार्थ—उपकारी पुरुषोंकी सेवाभक्ति करनेका प्रसंग मिलने पर उल्लाससे उनकी सेवा करो। जो पुरुष जगत्‌के उपकारमे ही अपना जीवन बिता रहे हैं, जिन्हें अपने शरीर की सार संभाल करने जितनी भी फ़ुर्सत नहीं है। उनके अस्तित्व, आरोग्य और प्रवृत्ति की संसारको अधिक आवश्यकता होनेके कारण उनकी तगीको जानना और उन्हें पूर्ण करनेमे तत्परता बताना भी उप-कृतवर्गका मुख्य कर्त्तव्य है। उनके उठाये हुये मिशनोंको निभाने के लिये अपना शरीरबल, धनबल, कर्त्तव्यपरायणताबल, हृदयबल, समय, बुद्धि आदिकी सहायता जी जानसे करनी चाहिए। उनकी कठिनाई और दुःखों तथा संकटोंमे सहानुभूति पूर्वक उन्हें दूर करनेके लिए यथाशक्य सहायता करनी चाहिए और उनके विजय मे अपना विजय तथा समाजकी जीत मान लेना चाहिये।

वेद

जिसका अनुभव किया जा सके उसे वेद कहते हैं।

भावार्थ—प्रति दिन नियमित समयपर जितना हो सके उतने समय तकके लिये समतोलन वृत्तिके सीखनेका अभ्यास करना चाहिये।

(१०) देशावकाशिक व्रत

मन, वचन और देह एक स्थानपर नियुक्त करके एक स्थानपर बैठकर धर्म-ध्यान करना व्यावहारिक देशावकाशिकव्रत है और जो श्रुतज्ञानके द्वारा छहों द्रव्योंको पहचानकर उनमे से पांच द्रव्यों को पर समझ कर त्यागना और स्वभावका चिन्तन करना निश्चयदेशावकाशिक है।

भावार्थ—स्वदेश के बाहरके पदार्थ, वस्तु-यथाशक्ति काममें न लो; स्वदेश-प्रेम और स्वदेशाभिमान सदैव रक्खो। अपने देशको भूखसे तड़फा-तड़फा कर मारनेमे आप साधनभूत मत बनो।

(११) पौषध व्रत

चार पहर अथवा आठ पहर तक समताभाव और शुभ परिणाम से सावद्य (पाप) कर्म को छोड़कर निरारंभ होकर स्वाध्याय और ध्यानमें लगे रहना व्यवहार पौषध है और अपने आत्माको ज्ञान-ध्यानसे पोषकर स्व-स्वभावमे स्थिर करना 'निश्चयपौषधव्रत' है। अपने गुणोंमें जीवकी पुष्टि करना ही पौषध है।

भावार्थ—प्रत्येक मासमें छः बार या इससे अधिक जब भी आपको अवकाश मिले, तथा अनुकूल शारीरिक, मानसिक स्थिति होनेपर भूखे रहो, पर पदार्थ खानेकी आदत छोड़ो। जिससे आपका शरीर निरोगी और सहनशील बन सके इस स्थितिमे २४ घंटे या २१ घंटे आत्म-रमणतामें व्यतीत करो।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत

पौषधके पारणकके दिन अथवा सदा सर्वथा साधुको तथा सह-धर्मी श्रावकको या उचित पात्रको अपनी शक्तिके अनुसार दान देना व्यवहार अतिथिसंविभाग है और अपने जीवको अथवा शिक्षा-पात्रको ज्ञान दान देना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना निश्चय अतिथिसंविभाग व्रत है। इन व्रतोंको जो निश्चय और व्यवहारसे धारण करता है वह पांचवें देशविरति गुणस्थानपर आरोहण है। और आत्माकी उपासना में योग्य होनेसे 'श्रमणोपासक' भी कहलाता है।

भावार्थ—उपकारी पुरुषोंकी सेवाभक्ति करनेका प्रसंग मिलने पर उल्लाससे उनकी सेवा करो। जो पुरुष जगत्के उपकारमें ही अपना जीवन बिता रहे हैं, जिन्हें अपने शरीर की सार सभाल करने जितनी भी फ़ुर्सत नहीं है। उनके अस्तित्व, आरोग्य और प्रवृत्ति की संसारको अधिक आवश्यकता होनेके कारण उनकी तगीको जानना और उन्हें पूर्ण करनेमे तत्परता बताना भी उप-कृतवर्गका मुख्य कर्त्तव्य है। उनके उठाये हुये मिशनोंको निभाने के लिये अपना शरीरबल, धनबल, कर्त्तव्यपरायणताबल, लक्ष्यबल, समय, बुद्धि आदिकी सहायता जी जानसे करनी चाहिए। उनकी कठिनाई और दुःखों तथा संकटोंमे सहानुभूति पूर्वक उन्हें दूर करनेके लिए यथाशक्य सहायता करनी चाहिए और उनके विजय मे अपना विजय तथा समाजकी जीत मान लेना चाहिये।

वेद

जिसका अनुभव किया जा सके उसे वेद कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार वेद का लक्षण करने पर आठ कर्मों के उदयको भी वेद संज्ञा प्राप्त हो जायगी। क्योंकि वेदनीयकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार वेद वेदनरूप है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदयभी वेदनरूप है।

उत्तर—सामान्यरूप से की गई कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषों मे पाई जाती है इस लिये विशेष का ज्ञान हो जाता है। अथवा रौढ़िक शब्दों की व्युत्पत्ति रूढ़ि के अधीन होती है इस लिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमे रूढ़ होने के कारण 'वेद्यते' अर्थात् 'जो अनुभुत किया जा सके' इस व्युत्पत्ति से वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के उदयका नहीं।

अथवा आत्मप्रवृत्ति यानी आत्मा की चैतन्यरूप पर्याय में सम्मोह-[राग-द्वेष रूप चित्तक्षेप के उत्पन्न होने] को मोह कहते हैं। यह मोह शब्द यहां वेद का पर्यायवाची है।

प्रश्न—इस प्रकार लक्षण करने पर भी सम्पूर्ण मोह के उदय को वेद संज्ञा प्राप्त हो जायगी, क्योंकि वेदकी भांति शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है ?

उत्तर—यह शंका अयोग्य है, क्योंकि रूढ़ि के बल से वेद नामक कर्मके उदय को ही वेद संज्ञा प्राप्त है

अथवा आत्म-प्रवृत्ति अर्थात् आत्मा के चैतन्यरूप पर्याय मे मैथुनरूप चित्तविक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते है। कहा भी है कि-

वेद कर्म की उदीरणा से यह जीव नाना प्रकार के बालभाव अर्थात चाचल्य को प्राप्त होता है और स्त्रीत्वभाव पुरुषभाव तथा नपुंसकभाव का वेदन करता है इस लिये उस वेदकर्म के उदय से त होनेवाले भाव को वेद कहते हैं।

[स]

सत्य-समन्वय

जो पुरुष केवल आत्मानन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वंदना है।

इस अलौकिक विश्व के सुरम्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यकी ओर दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि—अखिल विश्व आनंदसे परिपूर्ण है। अर्थात् अखिलविश्वमें आनंदकी अपेक्षासे एकता है। जगत्से उसके धर्म भिन्न नहीं हैं, विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय है, उन्हें आनन्द ही प्रिय है और उसकी इच्छा मे तन्मय हैं। उस आनंदको प्राप्त करने के लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं और उन धर्मों को प्राणियोंने अपने 'आनंद' के लिये ही उत्पन्न किया है, आनन्दकी अपेक्षा जगत्के प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्ति की अपेक्षा से यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है, वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षण एवं सुरम्य उपायों की रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्द की अभिवृद्धि के उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके आनन्द का स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणी के आत्मा का सामर्थ्य समान है। प्रत्येक प्राणी का वास्तविक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मों का होना भी समान ही ठीक है और उस के अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं।

मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि— वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि जो जो मनुष्य

आत्मानन्द वा अनन्त अनुभव प्राप्त करचुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछे की अर्थात भविष्य की मनुष्य जाति के लिये पाया हुआ आत्माका साधनरूप धर्म भूतलवासी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपसे छोड़गये हैं। उस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दत्वको प्राप्त कर सकते हैं। जगत् के अन्यप्राणी इसप्रत्यक्ष विश्व की अलौकिक प्रभा से आनन्दित होते हैं परंतु मनुष्य संज्ञाका प्राणी तो स्वयं निजानंद मय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्व के अप्रतिभ आनंदमें सुरम्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि करसकताहै। मनुष्यों का जो धर्म है वही अलौकिक आनन्द की अभिवृद्धि वानगी रूप है। यह सृष्टि अनन्तकालसे अनन्ततत्व के रूपमे ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और ध्रुवरूपसे अपने अनन्ततत्व मे अनन्ततत्वरूपसे अलौकिक स्वरूपमे अनन्तकाल तक शाश्वतस्वरूप [सत्य स्वरूप] में ही अलौकिक आनन्द रूप से स्थिर और नित्य रहेगी। सृष्टि मीमांसक शास्त्री भी यही कथन करते हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है और यह नित्य तथा शाश्वत है।

इस सृष्टि के अलौकिक सामर्थ्यों में से भरपूर अलंकार में धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है। जगत्मे धर्ममीमांसक अनेक ही हो गये हैं और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्म विचार रूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये है। इन अलौकिक प्रसादियों में इस समय—वेदान्त, जैन, बौद्ध, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामीनरायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी और मुख्यता से दृष्टिगोचर होते है। इनका तथा इन के अतिरिक्त और अनेक धर्मालंकारों का हेतु केवल आत्मानन्द को ही प्राप्त करनेका है। सर्व धर्मका हेतु एक

होकर उनके साधन भी एक ही हैं, और वे अलग अलग देश कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपों में प्रवृत हो रहे हैं। जैन का हेतु केवल आत्मा का पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना है।

वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं जिनमें जैन कहते हैं कि—

'एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'

जो एक को जानता है वह सब को जानता है। वेदान्त की भगवती श्रुति भी यही कहती है—

'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

एक आत्मा के जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है।

तब वेदान्त कहते हैं कि—

'अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्मा, अयमात्मा ब्रह्मा।"

मैं ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा हूं'

'तू भी वही है'

'प्रकर्षतया सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है'

'यह आत्मा ब्रह्म है'

वेदके चार खंड हैं, इन चारों खंडोंमे एक एक महावाक्य है।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह ऋग्वेदका, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेदका, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदका, 'तत्त्वमसि' यह सामवेदके छाँदग्योपनिषद्का महावाक्य है।

जैन सिद्धान्तका नियम है कि—"नाणे पुण नियमा आया। 'ज्ञानमे नियमसे आत्मा है'

वेदांत भी यही कहता है कि—"प्रज्ञान ब्रह्म"

प्रज्ञान ही आत्मा है'

जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूप संसृति कर्म के द्वारा चलती है, और वे कर्म जड़ हैं । इन कर्मों का नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्म जन्य सृष्टि का अधिष्ठान है।

वेदांत कहता है कि—ये जन्मादि माया के द्वारा हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है।

जैन कहते हैं कि—कर्मोपाधिका प्रलय होने पर आत्मा मोक्ष होता है।

वेदान्त कहता है कि मायोपाधि का प्रलय होने पर आत्मा का मोक्ष होता है।

जैन कहते हैं कि— आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुणरावित्ति' संसार मे पुनरागमन नहीं होता अर्थात् आत्मा को फिर से जन्म मरण के चक्र मे नहीं आना पड़ता।

वेदांत कहता है कि—' न पुनरावर्तते" आत्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती।

गीताजी में भी कृष्णचन्द्रजी ने यही कहा है कि—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

'जहाँ गये बाद फिर आना नहीं पड़ता।' वही मेरा परमधाम है। अर्थात् परमात्मा के धाम को परमधाम या मोक्ष कहते हैं। वहां जानेपर फिर वापस नहीं आना होता।

जैन कहते हैं कि—'एगे आया' आत्मा द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टि से एक है।

वेदांत कहता है कि—"एकोऽहम्" मैं एक हूं।

जैन कहते हैं कि—"तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण हिता"

तर्क आत्मा के स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, और मति उस आत्मा के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकती।

वेदान्त कहता है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

जहां से वाणी वापस फिर जाती है। वह आत्म स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है। भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते।

जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखंड रूपमें जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं।

वेदान्त कहता है कि—"कैवल्यपदमश्नुते"

कैवल्य पदका अनुभव करता है।

वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है।

जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमे मारनेसे मरते नहीं, जलानेसे जलते नहीं, काटनेसे कटते नहीं, भेदन करनेसे भेदित नहीं होते, और चर्मचक्षु द्वारा दीख नहीं सकते, ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतया सघन रूपमें भरे पड़े हैं। आकाश, पर्वत, पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है। अर्थात् चैतन्य लक्षण युक्त जीवकी दृष्टिसे देखने पर चैतन्यदेव समस्त लोकमे भरपूर है।

वेदान्त कहता है कि—आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है,

जैन भी यही कहते हैं कि—आत्मा अनन्त ज्ञानमय है।

वेदान्त कहता है कि—ब्रह्म सनातन है।

जैन कहते हैं कि—आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द-स्वरूप है, और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है।

वेदान्त और सांख्यादि भी यही कहते हैं।

वल्लभाचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रहआत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्चहानिः
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि, सर्वत्रच त्रिविधभेदविवर्जितात्मा

आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है। पूर्णगुण विग्रह है। पुनः जड़ात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है। इस आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र तथा आनन्द ही अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है आत्म-तत्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं। यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है। इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्युरूपी भेद नहीं है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है।

जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है।

सांख्य शास्त्र कहता है कि—"अहंकारः कर्ता न पुरुषः।" कर्ता हर्ता अहंकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है।

जैन कहता है कि—"ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमें राग-द्वेष आदि भी नहीं हैं।

योग शास्त्र कहता है कि—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असंस्पृष्ट- अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको रागद्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते।

"तत्र सर्वज्ञबीजं"

उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है। आत्मा अनन्त तत्त्व रूप है।

वेदान्त कहा भी करता है कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।"

ब्रह्म स्वरूपमे पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है।

पुनः वेदान्त कहता है कि—

न पापं न पुण्यं न दुःखं सुख न, चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं॥

"मेरा आत्म स्वरूप शिव है, और उस शिव स्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य सुख, दुःख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानंद रूप है।

जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहां ही मोक्षका अनुभव करते हैं।

इसीसे मिलता जुलता मत स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी है कि—

'अक्षरधाम यही है आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है। जो आत्माको यहांके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधाम को किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है।

श्री देवचन्द्रजी अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भारतके धर्मात्मा पुरुषोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही रहा है।

मोहम्मदसाहब भी यही कहते हैं कि—जगत्में जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रवानी है, खुदा निरंजन, निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। मोमिन तो कृपालु खुदाको अपने पास ही देखते हैं खुदाका अर्थ भी खुद ही होता है। जिसिसक्राइस्टका भी यही उपदेश है कि चौथे आसमानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमे सर्वोत्कृष्ट कीर्तिको पानेवाले बुद्धदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि—प्रेम ही

आत्मा है अतः जगत्के प्रत्येक प्राणीमे अभेद प्रेम रक्खो ।

तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय, तो जैन, वेदान्त, योग, सांख्य, बौद्ध आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमे अभिवृद्धि करनेके लिये साधनों को भिन्न २ धर्म मीमांसकोंने भिन्न-भिन्न देश कालमे भिन्न २ पद्धतिसे समझाया है अतएव बहद्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमे भेद जान पड़ता है। तथापि इन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अभेद भाव भजने लगते हैं।

जैन जिसे पांच महाव्रत कहते हैं, बौद्ध उन्हें पंच शील कहते हैं और योगी उन्हें पांच यम कहते है। वेदान्तके शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके वर्तन करने योग्य नियम भी अन्तमे एक ही हैं।

प्रत्येक धर्मके नीति, दया परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ-धर्ममे समानता तथा उपयोगिताका उपभोग करते है। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं।

ज्ञानी पुरुषोंके बर्तावकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका बर्ताव "मित्तिमे सव्व भूएसु" सब प्राणिओंके साथ मित्रता अर्थात समान भाव रखना चाहिये। न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि—

मित्रस्यचक्षुषा समीक्षे। सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।

'आत्मवत्सर्वभूतेषु' ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते है।

देह मीमासकोंकी तरफ दृष्टि डालने पर जैन मुख्यतासे, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर कहते हैं।

इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं।

संसृति मीमांसकोंके कथनको देखतेहुए जैन यह कहतेहैंकि—

"परिणामो बन्धो परिणामे मोक्खो।"

"मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है।"

वेदान्ती संकल्पसे सृष्टि मानते हैं।

जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है।

इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अभेद भावमें प्रत्यक्ष रूपसे समाये हुये है। साधन अभेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमे अभेद ही समझा जाता है और अनुभवमे भी यही आता है अतः प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमे प्रेम भाव रखना चाहिये और सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है यही पाठ पढ़ कर अभेद प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अभेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत् पर अभेदभाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्ष रूपमे ऐसा सुन्दर अभेद मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्वार्थ भावसे प्रगट किया है।

[स]

सम्यक्त्व

प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा और आस्तिक्य जिस का लक्षण है उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा ?

उत्तर—यह कहना शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है।

अथवा, तत्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं इसका अर्थ यह है कि आप्त-आगम और पदार्थ को तत्वार्थ कहते हैं और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है तथा आप्त-आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

प्रश्न—पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षण का विरोध क्यों न माना जाय ? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रशमादि गुणोंकी अभिव्यक्ति को सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप्त आदि के विषयमे श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। इसलिये ये दोनों लक्षण अलग २ अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमे अविरोध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि शुद्ध और अशुद्धनय की अपेक्षा से ये दोनों लक्षण कहे गये हैं अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षा से है और तत्वार्थ श्रद्धानरूप लक्षण अशुद्ध नय की अपेक्षा से है, इसलिये इन दोनों लक्षणों के कथन में

दृष्टिभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता।

अथवा तत्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्ध तर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये। कहा भी है—

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य पांच अस्तिकाय और नव पदार्थों की आज्ञा अर्थात् आप्त वचन के आश्रय से अथवा अधिगम अर्थात प्रमाण नय निक्षेप और नियुक्ति रूप अनुयोग द्वारों से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

सर्व विशुद्धि

अनन्तकाल से जन्म मरण रूप संसार में निवास करते हुए इस मोहित जीवने पुद्गलों के समागम से कभी अपने स्वरूप का आस्वादन नहीं किया और राग द्वेष आदिक मिथ्याभावों मे तत्पर रहा है। अब सावधान होकर निज आत्मा अभिरूचिरूप सुमति रानी से स्नेह रखना और परपदार्थोंमे अहंबुद्धिरूप कुमति से विरक्त होना उचित है। सुमति शतरंज के खिलाड़ी के समान पुरुषार्थ को प्रधान करती है और कुमति चौसर के खिलाड़ी के समान 'पाँसा परे सो दाव' की नीति से तक़दीर का अवलम्बन लेती है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि नीति से अपने बुद्धि बल से तथा बाह्यसाधना को संगृहीत करके उद्योग में तत्पर होने की शिक्षा दी गई है। भाग्यकी बात है, 'कर्म जैसा रस देगा वही होगा' 'भाग्य मेनहीं है' इत्यादि विकल्पसे भाग्यको रोनेका अज्ञान भाव बतलाया है, क्योंकि तक़दीर अंधी और तदबीर आंखों वाली है।

आत्मा पूर्वकर्मरूप विष वृक्षों का कर्ता भोक्ता नहीं है, इस प्रकार दृढ़ विचार रखने से और शुद्धात्म पद मे मस्त रहने से वे कर्मसमूह अपने आप नष्ट हो जाते हैं। यदि अंधा मनुष्य लंगड़ेके

ज्ञान और लंगडा अंधे के पैरों की सहायता से इच्छित स्थान को पार कर सकता है, परन्तु अंधा इकला ही रहे और लंगड़ा भी उस से अलग रहे तो वे दोनों इच्छित क्षेत्र को नही पहुंच सकते और न विपत्ति पर ही विजय पा सकते । यही हाल ज्ञान और चरित्र का है । वास्तव में ज्ञान के विना चरित्र चरित्र ही नहीं है और चरित्र के बिना ज्ञान ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ के स्वरूपको कैसे पहचाना जा सकता है और चरित्र के विना स्वरूप मे विश्राम कैसे मिले ? इससे स्पष्ट है कि ज्ञान और वैराग्यका जोड़ा है । मात्र क्रिया मे लीन होने की महिमा जैन मे नहीं गाई है । उसे "करनी हित करनी सदा मुकति वितरनी नाहिं" कहा है । इस लिये ज्ञानी लोग ज्ञान गोचर और ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करते हैं ।

इसके अनन्तर यह भी ज्ञेय है कि ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है, जब वह ज्ञेय को ग्रहण करता या जानता है तब उसकी परिणति ज्ञेयाकार होती है, क्योंकि ज्ञान सविकल्प है, दर्शन के समान निर्विकल्प नहीं है । अर्थात् ज्ञान ज्ञेय के आकार आदिका विकल्प करता है कि यह छोटा-बड़ा-सीधा-वक्र-ऊंचा-नीचा-गोल त्रिकोण-मीठा-कड़वा-साधक-बाधक-हेय और उपादेय इत्यादि है परन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है ज्ञेय का ज्ञायक होने से या ज्ञेयाकार परिणमन होने से ज्ञेयरूप नहीं होता है परन्तु ज्ञान मे ज्ञेय की आकृति प्रतिविम्बित होने से या उस मे आकार आदिका विकल्प होने से अज्ञानी लोग ज्ञान का दोष समझते है और कहते है कि जब यह ज्ञान की सविकल्पता मिट जायगी अर्थात् आत्मा शून्य [जड़] सा हो जायगा तब ज्ञान निर्दोष होगा, परन्तु 'वस्तुस्वभाव मिटै नहीं क्यों ही' की नीतिसे उनका विचार मिथ्या है । बहुधा

देखा गया है कि हम कुछ-न कुछ चिंतन किया ही करतें हैं, उस से खेद खिन्न हुआ करते हैं और चाहते हैं कि यह चिंतन न हुआ करे। इसके विषय मे यह अनुभव सिद्ध है कि चेतयिता चेतन तो चेतनारूप ही रहता है। चेतता था और चेतता रहेगा, उसका चेतना स्वभाव मिट नहीं सकता। 'इस से खेद करे शठ यों ही' की नीति से खिन्नता प्रतीत होती है, अतः चिंतन-धर्म-ध्यान और मन्दकषायरूप साधन का आश्रय लेना चहिये, इस से शान्तिकी प्राप्ति होती है, तथा स्वभावका स्वाद मिलनेसे सांसारिक सन्ताप नहीं सता सकते इसलिये सदा सावधान रहकर इष्टवियोग अनिष्टसंयोग-परिग्रह-संग्रह आदि को अत्यन्त गौण करके निर्भय-निराकुल-निगम-निर्भेद आत्मा के अनुभव का अभ्यास करना चाहिये।

साधु

जो अनंत ज्ञानादिरूप शुद्ध-आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते है। जो पांच महाव्रतों को धारण करते है, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और ८४०:००० उत्तर गुणोंका पालन करते है वे साधु होते है।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृतिसे संयमका भार संभालना, गौके समान निस्पृह गोचर वृत्ति, पवनके समान निस्संग या सब जगह बिना रुकावट के विचरना, सूर्य के समान तेजस्वी या समस्त तत्वों का प्रकाश करना, समुद्र के समान गम्भीर, मन्दाचल सुमेरुपर्वतके समान परिषह और उपसर्गोंके आनेपर अकम्प और अडोल रहना,

चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभा-पुंज युक्त, पृथिवी के समान सब प्रकार की बाधाओं को सहना, सांपकी भांति दूसरे के बनाये हुये अनियत आश्रय बस्तीका निवास, आकाश के समान निरवलम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करना इत्यादि साधुके मुख्य साधन हैं।

साध्य-साधक

जो आत्मा की साधना करे वह साधक होता है, जिस की साधना की जाय उसे साध्य कहते हैं। मोक्ष मार्ग में ' मै साध्य साधक मैं अबाधक" की नीति से आत्मा ही साध्य और साधक है। भेद इतनाही है कि ऊंची अवस्था साध्य और नीची अवस्था साधक है इस लिये केवलज्ञानी अर्हन-सिद्ध पर्याय साध्य और सम्यग्दृष्टि श्रावक-साधु अवस्थाएँ साधक हैं।

अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी और दर्शनमोहनीय त्रयका अनुदय होने से सम्यग्दर्शन होता है सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर ही जीव उपदेश का वास्तविक पात्र होता है, वह मुख्य उपदेश तन-धन-जन आदि से राग हटाने और व्यसन तथा विषय-वासनाओं से विरक्त होनेका है जब लौकिक सम्पत्ति और विषय-वासनाओं से चित्त विरक्त हो जाता है तब इंद्र अहमिन्द्र का वैभव भी विरस और निस्सार भासने लगता है। इस लिये ज्ञानी लोग स्वर्गादिकी अभिलाषा नहीं करते, क्योंकि जहाँ तक चढ़कर "देव इक इन्द्रिय हुआ" की उक्ति के अनुसार फिर नीचे गिरता है जिसे उन्नति ही नहीं कहते हैं और जिस सुख मे दुःख का समावेश है वह सुख नहीं वरन् दुःख ही है, इस से विवेकशील स्वर्ग और नरक दोनों को समान ही जानते हैं।

इस सर्वथा अनित्य संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है कि जिस से अनुराग किया जाय। क्योंकि भोगों मे रोग, संयोगोंमें वियोग, विद्या मे विवाद, शुचिमे ग्लानि, विजयमे पराजय पाया जाता है। भाव यह है कि संसार की जितनी सुखसामग्रियाँ हैं वे सब दुःखमय हैं, इससे उदासीनता-निष्कामताकी उपासना करनी चाहिये।

स्याद्वाद

जैन धर्मके महत्वपूर्ण अनेक सिद्धान्तोंमे स्याद्वाद सबमें प्रधान है, जैन धर्म को जो भी कुछ गौरव प्राप्त है वह स्याद्वाद का है। यह स्याद्वाद अन्य धर्मों को निर्मूल करनेके लिये सुदर्शन चक्र के समान है, इस स्याद्वाद का रहस्य समझना कठिन नहीं है परन्तु गूढ़ अवश्य है, और इतना गूढ़ है कि स्वामी शंकराचार्य या स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे अजैन विद्वान् भी इसे नहीं समझ सके और स्याद्वाद का उलटा खण्डन करके जैन धर्म को बड़ा भारी धक्का पहुचा गये। इतना ही नहीं किन्तु आधुनिक कई विद्वान् भी इस धर्म पर नास्तिकता का लांछन लगाते है।

पदार्थमे जो अनेक धर्म हैं वे सब एक साथ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शब्दमे इतनी शक्ति नहीं जो कि अनेक धर्मों को एक साथ कह सके, इसलिय किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मको गौण करके कथन किया जाता है। कहा भी है कि—

जिस धर्म का जिसकी अपेक्षा कथन किया जाता है वह धर्म, जिस शब्दसे कथन किया गया है वह शब्द और उसको जानने वाला ज्ञान ये तीनों नय है। कहा भी है कि—

हमारी नित्य की बोल चाल भी नय गर्भित है, जैसे कोई जब मरणोन्मुख होता है तब उसे आश्वासन देते है कि जीव

नित्य-अमर और अजन्मा है, शरीर रूप वस्त्र का उससे सम्बन्ध है, वस्त्र के समान शरीर का परिवर्तन करता है। कभी जीव न पैदा हुआ न मरा, न उसका धन सन्तान और कुटुम्बादि से कुछ नाता है, पर यह सब जीव पदार्थ के नित्य धर्म की ओर दृष्टि देकर कहा गया है। मर जाने के अनन्तर उसीके सम्बन्धियों को सम्बोधित करके कहा जाता है कि भाइओ! ससार अनित्य है, जो जन्म लेता है वह मरता ही है, पर्यायों में परिवर्तित होना जीव का स्वभाव है। यह कथन पदार्थ के अनित्य धर्म की ओर दृष्टि रखकर कहा है। इसका विशेष स्पष्ट इस प्रकार है कि जीव के चेतना उपयोग आदि गुण हैं, नर नारकादि उसकी पर्यायें हैं। जब कोई जीव मनुष्य पर्याय से देव पर्याय मे जाता है तब मनुष्य पर्याय का व्यय [अभाव] और देव पर्याय का सद्भाव [उत्पाद] होता है परन्तु जीवन तो उत्पन्न हुआ है न मरा है यह उसका ध्रुव धर्म है बस! इसीका नाम उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य है।

वह ही जीव उत्पन्न होता है जो कि मरण भाव को प्राप्त होता है, स्वभाव से वह जीव न विनष्ट होता है और न उत्पन्न। सदा एक रूप रहता है तब कौन उपजा और विनशा है? पर्याय ही पैदा हुई है और उसीका नाश। जैसे कि देव पर्याय उत्पन्न हुई है और मनुष्य पर्याय नष्ट हुई है यह पर्यायका उत्पाद व्यय है किन्तु जीव को तो ध्रौव्यत्व ही प्राप्त है।

पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से पंचपरावर्तन रूप संसार मे भ्रमण करता हुआ यह आत्मा देवादिक पर्यायों को उत्पन्न करता है, मनुष्यादि पर्यायों का नाश करता है, तथा विद्यमान देवादिक पर्यायों के नाश का आरंभ करता है और जो विद्यमान नहीं है [illegible]यादि पर्याय उनके उत्पाद का आरंभ करता है।

नय का कथन अपेक्षित होता है और तभी वह सुनय कहलाता है यदि अपेक्षारहित कथन किया जाय तो वह नय नहीं कुनय है। ये नय परस्पर अपेक्षा सहित हों तब तो सुनय है और वे ही जब अपेक्षा रहित ग्रहण किये जायँ तब दुर्नय हैं। सुनय से सब व्यवहार की सिद्धि होती है।

अन्य मतावलंबी तो जीव पदार्थ के एक ही धर्म पर मस्त हैं इसलिये उन्हें 'मतवारे' समझा जाता है।

सिद्ध

सिद्ध-निष्ठित सम्पन्न कृतकृत्य और सिद्ध साध्य ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अनंत, अनुपम स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुख को प्राप्त किया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूप को प्राप्त है, सपूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्व गुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरम-शरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकले हुए बाण के समान विनि:-संग हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कहा भी है कि—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, सुनिर्वृत [सब प्रकार की शीतलता से युक्त] हैं, निरंजन नित्य ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अव्याबाध अवगाहन सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणों से संयुक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

जिन्होंने करने योग्य सब कार्य कर लिये हैं, अनादिकाल से बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों को प्रचण्ड ध्यान रूप अग्नि के द्वारा

भस्म कर दिया है, ऐसे कर्म प्रपंच मुक्त जीवों को सिद्ध कहते हैं। अर्हन्-परमेष्ठी चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके हैं वे भी घातिकर्म क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषण से उनके व्रत का निराकरण हो जाता है जो अनादिकाल से ही ईश्वर को कर्मों से अस्पृष्ट मानते हैं। अथवा जो शिव लोक मे पहुंच चुके हैं और वहां से लौट कर कभी न आयेंगे इस कथन से मुक्त जीवों के पुनरागमन की मान्यता का निराकरण हो जाता है। अथवा जिन्होंने आत्मीयगुणों को प्राप्त कर लिया है अर्थात् जिनकी आत्मा मे अपने स्वाभाविक अनन्तगुणों का विकास हो गया है। इस पंक्ति से उन लोगों के मत का निरसन हो जाता है जो यह मानते हैं कि 'जिस प्रकार दीपक बुझ जाने पर न वह पृथ्वी की ओर नीचे जाता है न आकाश की ओर ऊपर जाता है न किसी दिशा की ओर जाता है न किसी विदिशा की ओर ही, किन्तु तेल के क्षय होने पर केवल शान्ति अर्थात् नाश को ही प्राप्त होता है। इसी भांति मुक्तको प्राप्त होता हुआ जीवभी न नीचे भूतलकी ओर ही जाता है, न ऊपर नभस्तल की ओर, न किसी दिशा और विदिशा की ओर ही जाता है, किन्तु स्नेह अर्थात् रागपरिणति के नष्ट हो जाने पर केवल शान्ति अर्थात् नाश को ही प्राप्त होता है। [अनन्त] जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते है। अथवा अन्त शब्द सीमावाचक है इसलिये जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते है। अथवा अनन्त पदार्थों के जानने वाले को भी अनन्त कहते है। अथवा अनन्त कर्मों के अंशों के जीतने वाले को भी अनन्त कहते है या अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त होने के कारण भी अनन्त । [अनिन्द्रिय] जिसमें इन्द्रियें न हों उसे अनिन्द्रिय कहते

हैं। इन्द्रियां अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशा मे पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अर्हन् परमात्मा छद्मस्थ दशा को उल्लंघन करके केवल ज्ञान से विभूषित है इसलिये वे अनिन्द्रिय है। भावेन्द्रियों की तरह इन दोनों परमात्माओं के भाव मन नहीं पाया जाता, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान मे क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव है। अथवा हमारे इन्द्रिय जन्य ज्ञान से वे नहीं जाने जा सकते। अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियों के अगोचर हैं। साथ ही सिद्ध और अर्हन् निर्दोष होने के कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं। वास्तव मे निन्दा उसीकी की जाती है जिसमे किसी प्रकार के दोष पाये जाते हैं, जिसका आचरण औरों के लिये अहितकर हो, परन्तु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषों से रहित होने के कारण कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता इसलिये वे अनिन्दित हैं।

[अनुपम] प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके स्वरूप निर्णय के लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर शब्दों द्वारा उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापको उपमा कहते हैं। 'उप' [उपचारसे] जो 'मा' [माप] करे वह उपमा है। उपचारसे मापने का भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमे तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार और दीप्ति तथा स्वभावादि धर्मोंमे थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा अन्य वस्तु का वास्तविक कथन तो नहीं हो सकता फिर भी उदाहरण द्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है इसलिये इस प्रक्रियाको उपमा मे लिया जाता है परन्तु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमे घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर है। सिद्ध भगवान् तो अतीन्द्रिय है। अर्हन [सिद्ध] का शरीर इन्द्रियगोचर होते हुये भी उनको पुनीत आत्माका हम

संसारी लोग इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं करसकते इसलिये उपमा द्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अर्हन् परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ समीप भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो समीपका अर्थात् उसका ठीक बोध कराने वाला होना चाहिए-परन्तु संसारमें एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अर्हन् परमेष्ठीके स्वरूप की तुलना कर सकें, इसलिए वे अनुपम हैं। [आत्मोत्पन्न सुख] जिसके द्वारा आत्मा शान्ति-सन्तोष या आनन्दका चिरकाल तक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल-स्पर्शमें विविधरस परिपूर्ण उत्तम सुस्वादु भोजनके स्वादमें, वायुमंडलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प-इत्र-तैल आदि सुगंधित पदार्थोंके सूंघनेमे, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवणसुख-कर सगीतोंके सुननेमे और चित्तमे प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेकप्रकार के विषयोंके चिन्तन मे आनन्द का अनुभव करता है और उस से अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमे देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कहसकते। सुख जिसे कहना चाहिए वह तो आकुलता के अभावमे ही उपलब्ध हो सकता है परन्तु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमे आकुलता देखीजाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है इसलिए आकुलता होती है। दैववशात् उक्तसामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिए उसे अपने अनुकूल परिणत करनेके लिए चिन्ता करनी पड़ती है। इतना कुछ करनेपर भी उस सामग्री

से उत्पन्न सुख चिरस्थायी नहीं रहता, क्योंकि इस संसार में प्राणी और उसका सुख अनित्य है। फिर इस सुखमें रोग-शोक-इष्टवियोग अनिष्ट संयोग आदि निमित्तोंसे सदैव सैंकड़ों बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुःखकर होजाती है। यदि इतनेसे ही बस होता तो भी ठीक था, पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमे सुखकी सामग्री परिमित है और उसके अभिलाषी ग्राहक असख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकता से अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थरूपसे देखा जाय तो वह औरोंके न्यायप्राप्त अशको छीनता है, इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आरम्भादि निमित्तोंसे अनेक जीवोंकी हिसा करने के अनन्तर ही तो उपलब्ध होता है अतः कर्मबन्धका कारण भी है, यही कारण है कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुख यथार्थमे दुःख ही हैं। किन्तु जो आनन्द-शान्ति अर्थात् बाह्य पदार्थों की अपेक्षा न करके केवल आत्मा से उत्पन्न बाधा रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित होकर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है। दूसरों के अधिकार न छीनने के कारण पाप का बीज भी नहीं है उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मोत्पन्न-अनन्तसुख सिद्ध और अर्हन मे ही संभव है अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

[अनवद्य] अवद्य पाप या दोष को कहते हैं। गुणस्थान क्रमसे आत्माके क्रमिक विकासको देखते हुये यह भलीभाँति समझमे आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि मार्गपर अग्रसर होजाता है त्यों त्यों ही उसमें मोह-राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-मत्सर-तृष्णा आदि विकार परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती जाती है। यहां तक कि एक समय वह आ जाता है

जब वह उन समग्र विकारों से बिल्कुल रहित हो जाता है, इसी अवस्था को अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

अन्य दृष्टिभेदों की अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टिभेदको दुर्नय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है परन्तु वह बोध केवल पक्ष ग्राही रहता है। इससे प्राणिमात्र किसी पदार्थकी समीचीनता का अनुभव नहीं कर सकते। इसलिये इसके द्वारा पदार्थ को जानकर भी उसके विषयमें जानने के लिए अन्धप्राय: ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टिभेदसे पदार्थ जितने अंशमे प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहीं है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ है और वह दृष्टिभेद पदार्थके उन अंशों की अपेक्षा ही नहीं करता है बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थ की समग्रता समझलेता है अतएव वह दृष्टिभेद पदार्थका प्रकाशक होकर भी अन्धकारके समान है। इसी दृष्टि को सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदों की अपेक्षा रहित एक दृष्टिभेदको दुर्नय तिमिर संज्ञा दी है। इसे सिद्ध और अर्हन् परमेष्ठी ने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा कोई दृष्टिभेद नहीं है जिसका समन्वय न होता हो, अर्थात उसमें सभी दृष्टिभेदोंका समन्वय होजाता है अतएव वह पदार्थ का पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने के समय जैसे अंधेरा भाग जाता है उसी प्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभापुंजके सामने वे दृष्टियाँ नहीं ठहर सकतीं। अत एव केवलज्ञान भूषित सिद्ध और अर्हन् अशरीर और सशरीर सिद्ध होते हैं और केवलज्ञान की प्रभासे 'दुर्नय नामक तमको जीतने वाले, इस विशेषण से समृद्ध हैं।

[जिन] मोह या मिथ्यात्व आत्मा का सबसे अधिक अहित करने वाला है। इसके वशमे होकर ही यह जीव अनादिकाल से आत्मस्वरूप को भूलकर संसारमे भटक रहा है। जब इस जीव को उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे स्व-पर-हितका बोध करके आत्मकल्याण की ओर इसकी प्रवृत्ति होने लगती है, परिणामोंमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-प्राप्त अधिकारों को छीननेसे ग्लानि करता है, उसके पहले बांधे हुए कर्म हल्के होने लगते हैं। तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है; सांसारिक कार्योंको करते हुये भी उनमें उसे स्वभावत: अरुचिका अनुभव होने लगता है। तव कहीं समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शन के सन्मुख हो रहा है, फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये है वे सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमे समर्थ अधःकरण-अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके बिना नहीं; क्योंकि इन परिणामोंमे ही मिथ्यात्व के नष्ट करने की सामर्थ्य है। इस तरह जब यह जीव अधःकरण रूप परिणामों को उल्लंघन करके अपूर्वकरणरूप शुद्ध परिणामों को प्राप्त होता है तब 'यह जिनत्वकी पहली सीढ़ी पर है' इस प्रकार जानना चाहिये। यहीं से जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेता है उसे जिन कहते हैं; इस व्याख्याके अनुसार जिनत्व का प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे ही जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता है और बारहवें गुणस्थानके अन्तमे जब यह जीव समस्त घातिया-कर्मोंको नष्ट कर

देता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त होता है इसे शरीरयुक्त सिद्ध भी कहते है। और १४ वें गुणस्थान को लांघकर अशरीरी सिद्ध होनेपर समस्त कर्मोंसे रहित हो जाते है।

संज्ञी

जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसको 'संज्ञ' कहते है अर्थात् मन कहते हैं। वह मन जिसमे पाया जाय उसे सज्ञी कहा जाता है। काई आशंका करे कि यह लक्षण एकेन्द्रियादिक मे चला जायगा इसलिये अतिप्रसंग दोष आ जायगा किन्तु यह बात नहीं है क्योंकि एकेन्द्रियादिक मे मन नहीं पाया जाता। अथवा जो शिक्षा-क्रिया-उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं। काह भी है कि-

जो जीव मन के सहारे से शिक्षा-क्रिया-उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते है और जो इन शिक्षा आदि को ग्रहण नहीं कर सकता हो उसको असज्ञी कहते हैं।

संयम

संयमन करने को संयम कहते हैं। संयमका इस भांति लक्षण करने पर द्रव्य यम अर्थात् भाव चरित्रशून्य द्रव्यचरित्र संयम नहीं हो सकता, क्योंकि संयम शब्द मे ग्रहण किए गए 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है।

प्रश्न—यहां पर यमसे समितियों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि समितियों के न होने से संयम भी नहीं बन सकता?

उत्तर—संयम मे रक्खे गये सं' शब्द से सम्पूर्ण समितियों का ग्रहण हो जाता है।

अथवा, पांच व्रतों का धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन वचन कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पांच इंद्रियोंके विषय को जीतना सयम है। कहा भी है कि—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का धारण करना, इर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेप-उत्सर्ग इन पांच समितियों का पालना, क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायों का निग्रह करना, मन-वचन और कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पांच इंद्रियों का जय इस साधना को सयम कहते हैं।

संवर

मिथ्यात्व ही प्रबल आस्रव [कर्म के आने का छिद्र या झर्ना] है, अतः आस्रव का निरोध ही संवर कहलाता है यह संवर निर्जरा तथा अनुक्रमसे मोक्ष का कारण है। जब आत्मा स्वयं अपनी बुद्धि से अथवा श्रीगुरुके उपदेश आदि से आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान अथवा स्वभाव विभावकी पहचान करता है तब सम्यक्त्व दर्शन प्रगट होता है। स्व को स्व और परको पर जानना भेद-विज्ञान है। इसी को अपने पराये का विवेक कहते हैं। भेद-विज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करने मे साबुन सहायक है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जायें तब वह अनावश्यक समझा जाता है। यदि फिर भी साबुन पल्ले बाधे फिरे तो भाररूप है, इसी भाति सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्व-पर का विकल्प ही नहीं रहता तब भेद-विज्ञान हेय ही है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्था मे उपादेय है और

सम्यग्दर्शन निर्मल होनेपर उसका कुछ काम नहीं है ।यद्यपि भेद-विज्ञान हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है, इस लिये स्वगुण और पर गुण को परखकर पर-परिणति से विरक्त होना चाहिये और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समता भाव का आश्रय लेना चाहिये ।



आभार प्रदर्शन

"परदेशी की प्यारी बातें" नामक इस सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ के प्रकाशन के व्यय भार आदि का प्रबन्ध रावलपिण्डी की जैन ब्रादरी ने प्रसन्नता पूर्वक किया है एतदर्थ "जैन लिटरेरी लीग" जैन ब्रादरी को धन्यवाद देती है ॥

मंत्री—
श्री जैन लिटरेरी लीग
रावलपिण्डी ।